संस्कृत काव्य में नीति-तत्त्व

(Moral and Didactic Elements in Sanskrit Poetry)

राजस्थान विश्वविद्यालय की
पी-एच० डी० उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

डॉ० गंगाधर भट्ट

बाफना प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

राजस्थान विश्वविद्यालय की पी.एच.डी उपाधि के लिए
स्वीकृत शोध प्रबन्ध

प्रकाशक : बाफना प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

१९७१—७२
मूल्य : पैंतीस रुपये मात्र
आवरण : आर्टिस्ट श्री प्रेमचन्द गोस्वामी

मुद्रक : शारदा प्रिन्टर्स, जयपुर

विषय-सङ्केत

अनुक्रमणिका

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. वैदिक साहित्य

१. ऋग्वेद - सायण भाष्य
२. ऋग्वेद - पूना संस्करण - १९४६
३, सामवेद
४. अथर्ववेद - एम० पी० पण्डित द्वारा सम्पादित
५. यजुर्वेद
६. तैत्तिरीय संहिता - (सायण)
७. तैत्तिरीय ब्राह्मण - (सायण) आनन्दाश्रम प्रेस
८. ऐतरेय ब्राह्मण - आनन्दाश्रम प्रेस
९. शतपथ ब्राह्मण - सायण भाष्य
१०. बृहदारण्यकोपनिषद्
११. छान्दोग्योपनिषद्
१२. आपस्तम्ब धर्म सूत्र - हरिदत्त
१३. बौधायन धर्म शास्त्र (आनन्दाश्रम)
१४. गौतम धर्म सूत्र (आनन्दाश्रम)
१५. निरुक्त - रौस द्वारा सम्पादित
१६. माण्डूक्योपनिषद् - गौडपाद भाष्य
१७. कठोपनिषद् - शंकर भाष्य

२. वीर काव्य

१. रामायण - वाल्मीकि, सम्पादक लोकनाथ
२. रामायण - सम्पादक विश्वानन्द
३. रामायण - मद्रास प्रकाशन १९५८
४. महाभारत - व्यास, नीलकण्ठी व्याख्या, सम्पादक-रामचन्द्र किंजवडेकर
५, महाभारत - इण्डियन प्रेस प्रयाग
६. महाभारत - भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
७. हरिवंश - सम्पादक - रामचन्द्र किंजवडेकर

३. स्मृति ग्रन्थ

१ मनुस्मृति - मनु (निर्णयसागर प्रेस)
२. नारद स्मृति
३ पाराशर स्मृति - (बम्बई सस्कृत सीरीज)
४ याज्ञवल्क्य स्मृति - (मिताक्षरा)
५ याज्ञवल्क्य स्मृति - (पूना प्रकाशन)
६. बृहस्पति स्मृति
७ कामसूत्र - वात्सायन
८ शुक्र नीति सार - अन्नम भट्ट

४. पुराण साहित्य

१ अग्नि पुराण - (आनन्दाश्रम प्रेस)
२ भागवत पुराण - श्रीधरी टीका
३ ब्रह्म पुराण - (आनन्दाश्रम)
४. वायु पुराण - (आनन्दाश्रम)
५. कालिका पुराण - (वेंकटेश्वर प्रेस)
६, विष्णु पुराण
७. मत्स्य पुराण
८. श्रीमगद्भवद्गीता - गीता रहस्य (दोनों भाग) - तिलक
९ पद्म पुराण
१०. बाल रामायण

५ बौद्ध साहित्य

१. धम्मपद
२. जातक - भदन्त आनन्द कौसल्यायन
३, मज्झिम निकाय
४. थेरीगाथा
५ विनय पिटक

६. काव्य ग्रन्थ

१ कुमार सम्भव - कालिदास
२, रघुवश - कालिदास
३. सौन्दर नन्द - अश्वघोष

४ बुद्ध चरित - अश्वघोष
५. किरातार्जुनीय - भारवि
६. भट्टी काव्य - भट्टी
७ जानकी हरण - कुमारदास
८ शिशुपाल वध - माघ
९' हरविजय - रत्नकार
१० नैषधीय चरित - श्रीहर्ष
११ गाथा सप्तशती - हाल
१२ ऋतुसहार - कालिदास
१३. मेघदूत - कालिदास
१४. पद्मानन्द महाकाव्य - अमर चन्द
१५. चन्द्रप्रभ चरित - वीरनन्दी
१६ शृगार शतक - भर्तृहरि
१७ वैराग्य शतक - वही
१८. नीति शतक - वही
१९. अमरु शतक - अमरु
२० चोर पञ्चाशिका - विल्हण
२१. पवनदूत - धोयी
२२ आर्या सप्तशती - गोवर्धनाचार्य
२३. आर्या शतक - अप्पय दीक्षित
२४. गीत गोविन्द - जयदेव
२५. मीरा लहरी - पडिता क्षमाराव
२६. पीयूष लहरी - जगन्नाथ
२७. गङ्गा लहरी - वही
२८ अमृत लहरी - वही
२९. भ्रमर सन्देश - महालिङ्ग शास्त्री
३०. मयूर सन्देश - उदय
३१. मनोदूतम् - विष्णु दास
३२. हस दूतम - वामन भट्ट
३३. नेमिदूतम् - नेमिनाथ
३४. मेघ सन्देश
३५. प्रह्लाद चरित - परीक्षित गान्धी

३६ साहित्य वैभवम् - मथुरानाथ शास्त्री
३७. गिरिधर सप्तशती - गिरिधर शर्मा
३८ लीला लहरी - विद्याधर शास्त्री
३६. भाव चषक - सदाशिव डांगे
४०. विक्रमाङ्कदेव चरित - विल्हण
४१. राज तरङ्गिणी - कल्हण - आर० एस० पण्डित
४२. चम्पूरामायण - भोजराज
४३. नल चम्पू - त्रिविक्रम
४४. यशस्तिलक चम्पू - सोमदेव
४५. दश कुमार चरित - दण्डी
४६. वासवदत्ता - सुबन्धु
४७. हर्ष चरित - बाण भट्ट
४८. कादम्बरी - वही
४६ शिवराज विजय - अम्बिकादत्त
५०. प्रबन्ध मञ्जरी -हृषीकेश शास्त्री
५१. ग्राम ज्योति - क्षमाराव
५२. कथापञ्चकम् - वही

७. नाटक

१. दूतकाव्य - भास
२. कर्णभार - वही
३. दूतघटोत्कच - वही
४. उरुभङ्ग - वही
५ मध्यम व्यायोग - वही
६. पञ्चरात्र - वही
७ अभिषेक नाटक - वही
८. वाल चरित - वही
६. अविमारक - वही
१०. प्रतिमा नाटक - वही
११. प्रतिज्ञा यौगन्धरायण - वही
१२ स्वप्न वासवदत्त - वही
१३. चारुदत्त - वही

१४. मृच्छकटिक - शूद्रक
१५. मालविकाग्निमित्र - कालिदास
१६. विक्रमोर्वशीय -वही
१७. अभिज्ञान शाकुन्तल - वही
१८. शारिपुत्र प्रकरण - अश्वघोष
१९. प्रिय दर्शिका - हर्ष
२०. रत्नावली - वही
२१. नागानन्द - वही
२२. महावीर चरित - भवभूति
२३. मालती माधव - वही
२४. उत्तर राम चरित[1]- वही
२५. मुद्रा राक्षस - विशाख दत्त
२६. वेणी सहार - भट्ट नारायण
२७. अनर्घ राघव - मुरारि
२८. हनुमन्नाटक - दामोदर मिश्र
२९ कर्पूर मञ्जरी - राजशेखर
३०. कुन्दमाला - दिङ् नाग
३१ प्रबोध चन्द्रोदय - कृष्ण मिश्र
३२. प्रसन्न राघव - जयदेव
३३. नाट्य शास्त्र - भरतमुनि (पूना संस्करण)
३४. दशरूपक - धनञ्जय

८ आख्यान साहित्य

१. पञ्चतन्त्र - विष्णु शर्मा
२. हितोपदेश - नारायण
३. बृहत्कथा मञ्जरी - क्षेमेन्द्र
४. कथासरित्सागर - सोमदेव
५. वेताल पञ्चविंशतिका
६. सिंहासन द्वात्रिंशतिका
७. शुक सप्तति
८. भोज प्रबन्ध - बल्लाल सेन
९. चोर पञ्चाशिका - बिल्हण

९. काव्य शास्त्र

१. काव्य प्रकाश - मम्मट
२. काव्य मीमासा - राज शेखर
३. काव्यादर्श - दण्डी
४ ध्वन्यालोक - आनन्दवर्धन
५. साहित्य दर्पण - विश्वनाथ
६. रस गगाधर - जगन्नाथ
७ भारतीय साहित्य शास्त्र - बलदेव
८ भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका - नगेन्द्र

१० इतिहास एवं समालोचना

१ सस्कृत साहित्य का इतिहास - कीथ
२ सस्कृत साहित्य का इतिहास -- बलदेव
३ सस्कृत साहित्य की रूपरेखा - पाण्डे
४. सस्कृत साहित्येतिहास - हसराज अग्रवाल
५. History of Sanskrit Literature by De and Das Gupta.
६ History of Sanskrit Literature by Krishnamachri
७ History of Sanskrit Literature by macdonell
८ History of Indian Literature Vol, I by winternitz
९, Sanskrit Drama - Keith
१०, Cambridge History of India
११, History of civilisation in ancient India - R Dutt
१२. Some preblems of Indian Literature - M. winternitz,
१३. Indus Civilisation,
१४, History of Dharma Shastra by P, V, Kane
१५, वैदिक साहित्य – रामगोविन्द
१६. हिन्दू सभ्यता – राधा कुमुद मुकर्जी
१७ महाभारत की समालोचना - सातवेलकर
१८. कवि और काव्य - बलदेव उपाध्याय
१९ कालिदास - चन्द्रबली पाण्डेय
२०. कालिदास का भारत - भगवत् शरण
२१. भारतीय विचार धारा - मधुकर

२२. भारतीय दर्शन की रूपरेखा - डा० उमेश
२३ भारतीय दर्शन - बलदेव उपाध्याय
२४ भारतीय समाज शास्त्र का मूल आधार - डॉ० फतहसिंह
२५. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति - G H Ojha
२६ The Postion of wemen in Hindu civilisation - Dr A S. Altekar
२७ Hindu Polity - K. P Jayaswal.
२८. भारतीय परम्परा और इतिहास - राङ्गेय राघव
२९. India as known to panini - Dr. Vasudev Sharan Agrawal
३०. आर्य संस्कृति - बलदेव उपाध्याय
३१. रामायण कालीन संस्कृति - शान्तिकुमार नानूराम व्यास
३२ रामायण कालीन समाज - वही
३३. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन - डा० देवराज
३४ The Religion of the Ramayan - चिन्तामणि विनायक वैद्य
३५. Evolution of Hindu Moral Ideas - Aiyer Sir Shive Swani
३६ Lectures on the Ramayan - Shriniwas Shastri

११. नीतिग्रन्थ

१. कौटिल्य अर्थ शास्त्र - उदयवीर शास्त्री
२. चाणक्य नीति
३ धौम्य नीति
४. नीति मञ्जरी
५. नीति शतक - भर्तृहरि
६ शुक्र नीति

१२ पत्र पत्रिका एवं कोश ग्रन्थ

१. Bhaudarkar Commemoration Volune.
२. Encyclopaedie of Religion and Ethics - J. M. Hestings
३ Practical Sanskrit English Dictionray - वामन शिवाराम आप्टे
४ A Classical Dictionary of Hindu Mythology - डाउसन
५ अमर कोष

निवेदन

सस्कृत काव्य मे नीति धारा अत्यन्त लोकप्रिय रही है किन्तु सस्कृत वाड्मय के अध्येताओ का ध्यान अभी तक इस ओर नही गया था। इस क्षेत्र मे जो भी कार्य किया गया है वह प्रस्तुत विषय की व्यापकता एव गहनता की तुलना मे अपर्याप्त है। प्रस्तुत प्रबन्ध के रूप मे नीति धारा का प्रथम अध्ययन सस्कृत काव्य जगत् के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है। नीति परम्परा की पृष्ठ भूमि, विविध स्रोत, काव्य मे नीति का स्थान, उसमे वर्णित भारतीय सस्कृति, दार्शनिकता आदि का सम्यक् निरूपण कर उन अभावो की पूर्ति की दिशा मे यह प्रयास मात्र है।

प्रस्तुत प्रबन्ध अध्ययन की दृष्टि से प्रारम्भिक सा है। इच्छा होते हुए भी, प्रबन्ध की सीमाओ को ध्यान मे रखने से अनेक उपयोगी तथ्यो एव महत्त्वपूर्ण विवेचनो को प्रस्तुत अध्ययन मे सम्मिलित नही किया जा सका है। इसके अतिरिक्त कुछ एक तत्त्वो पर सामान्य विवेचन ही प्रस्तुत किया जा सका है तथा कही कही किसी विषय की ओर सकेत मात्र ही सम्भव हो सका है। लेखक, नीति धारा के वैज्ञानिक, विवेचनात्मक एव क्रम बद्ध अध्ययन के प्रस्तुत करने की ओर अवश्य प्रयत्नशील रहा है। विषय की सीमा मे जितना व्यापक एव गहन अध्ययन सम्भाव्य था, उसका उपस्थापन करना यहाँ लक्ष्य रहा है।

पी–एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत इस शोध प्रबन्ध का शीर्षक है, 'सस्कृत-काव्य मे नीति एव उपदेशात्मक तत्त्व' परन्तु अध्ययन केवल नीति तत्त्व तक ही सीमित रखा गया है। सामान्यत. उपदेशात्मक तत्त्व नीति-तत्त्व के अन्तर्गत ही समाविष्ट हो जाता है।

यह शोध प्रबन्ध पाँच परिच्छेदो मे विभक्त है।

प्रारम्भ मे प्राक्कथन के रूप मे प्रस्तुत विषय के अध्ययन की आवश्यकता, उपयोगिता एव विषय की परिधि पर प्रकाश डाला गया है।

इसी के अगले भाग 'आमुख' मे नीति शब्द के धात्वर्थ, व्यापक अर्थ तथा अन्य ग्रन्थो मे दिये गए अर्थों के परीक्षण के अनन्तर उसकी सम्भावित परिभाषा के निर्धारण का प्रयास किया गया है। इसके अनन्तर काव्य के स्वरूप का विवेचन

करते हुए उसमे नीति के स्थान का विवेचन किया गया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट के अनुसार 'व्यवहारविदे एव उपदेश युजे' को काव्य प्रयोजन एव प्रस्तुत अध्ययन के आधार के रूप मे समाहृत किया गया है। काव्य मे रस की प्रधानता के होते हुए भी नीति की कभी अवहेलना नही की गयी। काव्य मे नीति का बाहुल्य उसमे शिव एव सुन्दर तत्त्व के समुचित सामञ्जस्य को ही प्रतिष्ठित करता है।

सस्कृत काव्य मे नीति तत्त्व की विविधता, व्यापकता एव बहुरूपता का निरूपण करते हुए उन मूलभूत प्रवृत्तियो एव प्रेरणाओ का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जो सस्कृत काव्य की जीवनधारा रही है, जिनसे समस्त सस्कृत साहित्य अनुप्राणित है एव जिनका सर्वाङ्गीण स्वरूप काव्यो मे बिखरा हुआ उपलब्ध होता है।

आगे, नीति के उदय एव विकास तथा उसके वर्गीकरण की ओर सकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त नीति काव्य के काव्यत्व एव उनके पारस्परिक सम्बन्ध की ओर भी दृष्टि रखते हुए नीति तत्त्वो का सामान्य दृष्टि से विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम परिच्छेद मे, पृष्ठभूमि के रूप मे, पूर्ववर्ती वैदिक वाङ्मय मे उपलब्ध नीति का उदय, विकास एव सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है।

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत चारो वेदो, ब्राह्मणो, उपनिषद् ग्रन्थो वेदाङ्गो एव उपवेदो मे प्रतिपादित नीति तत्त्वो पर यहाँ सिंहावलोकन किया गया है। इसके अतिरिक्त लौकिक सस्कृत के अन्तर्गत स्मृति, पुराण तथा नीति ग्रन्थ आदि पर नीति की दृष्टि से सक्षेप मे विचार किया गया है।

नारी के सामाजिक स्तर पर विचार करते हुए वैदिक साहित्य मे उपलब्ध नारी पर विभिन्न धारणाओ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक युग की समस्त गतिविधियो से परिचित होने एव उनके आधार को समझने मे यह अध्ययन एक नवीन प्रयास है।

द्वितीय परिच्छेद मे सस्कृत काव्य के प्रतिपाद्य नीति सम्बन्धी विषयो मे आचार एव व्यवहार पक्ष को लेकर परिवार, समाज, वर्णाश्रम व्यवस्था आदि विविध विषयो से सम्बन्धित नीति की उक्तियो के द्वारा भारतीय धारणाओ, मान्यताओ एव दृष्टिकोणो को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है।

मानव की सामाजिकता निसर्ग-सिद्ध है। समष्टि मूलक मानव जीवन मे पारस्परिक सम्पर्क एव सहयोग नितात अपेक्षित माना जाता है। मानव का आचार

सम्बन्धी एव व्यावहारिक ज्ञान इस सामाजिक प्रवृत्ति को सुन्दर एव सफल बनाने मे सार्थक होता है।

जीवन के विकास के साथ ही साथ नीति का भी स्वत. विकास हुआ है। यही कारण है कि जीवन के वैविध्य के अनुरूप ही नीति की उक्तियो मे विविधता के दर्शन होते हैं। नीति के सार्वकालिक महत्त्व के साथ ही स्थान, देश, काल, पात्र के कारण उसमे यथा समय परिवर्तन एव विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। नीति के विभिन्न स्वरूपो एव कभी-कभी विरोधी स्वरूपो को प्रस्तुत करने की दिशा मे यह प्रथम प्रयास है।

तृतीय परिच्छेद मे नारी समाज एव नैतिक आदर्श के रूप मे नारी का स्वरूप, उसका सामाजिक स्तर एव उसके विविध रूपो को क्रमबद्ध अध्ययन के रूप मे प्रस्तुत करना यहाँ प्रमुख लक्ष्य रहा है। पुरुष की सहयोगिनी, गृहस्थ की प्राण, मित्र के समान परामर्शदात्री, गृहलक्ष्मी आदि नामो समादृत की जाने वाली भारतीय नारी के विविध स्वरूपो एव पक्षो के निरूपण से नारी विषयक नैतिक आदर्शो का रूप वैविध्य प्रस्तुत करने का यह एक प्रयास मात्र है। साथ ही पति-पत्नी, सन्तति आदि महत्त्वपूर्ण विषयो पर भी सामान्य अध्ययन यहाँ उपलब्ध हो सकता है।

चतुर्थ परिच्छेद का प्रमुख लक्ष्य राजनीति सम्बन्धी विवध पक्षो का सम्यक् निरूपण करना है। राजा का स्वरूप, उसके कर्त्तव्य एव दायित्व, शासन व्यवस्था, युद्धनीति, राजा एव प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध, शत्रु एव मित्र आदि राज्य से सम्बन्धित विषयो पर विवेचनात्मक अध्ययन इस परिच्छेद मे प्रस्तुत किया गया है। साथ ही राजनीति के नाना विविध सिद्धान्तो के प्रतिपादन की दिशा मे भी सकेत किया है।

धर्म प्राण भारत देश की राजनीति भी धर्म के विविध सिद्धान्तो से सकलित है। यही कारण है कि भारतीय युद्ध नीति मे सर्वत्र युद्ध का आधार नैतिक नियम है।

पञ्चम परिच्छेद मे धर्म एव दर्शन के अन्तर्गत धर्म नीति के विविध तत्त्वो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। धर्म की परिभाषा एव स्वरूप का विवेचन करते हुए ईश्वर, गुरु, आत्मा, ब्रह्म एव मोक्ष आदि विविध विषयो पर नीतिकारो का दृष्टिकोण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। साथ ही सत्य, अहिंसा जैसे विषयो पर भी विहङ्गम दृष्टिपात किया गया है।

अन्त मे, उपसहार के रूप मे, पूरे अध्ययन का निष्कर्ष सक्षेप मे दिया गया है। इसके अतिरिक्त रामायण काल से लेकर वर्तमान काल तक के समाज का

चित्रण नीति कविता के माध्यम से उपलब्ध होता है उसका यहा क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार अपने इस शोध प्रवन्ध मे, मै इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह अध्ययन मानव जीवन के विभिन्न पहलुओ पर, नीति की दृष्टि से, प्रकाश डालता हुआ नीति मे परिव्याप्त जीवन सन्देश को जगत् के समक्ष उपस्थित कर मार्ग निर्देशन करता हुआ प्रेरणा का स्रोत होगा।

अन्त मे मै, उन महानुभावो को धन्यवाद दिये विना नही रह सकता जिन्होने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इस महायज्ञ की पूर्णाहुति मे योग दिया है। उनमे सर्वप्रथम स्थान विद्वद्वरेण्य श्री प्रवीणचन्द्र जी जैन का है, जिनके तत्त्वावधान मे रहकर मैने इस कार्य को पूर्ण किया है। आपने मेरे अध्ययन का मार्ग निदश ही नही किया अपितु समय-समय पर सत्परामर्श द्वारा जटिल समस्याओ का समाधान करते हुए इस कृति के प्रणयन मे अमोध योगदान दिया है। उनके प्रति अपनी भावनाओ को व्यक्त करके उनके आभार से मुक्त नही हो सकता।

अन्त मे मैं उन सभी महानुभावो एव इष्टमित्रो को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हू, जिनकी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहायता मुझे प्राप्त हुई है तथा जिनके शुभ आशीर्वाद एव शुभ कामनाओ से यह शोध कार्य सम्पन्न हुआ।

प्राक्कथन

नीति भारतीय मनीषियो का सदा से अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। चिन्तनशील उन विद्वानो ने समय-समय पर अपने हृदय के उद्गार उपदेशो के रूप मे व्यक्त किये हैं। यही कारण है कि सस्कृत साहित्य मे नीति सम्बन्धी उक्तियो अथवा सूक्तियो की कमी नहीं, जिनमे मानव समाज को व्यावहारिक निर्देश देने, पतन से उठाने एव चारित्रिक अभ्युदय के प्रति अग्रसर होने के उपदेश न हो। इस विज्ञान युग मे भी रामायण एव महाभारत के नैतिक आदर्शो का गुणगान करने वाले उपदेशात्मक तत्त्वो से ओत प्रोत अनेक भाषण श्रुतिगोचर होते रहते है। आज के व्यावहारिक जगत् मे हम किसी व्यक्ति के नैतिक मूल्याङ्कन के प्रति अभिरुचि लेने लगे हैं। युग की नैतिक मान्यताएँ अपने युग तक ही सीमित नही रहती। प्राचीन आचार्यो के गहन मनन एव चिन्तन से उद्भूत उपलब्धियाँ आगे आने वाले युग के लिए भी प्रकाश स्तम्भ का काम देती है।

विषय चयन की आवश्यकता

भारतीय साहित्य के पृष्ठो पर युग के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एव चारित्रिक विषयो पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बिखरी पडी है, जो अधिकाशत सकेतो के रूप मे अनायास ही उपलब्ध हो जाती है। इस सामग्री का सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसके व्यवस्थित, सुसम्बद्ध एव सप्रमाण विवेचन की आवश्यकता है। भारतवर्ष को आज धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। सामाजिक धरातल से भी ये मान्यताएँ दिनोदिन उठती जा रही हैं। प्राचीन नैतिक-मान्यताओ के क्रमबद्ध एव विशद अध्ययन के प्रस्तुत करने का इस समय अत्यधिक महत्त्व प्रतीत होता है। धार्मिक मान्यताओ के साथ-साथ हमारी नैतिक मान्यताओ का कही ह्रास न हो जाय ? कही ये साहित्यो के पृष्ठो पर ही अवशिष्ट न रह जाये ? भारतीय मानव का यह नैतिक धरातल पाश्चात्य की भौतिक चकाचोध मे कही अपना आधार न खो बैठे ?

इन कारणो से प्रत्येक मानव के मन मे यह जिज्ञासा उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक है कि आखिर वे कौन से गुण है, जिन से समाज की व्यवस्था सुचारु रूप से सचालित की जा सके। सासारिक जटिल समस्याओ से घिरे हुए व्यक्ति को

सहज ही कर्त्तव्य एव अकर्त्तव्य का ज्ञान किस प्रकार हो ? परिवार एव समाज के प्रति व्यक्ति का कैसा आचरण हो, स्त्रियो के प्रति समाज का कैसा व्यवहार हो, प्रजा का अनुरजन किस प्रकार हो—आदि जटिल समस्याएँ प्राय चित्त को उद्वेलित करती रहती है ।

इन प्रश्नो का समाधान नीति सम्बन्धी विवेचना पूर्ण अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है ।

नीति के सामाजिक एव व्यावहारिक परिवेश के अतिरिक्त अपने वास्तविक रूप मे नीति का कुछ कम महत्त्व नही है। मनोविज्ञान के पण्डितो ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि मानव व्यवहार के निर्धारण मे मनोवैज्ञानिक कारण प्रधान रहते हैं। मानव का मानसिक जीवन उसके नर-नारियो से भरे बाह्य जगत् के बोध का समानान्तर होता है, और उस बोध के साथ ही अग्रसर होता है। इस प्रकार मानव कल्पना द्वारा दूसरे मनुष्यो की बोधात्मक एव रागात्मक प्रतिक्रियाओ से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। मनुष्यो के बीच होने वाले आत्मिक अथवा आन्तरिक आदान-प्रदान मे सर्वत्र यही प्रक्रिया दृष्टि गोचर होती है, जिसे मनोवैज्ञानिक सवेदना अथवा सहानुभूति कहा जा सकता है ।

आत्म-दमन एव अपने सुख का परित्याग, अपने समय, शक्ति, धन तथा सुख-सुविधा का बलिदान स्वय ही उच्च कोटि की नैतिकता के आवश्यक तत्त्व हैं।

इसके अतिरिक्त वर्तमान युग की सतत परिवर्तनशील व्यवस्था की गति को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करने के हेतु भी प्रस्तुत विषय के अध्ययन की आवश्यकता स्वीकार की जा सकती है। महाभारत मे वर्णित नीति शास्त्र के उद्भव विषयक कथा को ध्यान पूर्वक देखने से भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नीति शास्त्र के सर्वप्रथम रचयिता स्वय भू ब्रह्मा जी ने राष्ट्र की व्यवस्था को स्थापित करने के लिए नीति शास्त्र की रचना की। इस कथा की ऐतिहासिक सत्यता पर विचार करने का यह उपयुक्त अवसर नही तथापि इससे इस तथ्य की पुष्टि अवश्य होती है कि समाज के बढते हुए अनाचारो एव पाप-भावनाओ का उन्मूलन करने के लिए नीति की आवश्यकता का अनुभव हुआ। हमारे प्राचीन आदर्श भारतीय जनता को पथ-भ्रष्ट होने से बचा सके एव परिवर्तन के इस युग मे भी वे अपनी परम्परागत मान्यताओ के आधार पर अपना अभ्युदय कर सकें इस हेतु प्रस्तुत विषय के सम्यक् अध्ययन की आवश्यकता है ।

भारत मे नीति-सम्बन्धी अध्ययन स्वतन्त्र रूप से नीति-शास्त्र के रूप मे चिर काल से होता आया है, जो विषय की दृष्टि से विश्व साहित्य मे प्रमुख और महत्त्व-पूर्ण स्थान प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता है। इस क्रम बद्ध नीति-शास्त्र के अध्ययन के अतिरिक्त सस्कृत-साहित्य के प्राय सभी ग्रन्थो मे नीति-सामग्री उपलब्ध

होती है, जिसको एक सूत्र मे आबद्ध करने की ओर अभी तक किसी का ध्यान नही गया था। प्रस्तुत प्रबन्ध का ध्येय उस बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित करके प्रस्तुत करना है और इस प्रकार यह प्राचीन समय से चली आ रही उस कमी की पूर्ति करने की दिशा मे एक प्रयास है। भारतीयो की नीति-रीति मानव समाज के धर्म-कर्म को प्रभावित करती हुई आज भी अपने सत्य, सदाचार एव कर्त्तव्य पालन का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करती है।

इस प्रकार यह अध्ययन प्राचीन मनीषियो के अजस्र चिन्तन से उद्भूत उपलब्धियो एव अनुभूतियो को क्रमबद्ध एव विवेचनात्मक रूप मे प्रस्तुत करने की दिशा मे एक सकेत मात्र है।

हमे आशा है कि प्रस्तुत प्रबन्ध नवीन एव मौलिक उद्भावनाओ की दृष्टि से इस क्षेत्र मे भविष्य मे अनुसधान करने वालो के लिए प्रेरणा का स्रोत प्रदान करेगा। प्रबन्ध की सीमाओ को ध्यान मे रखकर जिन आवश्यक तत्त्वो पर यहाँ विचार नही किया जा सका है, यह अध्ययन, उसके गवेषण के लिए प्रेरक होगा।

प्रस्तुत प्रबन्ध का उद्देश्य नीति-तत्त्व का, उसका मूल्याङ्कन करते हुए, विश्लेषण एव निरूपण करना है। नीति एव उपदेश से भारतीय काव्य परम्परा

विषय की परिधि

पूर्णत. ओत-प्रोत है। इस उक्ति मे लेशमात्र भी अत्युक्ति नही होगी कि सस्कृत के आदि काल से आधुनिक काल तक ऐसे कवि बहुत ही कम होगे, जिनकी रचनाओ मे नीति एव उपदेश के अश बिल्कुल न हो। सस्कृत-काव्य अत्यन्त विशाल एव सुसमृद्ध हैं। सस्कृत वाङ्मय केवल भाषा का निरूपण मात्र नही, वह तो प्राचीन भारत के आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, व्यावहारिक एव राजनीतिक जीवन का ज्वलन्त निदर्शन है। लौकिक एव पारलौकिक सभी विषयो का सूक्ष्म एव विशद विवेचन होने के कारण भारतीय प्रतिभा का परम रमणीय एव इस महादेश की सहस्रो वर्षों की चिरन्तन साधना का सार रूप यह सस्कृत साहित्य अत्यन्त व्यापक एव अपूर्व है।

सस्कृत वाङ्मय मे नीति की व्यापकता का सम्यक् निरूपण प्रबन्ध की सीमा का ध्यान रखते हुए सर्वथा सम्भव प्रतीत नही होता। वैसे तो "काव्य द्विविध गद्य च पद्यञ्च च" के रूप मे गद्य एव पद्य को काव्य माना गया है। लेखन का प्रचार न होने की अवस्था मे साहित्य का मौलिक रूप मे प्रचलन अध्ययन-अध्यापन के क्रम मे गुरु एव शिष्य के लिए अत्यन्त आयास जनक था। अनुभव के आधार पर यह धारणा दृढमूल हुई की कविता अपने निर्धारित आकार-प्रकार, नियमित अक्षर आदि के कारण कण्ठस्थ करने मे अनियन्त्रित गद्य की अपेक्षा अधिक सुगम होती है। इसी वास्तविकता को लक्ष्य मे रखकर प्राचीन विद्वान् पुरुषो ने इस धारणा को

साकार रूप प्रदान किया। स्वरूप के सर्वथा अनिश्चित होने के कारण गद्य की रचना पद्य रचना की अपेक्षा कठिन होती है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्य की रचना के अपेक्षाकृत सरल होने तथा कण्ठस्थीकरण मे सुविधा होने के कारण ही साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए कविता का माध्यम स्वीकार किया गया। सस्कृत वाङ्मय मे गद्य की न्यूनता इस तथ्य की ही पुष्टि करती है। भारतीय वाङ्मय की प्रारम्भिक अवस्था मे पद्य अभिव्यक्ति का सहज माध्यम था एव गद्य प्रयत्न साध्य।

प्रस्तुत सदर्भ मे भी पद्य रचना को ही अध्ययन की सीमा मे आवद्ध करने का यही उद्देश्य है। विषय के विस्तार के भय से केवल पद्यात्मक रचना को ही अध्ययन के विषय के रूप मे ग्रहण किया हे।

समस्त सस्कृत-काव्य-साहित्य के उपजीव्य एव मूल स्रोत होने के कारण रामायण एव महाभारत को भी अध्ययन के क्षेत्र मे समाविष्ट कर लिया गया है। 'इतिहास पुराणाभ्या' के अन्तर्गत महाभारत के निर्दिष्ट होने पर भी नीति के अक्षय-कोश होने के कारण महाभारत के प्रति मोह सवरण नही किया जा सका है।

आध्यात्म से सम्बन्ध होने के कारण 'उपनिषद्' ग्रन्थो को दर्शन के अन्तर्गत मानकर उन्हे अध्ययन की परिधि मे समाविष्ट नही किया जा सका है। 'काव्येषु नाटक रम्यम्' के आधार पर काव्य का सर्वश्रेष्ठ रूप 'नाटक' को स्वीकार किया गया है। काव्य, सगीत, नृत्य, रङ्ग शोभा आदि के चित्र-विचित्र वैभव द्वारा जन समुदाय के मनोरजन एव नैतिकता के आधायक तत्त्वो को प्रस्तुत करने के कारण नाटको को भी प्रस्तुत अध्ययन की परिधि के अन्तर्गत रखा गया है।

'मुक्तक' मे विस्तार के अभाव मे व्यापकता का समावेश सम्भव नही, परन्तु उसकी एकाग्रता सहज ही तीव्रता की सृष्टि कर सकती है और काव्य के लिए व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता का कम मूल्य नही है। व्यापक जीवन का विस्तार यदि भव्य है तो स्पन्दित क्षणो की तीव्रता भी कम प्रभाव पूर्ण नही है। इस प्रकार 'मुक्तक' रचना के उच्चतर लक्ष्य-प्राप्ति के सोपान के रूप मे पुरस्कृत होने के कारण उसे भी प्रस्तुत अध्ययन के विषय रूप मे ग्रहण किया गया है।

उक्त विवेचन से यह निर्गत होता है कि प्रस्तुत प्रबन्ध की परिधि मे काव्य के प्रमुख भेदो को, जिनमे जीवन की सरल एव सुस्पष्ट अभिव्यक्ति होती है, ही परिगणित किया गया है। उनका नामोल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है।

क—प्रबन्ध काव्य

ख—मुक्तक काव्य

ग—रूपक

विषय की सीमाओ का निर्धारण करते समय यह स्पष्ट कर ... ९
काव्य की प्रमुख विधाओ प्रवन्ध, मुक्तक एव रूपक को ही प्रस्तुत प्रवन्ध का विवेच्य विषय रखा गया है, इस प्रकार प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री के स्रोत ये ही काव्य है। विभिन्न काव्य ग्रन्थो मे प्राप्त नीति-सम्बन्धी सामग्री को सुव्यवस्थित एव सुचारु रूप से प्रस्तुत करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है। 'रामायण' को नीतियो के अक्षय भण्डार के रूप मे स्वीकृत किया जा चुका है। आदि कवि वाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम महामानव राम को अपने काव्य मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है। महर्षि ने समाज को यह सिखाने का प्रयास किया है कि विभिन्न विकट परिस्थितियो के बीच मे रहकर व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है। महर्षि वाल्मीकि द्वारा आदर्श गुणो से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछने पर नारद ने अनुपम गुणो से आप्यायित राम के नर चरित्र का ही कीर्तन किया है।

सामग्री स्रोत

वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास ने भी भारतीय कवियो को काव्य सृष्टि के लिए प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्रदान की है। महाभारत की विशालता एव व्यापकता के सम्वन्ध मे व्यास जी का यह कथन कि, इस ग्रन्थ मे जो कुछ है, वह अन्यत्र है, परन्तु जो इसमे नही है वह अन्यत्र कही भी नही है–नीति के सम्वन्ध मे सर्वथा सत्य प्रतीत होता है।

सस्कृत काव्य ग्रन्थो के उपजीव्य काव्य रामायण एव महाभारत के अतिरिक्त सस्कृत-काव्य नीति की दृष्टि से अधिक सुसम्पन्न एव समृद्ध है। भारत जैसे महान् देश मे जहाँ स्वभावत अनेकानेक विचार धाराएँ हैं, विविध मान्यताएँ हैं, नाना प्रकार की धार्मिक प्रवृत्तियाँ है, उन रूढियो को नैतिकता एव मानव हित की परिधि के अन्दर शास्त्र-दृष्टि से प्रस्तुत करने का यह प्रयास मात्र है।

आमुख

सस्कृत साहित्य मे धर्म, शृङ्गार आदि की सतत् प्रवाहशील धाराओ के साथ-साथ नीति की धारा भी प्रारम्भ से ही अविरल रूप से बहती रही है। जीवन की गहन अनुभूतियो को भारत के प्राचीन मनीषियो ने काव्यमयी भाषा मे जनता के कल्याण के लिए प्रस्तुत किया है। इस प्रकार नीति भूतकाल की उपलब्धियो का सार है, एव वर्तमान युग की पथ-प्रदर्शिका है। नीति-सम्बन्धी अनेक शब्द एव पद सूक्तियो के रूप मे समाज मे प्रचलित हो गये हैं, जो आप्त-जन की तरह जटिल एव गहन समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करके समाज के लिए वरदान के रूप मे उपस्थित होते हैं। सकटावस्थ मानव को ये लोकोक्तियाँ बन्धु-जन की भाँति उचित मार्ग के अनुसरण की प्रेरणा देती है। आचार-सम्बन्धी इन नीति की उक्तियो के महत्त्व को जितना प्रतिपादित किया जाय उतना ही कम होगा। सरस्वती की आराधना करने वाले उन प्राचीन मनीषियो ने अपनी अगाध अन्तश्चेतना एव मनन के द्वारा उपलब्ध जीवन की गहन अनुभूतियो को समाज के लिए नीति के रूप मे प्रस्तुत करने का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आदर्श जीवन भारत की सदैव आधारशिला रही है। जीवन के शिव एव सुन्दर-रूप अक्षुण्ण आदर्श सदैव भारत के विद्वानो के समक्ष रहे है। समय-समय पर दृष्टि पथ मे आने वाले दूषित कृत्यो एव भावनाओ के विरुद्ध अपने विचार व्यक्त करने मे उन्होने कभी सकोच नही किया। यही कारण है कि यत्र-तत्र-सर्वत्र नीति की सूक्तियाँ अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाती है। जीवन के दोनो पहलुओ की ओर उनका सदैव ध्यान रहता था। उनकी सदैव अभिलाषा रहती थी कि समाज के दोषो एव दुर्भावनाओ को दूर किया जाय तथा उनके स्थान पर गुणो का उन्नयन हो।

विषय प्रवेश

यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करते हुए वे समाज के उन्नायक-तत्वो के प्रति कभी विमुख नही होते थे। यही कारण है कि भारत ने सदैव चरित्र की शिक्षा प्रदान की है। यहाँ के विद्यालयो एव विश्वविद्यालयो मे आकर विदेश से छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे।[1] मनीषियो की वे अमर उक्तियाँ प्रत्येक व्यक्ति को दु ख

---

१ "एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन ·
स्व स्व चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वे मानवा ।" मनुस्मृति, २,२०

एव सुख मे उचित मार्ग के अनुसरण की ओर इङ्गित करती है तथा उसे कुपथ से हटाकर हितकारी मार्ग की ओर प्रेरित करती हैं। इस क्षेत्र मे भारतीयो के नैतिक अध्ययन एव विवेचन के महत्त्व को प्राय सभी लब्ध-प्रतिष्ठ प्राच्य एव पाश्चात्य विद्वानो ने स्वीकार किया है।

नीति की व्याख्या

नीति का अर्थ करने से पूर्व इस शब्द की व्युत्पत्ति की ओर ध्यान देना चाहिए। नीति शब्द 'णीञ् प्रापणे' धातु से सम्पन्न हुआ है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है 'लेजाना'। धातु की दृष्टि से नीति उसे कहा जा सकता है, जो ले जाने वाली हो, अर्थात् जो मानव को उचित मार्ग का प्रदर्शन करे, वही नीति हुई।

यह नीति की शाब्दिक परिभाषा हुई। वस्तुत मनुष्य को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करना ही नीति का प्रमुख लक्ष्य माना गया है। मानव-जीवन अत्यन्त विशाल एव गहन होता है तथा उसकी उतनी ही दिशाएँ एव विविधता मानव के मार्ग को कण्टकाकीर्ण किये रहती है। चाहे कोई क्षेत्र हो—सामाजिक हो, आध्यात्मिक हो अथवा चारित्रिक, नीति की सर्वतोमुखी धाराओ के प्रवाहशील होने के कारण इसके विविध सोपान दृष्टिगोचर होते है। अत व्यापक अर्थ मे नीति की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि जो मानव की सर्वतोमुखी उन्नति को पीठिका प्रस्तुत कर उसे सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिए उसका मार्ग-दर्शन करती हो वह नीति है। समाज मे रहकर मनुष्य का कैसा आचरण होना चाहिये ? किन गुणो से वह आदर एव सम्मान प्राप्त कर सकता है तथा कौन से दुराचरण उसके पतन का कारण बन सकते हैं आदि की शिक्षा देना ही नीति का प्रधान उद्देश्य माना जा सकता है।

नीति की परिभाषा

सस्कृत साहित्य मे नीति के स्वरूप एव परिभाषा के सम्बन्ध मे अन्त साक्ष्य अथवा वहि साक्ष्य के आधार पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुछ सामग्री उपलब्ध होती है, उसको प्रस्तुत करना यहाँ सगत होगा। उन तथ्यो के आधार पर नीति के स्वरूप को स्थिर करने एव नीति के अर्थ को स्पष्ट करने मे सहायता प्राप्त होगी।

सर्व प्रथम इस सम्बन्ध मे महाभारत मे प्रतिपादित तथ्यो का विवेचन ही समीचीन होगा। महाभारत को नीति का अक्षय-भण्डार माना गया है। युधिष्ठिर के द्वारा पूछे जाने पर भीष्म ने नीति-शास्त्र के उद्भव की ओर सकेत किया है। भीष्म ने कहा है[१] कि सृष्टि के आरम्भ मे न कोई राजा था और न कोई दण्ड।

---

१ महाभारत—शान्ति पर्व—५९ सर्ग

समस्त प्रजाजन धर्म के सहारे एक दूसरे की रक्षा करते थे, परन्तु कुछ ही समय के पश्चात् मनुष्यो मे धर्म का लोप हो गया उनकी विवेक शक्ति क्षीण शक्ति हो गयी तथा उनके पाप-पथ पर चलने के कारण ससार मे हाहाकार मच गया। इस परिस्थिति से सन्त्रस्त होकर देवगण ब्रह्मा के पास गये और उन्होने ससार मे बढती हुई इस अनाचारिता के सम्बन्ध मे उनसे निवेदन किया। ब्रह्मा जी ने विश्व को सन्मार्ग पर लगाने के हेतु एक नीति-शास्त्र की रचना की, जिसमे एक लाख अध्याय थे। ब्रह्मा जी ने कहा कि इस नीति-शास्त्र के अध्ययन से लोक रक्षा करने का ज्ञान उत्पन्न होगा। समाज मे व्यवस्था स्थापित करने तथा प्रजा को सुख और शान्ति प्रदान करने का महान् कार्य इससे सम्पन्न होगा। परन्तु अत्यन्त विशालकाय होने तथा प्रजावर्ग की अल्प आयु को ध्यान मे रखकर शिव ने 'वैशालाक्ष' नाम से इसका सक्षिप्त सस्करण तैयार किया। इन्द्र को भी यह बडा लगा तो उन्होने 'बाहुदन्तक' नाम का पाच हजार अध्याय वाला और सक्षिप्त सस्करण कर डाला। वृहस्पति ने इसका और लघु सस्करण 'बार्हस्पत्य' नाम से प्रस्तुत किया। महर्षियो ने आयु का ह्रास देखकर उसका क्रमश सक्षिप्त रूप कर दिया। योगाचार्य शुक्र ने उसे और भी सक्षिप्त कर डाला तथा 'शुक्रनीति' नाम से एक हजार अध्यायो का नीति-शास्त्र रच डाला।

इस प्रसङ्ग के औचित्य एव सत्यता के सम्बन्ध मे गवेषणा करना यहाँ युक्ति सगत नही होगा। यह हमारे प्रबन्ध का विषय नही परन्तु इससे कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते है।

(१) समाज की बिगडती हुई अवस्था को तथा बढती हुई दुराचारिता को रोकने के लिए नीति की आवश्यकता प्रतीत हुई।

(२) सृष्टि के आरम्भकाल से ही नीति के नियमो की आवश्यकता मानव समाज को रही होगी।

(३) नीति का प्रमुख लक्ष्य सामाजिक व्यवस्था को स्थापित करना तथा लोक रक्षा कर मर्यादा को प्रतिष्ठापित करना है।

(४) नीति के विविध क्षेत्रो का यथावत् विवेचन किया जाय तो वह शास्त्र अत्यन्त विस्तृत हो सकता है।

(५) यह एक आचार की सहिता है।[1] कालिका पुराण मे नीति के स्वरूप के निश्चित करने तथा उसकी परिधि के निर्धारित करने के सम्बन्ध मे कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। नीति की व्याख्या को प्रस्तुत करने मे इसकी उपयोगिता किसी प्रकार कम नही है। महर्षि और्व एव महाराज सगर के सवाद के रूप मे

---

१ कालिका पुराण—अध्याय ८४

नीति की चर्चा के द्वारा प्रमुखत राजनीति का विवेचन किया गया है। राजा सगर के प्रश्न करने पर महर्षि और्व ने नीति के विभिन्न अङ्गो का विस्तृत वर्णन किया है। यह वर्णन पर्याप्त रूप से विशद एव बहुमुखी है। इसमे समाज, आचार एव धर्म आदि से सम्बन्धित प्राय· सभी तत्त्वो का आद्योपान्त वर्णन हुआ है। राजा के लिए साम, दाम, दण्ड और भेद—उपायो का प्रयोग तथा सासारिक भोगो के प्रति आसक्ति रहित होकर लोक रक्षण की भावना, धर्म के आधार पर न्याय, गुणो का ग्रहण करना तथा अवगुणो का परित्याग, शत्रु एव मित्र के साथ यथोचित व्यवहार तथा प्रजापालन विषयक तथ्यो का उपदेश आदि नीति-शास्त्र के द्वारा उपलब्ध होता है। सामान्य व्यक्ति के लिए भी सच्चरित्रता एव परस्पर हित-साधन की भावना के साथ समाज के अन्य व्यक्तियो के साथ समुचित व्यवहार करने की शिक्षा इससे प्राप्त होती है।

नीति की परिभाषा के विषय मे शुक्रनीति मे कुछ तथ्य उपलब्ध होते है।

शुक्रनीति

नीति को चतुर्वर्ग-फल को प्रदान करने वाली कहा गया है। धर्म, अर्थ एव काम का नीति-शास्त्र मूल है तथा वह मुक्ति को भी देने वाला है। इसके अतिरिक्त वह नीति-शास्त्र समस्त-ससार का उपकारक एव समाज मे मर्यादा को प्रतिष्ठित करता है—

"सर्वोपदेशक लोक स्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूल हि स्मृत मोक्षप्रद यत।"

समस्त विश्व-प्रपच की स्थिति इसके बिना नितान्त असम्भव है—

'सर्वलोक व्यवहार स्थितिर्नीत्या विना नहि।'

राजनीति की दृष्टि से भी नीति-शास्त्र का अपार महत्व है। नीति-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन एव पूर्ण परिज्ञान करना राजा के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता है। नीति-निष्णात राजा एव मन्त्री शत्रुओ के जेता एवं जगत् के प्रीति पात्र माने जाते है—

"अत सदा नीतिशास्त्रमभ्यसेद्यत्न तो नृप.।
यद्विज्ञानान्नृपाद्याश्च शत्रुजिल्लोक रञ्जका।"

नीति मजरी

"द्या द्विवेद ने अपनी 'नीति मञ्जरी' मे प्रथम श्लोक का भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है कि जो नियम कर्त्तव्य एव अकर्त्तव्य का सम्यक् निरूपण करते हैं, उन्हे नीति की सज्ञा दी जाती है। यह विधि एव निषेधात्मक–दोनो प्रकार की होती है तथा इसके ज्ञान से मनुष्य की धार्मिक कार्यों मे प्रवृत्ति होती है, एव अधर्म से युक्त कार्यो से विरक्ति होती है।

"एव कर्त्तव्यमेव न कर्त्तव्यमित्यात्मको धर्म सा नीति'
इमा ज्ञात्वा धर्म रतिरधर्मे विरतिर्भवति।"

उक्त विवेचन के आधार पर नीति की परिभाषा इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है—मानव-समाज को श्लाघनीय एव सुव्यवस्थित पथ पर अग्रसर करने तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सम्यक् एव सुगमता से उपलब्धि कराने के हेतु विधि अथवा निषेधात्मक, वैयक्तिक एव सामाजिक नियमो का विधान जो देश, काल एव पात्र को लक्ष्य मे रखकर बनाया जाता है, वही नीति है।

नीति का उदय

नीति की परिभाषा के सम्बन्ध मे विचार करने के अनन्तर यह जिज्ञासा उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि नीति के उद्भव होने मे किन-किन तत्वो का योगदान रहा है। समाज मे किन परिस्थितियो के प्रादुर्भूत होने से नीति की आवश्यकता का अनुभव किया गया। "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" के अनुसार कोई प्रयोजन तो इसका भी सर्वथा सम्भाव्य है। आवश्यकता मे ही समाज मे किसी वस्तु का सूत्रपात होता है। नीति का उदय भी समाज के हित को लक्ष्य मे रखकर ही किया गया है।

सम्भवत ससार मे कोई ऐसा सामान्य बुद्धि-सम्पन्न मनुष्य, स्त्री या पुरुष नही है, जो नैतिक तथ्यो को प्रगट करने वाले शब्दो का व्यवहार नही करता। जहाँ मनुष्य वार्तालाप करता है वहाँ समाज की अवस्थिति है एव समाज का अस्तित्व आवश्यक रूप मे नैतिक मूल्याकन के अस्तित्व से सहचरित है। यह इस ओर सकेत करता है कि सभ्य समाजो के दार्शनिक एव सामाजिक विचारक नैतिक प्रश्नो को विशेष महत्त्व देते आये है, यद्यपि नैतिक समस्याओ का अवधानतापूर्वक अनुचिन्तन व्यक्तियो तथा समाजो के जीवन मे, अपेक्षाकृत विलम्ब से आरम्भ होता है। वे समाज, जो अपेक्षाकृत अधिक समुन्नत हैं, अपनी नैतिक उद्भावनाओ को सुचिन्तित नैतिक मन्तव्यो के रूप मे प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार वे मनीषी एव दार्शनिक, जिनकी अनुभूति मे परिपक्वता एव प्रौढता का समावेश हो चुका हो, नैतिक समस्याओ के महत्त्व से परिचित होने लगते है।

मानव अपनी प्रकृति मे प्रेरित होकर नैतिक अथवा उसी प्रकार की अन्य समस्याओं पर विचार करना आरम्भ कर देते है। प्राय मनुष्य के हृदय मे परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ उदित होती हैं, और उसकी विभिन्न आकाक्षाएँ उसे विभिन्न दिशाओ मे चलने के लिए प्रेरित करती है। विचार एव चिन्तन-शील प्राणी होने के नाते मनुष्य उसकी विविध अभिरुचियो,के पीछे अन्तर्निहित सिद्धान्तो का परिज्ञान प्राप्त कर लेता है। शक्तियो एव साधनो के सीमित होने के कारण वह ससार की

समस्त वस्तुओ को चाहते हुए भी नही प्राप्त कर सकता। अत उसे विभिन्न लक्ष्यो एव विभिन्न कोटि के सुखो मे से चयन करना आवश्यक प्रतीत होता है। जो व्यक्ति जितना अधिक बुद्धिमान् होता है, वह अपने जीवन को उतना ही अधिक महत्त्व देता है एव अपनी इच्छाओ, सकल्पो आदि के सम्बन्ध मे उतना ही अधिक विचारशील रहता है। मनुष्य की यह सदैव अभिलाषा रहती है कि वह अपने प्रयत्नो एव साधनो को उचिततम दिशा मे लगाये तथा अपने जीवन को अधिक से अधिक सफल एव समुन्नत करे। जैसे ही वह एक लक्ष्य की ओर पहुँचता है वैसे ही एक अधिक ऊँचे लक्ष्य को उपलब्ध करने के हेतु वह व्याकुल होने लगता है। साथ ही मनुष्य यह भी अभिलापा करता है कि वह जीवन के चरम लक्ष्य अथवा गन्तव्य को अपनी कल्पना के द्वारा पूर्णतया प्रत्यक्ष करले, जिससे आजीवन उसके प्रयत्न निश्चित एव सुचिन्तित दिशा मे अग्रसर होते रहे। अपने जीवन के मूल्यो को समझने के साथ ही साथ वह अपने जीवन की विभिन्न समस्याओ से सुपरिचित होना चाहता है। जीवन के अनुभवो की अभिवृद्धि के साथ ही उसे आभासित होने लगता है कि उसे अपनी अभिरुचियो के सम्बन्ध मे सतर्क होना चाहिए तथा परिणामत अपनी प्रवृत्तियो पर अधिक नियन्त्रण रखना चाहिये। सघर्षमय जीवन की विभिन्नताओ, विफलताओ एव आशाभङ्गो की अनुभूति उसे यह विचार करने के लिये बाध्य कर देती है कि सफल जीवन-यापन के सिद्धान्त क्या हैं? एव जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? जीवन को उचित रूप से यापन करने के सुगम मार्ग का निरन्तर चिन्तन एव अन्वेषण नैतिक एव धार्मिक सिद्धातो को जन्म देता है। मनुष्य की नैतिक एव धार्मिक गवेपणा अन्ततो गत्वा जीवन-विवेक की गवेषणा है।

वस्तुओ, घटनाओ अथवा चरित्रो मे अनुस्यूत मूल्य, गुणो की साधारण प्रकृति के अनुसार अन्य वस्तुओ की अपेक्षा से ही अर्थवान् अथवा अस्तित्ववान् होते हैं। अर्थात् वह कर्म अथवा चरित्र अच्छा कहा जाता है, जो वाछनीय परिणाम उत्पन्न करता हो। जहाँ तक परिणाम की श्रेष्ठता का प्रश्न है बौद्धिक एव नैतिक अनुभूतियो के क्षेत्र मे समाज के दो व्यक्तियो मे पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। वहाँ विभिन्न समाज के व्यक्तियो मे और भी अधिक अन्तर होना नितान्त सम्भाव्य है। किसी व्यक्ति के चरित्र का मूल्याकन उसके उन व्यवहारो के आलोक मे किया जाता है, जिन्हे वह स्वभावत करता है। इसका यह आशय होता है कि मानव-समाज के नैतिक निर्णयो मे, विविध परिस्थितियो मे, परिवर्तन होता रहता है। यही कारण है कि आचार-शास्त्र के इतिहास मे चरम आदर्श अथवा नैतिक मूल्य के सम्बन्ध मे अनेक एव कभी-कभी विरोधी धारणाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सुख, दु ख, पूर्णत्व, आत्मलाभ, नैतिक नियमो का पालन आदि ऐसे ही तथ्य हैं जिन पर विद्वानो एव दार्शनिको का मतैक्य नही प्राप्त होता।

आदर्श पुरुष इन भिन्न और कभी-कभी विरोधी धारणाओ मे सामञ्जस्य स्थापित कर बुद्धि पूर्वक आत्म-हित एव पर-हित का समन्वय करता हुआ अग्रसर होता है ।

सृष्टि के प्रारम्भिक युग से मानव-समाज मे मात्स्य-न्याय के आधार पर सबल की विजय होती रही है । क्षुधा-निवारण के अतिरिक्त प्राकृतिक आपत्तियो, भयानक हिंसक पशुओ एव अन्य शत्रुओ से अपनी रक्षा का प्रश्न मनुष्य के समक्ष था । शिश्नोदर की समस्या ही प्राणि-मात्र की मौलिक समस्या है । एक की इच्छा पूर्ति दूसरे के लिए घातक सिद्ध होती है ।

सर्वप्रथम नीति का उदय सामूहिक जीवन मे हुआ था । समूह मे निवास करने वाले मानवो मे सवेदनात्मक भाव के उदय होने से भी इस प्रकार स्वत सिद्ध कुछ नैतिक नियम प्रचलित हो गये । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि नीति के मूल-भूत तत्वो का उद्भव सामाजिक-जीवन मे हुआ जिनका क्रमिक विकास एव विस्तार समय की गति के साथ-साथ होता गया ।

कुछ व्यक्ति स्वभावत अत्यन्त विनय-शील, सदाचारी, एव बडो का आदर करने वाले होते हैं, परन्तु इसके विपरीत कुछ व्यक्ति जन्म से ही असत् प्रवृत्तियो के अवतार के रूप मे अवतरित होते हैं । देव एव राक्षस एक ही पिता की सन्तान होते हुये भी साधु एव असाधु—दो विरुद्ध प्रवृत्तियो के निदर्शन है । असत् प्रवृत्तियाँ अधिक काल तक प्रभावित नही कर पाती और अन्ततोगत्वा असाधुता पर साधुता की ही विजय होती है । यही कारण है कि मानव समाज के सामान्य नैतिक नियम सभी देशो मे प्राय एक से ही दृष्टिगोचर होते हैं ।

नीति नियमो के निर्धारण मे मनोयोग एव तर्क का पूर्ण योगदान रहा है, जो तीन प्रकार से अभिव्यक्त किया जा सकता है ।

(१) कार्य आरम्भ करने से पूर्व मन मे यह विचार करना कि इस कार्य से हित साधन होगा अथवा नही । अर्थात् मन को ही पूर्णतया निर्णायक मानकर उसके निर्णय को ही नीति का रूप दिया जाना ।

(२) कार्य करने के अनन्तर उस कार्य के परिणाम के सम्बन्ध मे विचार किया जाना कि वह कार्य हितकर हुआ अथवा नही । जिस कार्य के सम्पादन से हित हो वह कार्य करना चाहिये ।

(३) तर्क के द्वारा भी यह निश्चय किया जा सकता है कि इस कार्य के करने से लाभ होगा । यही कारण है कि अनेक नैतिक सिद्धान्त, जो केवल विश्वास पर आधारित थे, समय पर स्वत लुप्त हो गये

समाज मे विकास के साथ ही साथ नैतिक नियमो की आवश्यकता का अनुभव किया गया और यही कारण है कि समय-समय पर नैतिक नियमो मे यथेष्ट परिवर्तन एव परिवर्धन होता गया।

महाभारत मे वर्णित श्वेतकेतु का उपाख्यान[1] नैतिक सिद्धान्तो के क्रमिक विकास की ओर इगित करता है। इस उपाख्यान की ऐतिहासिक सत्यता पर विचार करना यहाँ अभिप्रेत प्रतीत नही होता परन्तु इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि किसी युग मे इस प्रकार की मर्यादा की प्रतिष्ठा की गयी होगी।

मूलत देश विदेशो की नैतिक उद्भावनाओ मे कोई अन्तर नही होता पर मानव मन मे विचार-वैविध्य के कारण उसके वाहरी आकार-प्रकार मे अन्तर आ जाना नितान्त स्वाभाविक है।

नीति का विकास

सस्कृत साहित्य मे नीति-तत्त्व पूर्ण रूप से विकसित व्यवस्था मे उपलब्ध होता है। उसके अध्ययन से विकास की विभिन्न अवस्थाओ पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। विकास की कुछ अवस्थाओ का विवेचन प्रस्तुत करने की दिशा मे यह एक प्रयास है —

१ *निर्देश*—नीति के विकास की यही सर्व प्रथम अवस्था है, जिसमे किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके नैतिक निर्देश दिये जाते हैं। उनका साक्षात् सम्बन्ध उसी व्यक्ति से होता है, जिसे लक्ष्य करके वे निर्देश दिये जाते हैं। इस प्रकार की नीति भारत के प्राचीनतम साहित्य 'वैदिक वाङ्मय' मे उपलब्ध होती है।

२ *उपदेश*—विद्वान् विचारको की दृष्टि व्यष्टि से उठकर समष्टि तक पहुँच जाती है। काल-गति के अनुसार उनकी भावनाओ एव अनुभूतियो की उपदेशात्मक अभिव्यक्ति व्यक्ति विशेष की परिधि का उल्लघन कर समाज तक पहुँचना चाहती है। समाज के लिए कहे गये ये नीति के उपदेशात्मक वचन इस कोटि मे समाहित होते हैं।

३ *सूक्ति*—नीति के विकास की यही तीसरी अवस्था है। इसमे सक्षेप मे अधिक कहने की प्रवृत्ति ने प्रश्रय प्राप्त किया तथा कोरे नीति के उपदेशो तक ही सीमित न होकर उसमे आकर्षक एव प्रभावोत्पादक उदाहरणो का समावेश कर दिया गया। समास-शैली के साथ ही साथ नीति से सम्बद्ध उदाहरणो का सुव्यवस्थित एव प्रभावशाली रूप मे प्रस्तुत किया जाना इसकी सुन्दरता एव सरसता के चार चाँद लगा देता है।

---

१ महाभारत—आदिपर्व, १२२, ११–१७।

४ *अन्योक्ति*—नैतिक-विकास की इस अवस्था मे भी उपदेशात्मकता की प्रधानता रहती है परन्तु जिसको लक्ष्य करके उपदेश दिया जाता है, उसको साक्षात् न कहकर किसी अन्य को उसका प्रतीक मानकर सकेत रूप मे कहा जाता है। प्रत्यक्ष रूप से उस व्यक्ति से सम्बद्ध न होने पर भी वह तत्त्वत उसकी ओर इगित करता है। सम्भवत. इसके मूल मे यही भावना रही हो कि जिसे उपदेश दिया जाय उसे वह अप्रीतिकर न हो।

५ *औपदेशिक कथा*—नीति के विकास की यह अन्तिम एव पञ्चम अवस्था है। नीति-कथन का इसे सुन्दरतम रूप माना जाता है। नीति-कथन के इस प्रकार मे कथा कहने के अनन्तर निष्कर्ष के रूप मे सूक्तियो को उद्धृत किया जाता है। उसी कारण से इसमे प्रभविष्णुता एव चित्ताकर्षकता की अभिवृद्धि हो जाती है। कथा अथवा किसी घटना से पूर्णतया सम्बद्ध होने के कारण वह उक्ति बुद्धि का विलास मात्र न रहकर दैनिक जीवन के प्रमुख अग के रूप मे प्रतीत होती है।

विकास का यह क्रम अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता है। आरम्भ मे किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके उसके आचरण एव कर्त्तव्यो के अनुकूल तथ्यो को प्रतिपादित किया जाता है। धीरे-धीरे उपदेष्टा के मन मे यह भावना उत्पन्न होती है कि समाज के सभी व्यक्ति उसके सुविचारित मार्ग का अनुसरण करे। उसके उपदेश व्यक्ति-विशेष के लिए ही न होकर समस्त समार की निधि के रूप मे प्रतिष्ठित हो। यह हुई उपदेश की अवस्था। क्रमश इस धारणा का आविर्भाव होना नितान्त स्वाभाविक है कि उनके उपदेश असगत एव असयत भाषा मे न होकर अत्यन्त सुव्यवस्थित, उदाहरणो से प्रमाणित एव पुष्ट किये गये हो। इसी कारण से उसमे सुश्लिष्ट शैली एव चुभते हुए सुन्दर उदाहरणो का समावेश किया गया है।

नीति के विकास की चतुर्थ अवस्था से यह आभास मिलता है कि उपदेश की यह प्रणाली कुछ व्यक्तियो के लिए अरुचिकर प्रतीत होती थी एव उपदेश-ग्रहण करने वाले व्यक्तियो की सख्या मे अत्यधिक न्यूनता भी आ रही थी। इसीलिए पशु-पक्षियो को लक्ष्य करके दिये गये नीति के उपदेश व्यक्ति-विशेष की ओर केवल इगित करते हैं। विकास की अन्तिम अवस्था है—औपदेशिक कथा की अवस्था। सृष्टि के आदि काल से ही कथा के कहने और सुनने की प्रवृत्ति अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। मनोरम ढग से कथा को कहकर उसके निष्कर्ष-स्वरूप नीति की सूक्तियो से उसे गुम्फित करना, उसकी मनोरमता एव शोभा की अभिवृद्धि करता है।

उक्त विवेचन से यह निर्गत होता है कि इन विभिन्न अवस्थाओ मे होकर नीति क्रमश विकासशील रही है तथा समाज की प्रक्रिया एव प्रतिक्रियाओ एव नैतिक मूल्यो को लक्ष्य मे रखकर उसे समय के अनुकूल परिवर्तन एव परिवर्धन के साथ प्रस्तुत किया जाता रहा है।

व्यवहार की दृष्टि से भी सामान्यतः नीति को निम्न प्रकार मे वर्गीकृत किया जा सकता है —

नीति का वर्गीकरण

क—व्यवहार नीति

ख—राजनीति अथवा राष्ट्र नीति

ग—धर्म नीति

व्यवहार एव आचार

प्रत्येक मानव मात्र के लिए सामाजिक एव व्यावहारिक मर्यादाओ की रक्षा तथा उनके अनुकूल आचरण नितान्त अपेक्षित है। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के लिए विभिन्न परिस्थितियो मे पारस्परिक सम्पर्क अत्यन्त वाछनीय हो जाता है। विविध प्रकार के प्राणियो से कैसा व्यवहार उपयोगी होगा, आदि का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। व्यक्ति, परिवार एव समाज मे सम्वन्धित आचरण एव व्यवहार इसके अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। धैर्य, उद्योग, आय-व्यय, विनय, नम्रता, निन्दा, परोपकार, अतिथि सत्कार आदि इस नीति के अङ्ग माने जा सकते है।

व्यक्ति समाज का अभेद्य अङ्ग होने के नाते समाज ने पृथक् अस्तित्व नही रखता। विश्व का कोई भी पदार्थ पूर्णत वैयक्तिक नही हो सकता। वैयक्तिक नीतियाँ व्यक्ति से पूर्णतया सम्वद्ध होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से समाज से भी सम्वन्धित हैं। यही कारण है कि भारतीय व्यवहार नीति मे व्यष्टि एव समष्टि दोनो ही के लिए समुचित समादर है। इसके अतिरिक्त सामाजिक अथवा व्यावहारिक नीति को धर्म-नीति से पूर्णत अलग-अलग करना सम्भव नही। दया एव क्रोध आदि ऐसे अनेक विषय है, जो दोनो ही के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं।

राजनीति

राजा, राज्य अथवा शासन-सम्वन्धी नीति को राष्ट्र नीति अथवा राजनीति के नाम से उद्घोपित किया जाता है। भारतीय वाङ्मय मे राष्ट्र नीति की शाखा-प्रशाखाओ का पूर्ण व्यवस्थित अध्ययन किया गया है। स्मृति-ग्रन्थो, कौटिल्य के अर्थ शास्त्र एव शुक्र नीति आदि अनेक नीति-ग्रन्थो के अन्तर्गत राजा, उसकी योग्यता, उसके कर्त्तव्य, शासन, वैयक्तिक जीवन के आचार, मन्त्री आदि राज्य के अङ्ग, गुप्तचर, कर, न्याय, सेवक आदि के कर्त्तव्यो आदि के विवेचन पूर्ण व्यवस्थित एव वैज्ञानिक रीति से किये गये है।

धर्मनीति

नीति जहाँ लोक के साथ-साथ आत्मा से सम्वन्ध स्थापित कर लेती है तो वह धर्म के क्षेत्र मे पदार्पण करती है। इस प्रकार यह नीति व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति करने के साथ ही साथ लौकिक अभ्युदयकारिणी होती है एव परिवार अथवा समाज के विकास मे कोई वाधा प्रस्तुत नही करती। ईश्वर के प्रति भक्ति भावना एव विश्वास, सासारिक सुख, आनन्द आदि को अनित्य मानकर उसके प्रति अनासक्ति

गुरु के प्रति श्रद्धा, राग-द्वेष, ईर्ष्या, सत्य, अक्रोध, दया आदि प्रस्तुत नीति के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। जैसा व्यवहार एव आचार के सम्बन्ध मे प्रतिपादित किया जा चुका है, धर्मनीति मे भी व्यक्ति एव समाज, दोनो वर्ग कुछ अशो तक एक दूसरे के अन्तर्गत समाविष्ट रहते है। व्यक्ति-सापेक्ष एव समाज-सापेक्ष, ये नीतियाँ एक दूसरे के अङ्गाङ्गिभाव के रूप मे उपलब्ध हो सकती है।

काल के आधार पर एककालिक अथवा सार्वकालिक—इन दो वर्गो मे भी नीति को विभक्त किया जा सकता है। सामयिक-नीति तात्कालिक युग की परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण परिवर्तनशील एव अस्थायी होती है। यथावसर विकास एव ह्रास उसकी अपनी विशेषता होती है। इसके विपरीत कुछ ऐमे शाश्वत नीति-सिद्धान्त होते है, जिनमे प्राय परिवर्तन नही होता और वे स्थायी महत्त्व की वस्तु होते हैं।

शास्त्र की दृष्टि से भी नीति का दो भागो मे वर्गीकरण किया जा सकता है :—

क—नीति सिद्धान्तो के रूप मे प्रतिपादित नीति।

ख—कथा (काव्य) के अन्तर्गत उपलब्ध होने वाली नीति।

क—नीति सिद्धांतो के रूप में प्रतिपादित नीति

नीति-सम्बन्धी विवेचन प्रस्तुत करना ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, उन नीति-शास्त्र के साक्षात् प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थो को सामान्यत इस श्रेणी के अन्तर्गत लिया जाता है।

ख—कथा (काव्य) के रूप में उपलब्ध होने वाली नीति

अत्यन्त विस्तृत एव सुविशाल इस सस्कृत साहित्य मे बिखरे हुये रूप मे यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध होने वाली नीति की उक्तियाँ इस वर्ग की नीति के अन्तर्गत ली जाती है। इन काव्यो मे प्रसग-वश जहाँ-तहाँ जो नीति-तत्त्व अनायास ही आ जाते है, प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध केवल उस (कथा) काव्य सापेक्ष नीति से है।

नीति और काव्य

नीति एव काव्य के सम्बन्ध मे पृथक् रूप से पर्याप्त विवेचन पहले किया जा चुका है। जिस काव्य का विषय नीति हो वह नीति काव्य कहा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे इस प्रकार भी कहा जा सकता है "जिस काव्य का प्रमुख ध्येय मानव को नैतिक शिक्षा प्रदान करना हो वह नीति काव्य है।" जिस काव्य मे स्वतन्त्र रूप से नीति का क्रमबद्ध विवेचन किया गया हो वह काव्य नीति शास्त्र के अन्तर्गत

लिया जायगा। इस प्रकार का काव्य प्रबन्धत्व के अभाव मे 'मुक्तक काव्य' की श्रेणी मे रखा जा सकता है। परन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय सस्कृत के विभिन्न काव्यो मे विखरे हुये नीति के तत्त्वो का क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत करना है। इस दृष्टि से वर्तमान सदर्भ मे 'नीति काव्य' वह काव्य हुआ, जिसमे स्थान-स्थान पर नीति-सम्बन्धी तथ्यो का निरूपण किया गया हो।

नीति काव्य में काव्यत्व

नीति कविता के काव्यत्व मे कुछ लोग सन्देह करते है। उनका कहना है कि नीति के विषय को लेकर रची गई कविता मे उत्कृष्ट काव्यत्व दृष्टिगोचर नही होता। नीति का स्पष्ट उपदेश देने वाली कविता साहित्य की कोटि मे स्थान प्राप्त करने योग्य नही। सामान्यत गुण, अलकार आदि उपकरणो से समवेत रसमय काव्य को ही उत्कृष्ट काव्य माना जाता है। प्रश्न केवल इतना ही रह जाता है कि नीति सम्बन्धी विषय को आधार मानकर रची गई कविता को क्या उत्कृष्ट काव्य की श्रेणी के अन्तर्गत रखा जा सकता है? अर्थात् नीति परक उपदेश-प्रधान काव्य मे क्या वे गुण समाविष्ट हो सकते है, जिनके आधार पर उसे उत्कृष्ट काव्य की सज्ञा दी जा सके।

कवि की प्रतिभा एव कवित्व-शक्ति के द्वारा ही रचना मे उत्कृष्टता का समावेश होता है। वह किसी भी विषय को लेकर रचना-कौशल के द्वारा कल्पना के सहारे उत्कृष्ट काव्य की रचना कर सकता है। यह तो एक मात्र कवि की मनीषा पर निर्भर होता है कि वह किस विषय को अपनी रचना के लिए अत्यन्त उपयुक्त समझता है। विषय का चयन तो केवल गौण रह जाता है। वह तो उसका केवल रचना-नैपुण्य होता है, जिसके आधार पर वह उत्कृष्ट काव्य की रचना कर समाज के लिए नवीन दिशा एव दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है। काव्य के अन्य विषयो के समान नीनि भी एक विषय है। कवि चरित्र एव भक्ति का उपदेश देने वाले नीति-परक विषय को लेकर भी उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि कर सकता है, यह अत्यन्त सहज एव स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त काव्य का सीधा सम्पर्क हृदय से होता है पर नीति का सम्बन्ध वुद्धि से होने के कारण उसमे चमत्कृति की अभिवृद्धि होती है।

काव्य और नीति

इस दृष्टि से नीति और काव्य मे परस्पर सम्बन्ध की गहनता स्वाभाविक है। काव्य एव नीति दोनो का ही लक्ष्य समान होता है। नीति समाज की बुराइयो को दूर कर उनके स्थान पर गुणो का प्रतिष्ठापन करने के हेतु उपदेशात्मक पद्धति से मानव समाज के समक्ष एक दिशा प्रस्तुत करती है। दूसरी ओर काव्य का रचयिता भी समाज मे रहता हुआ तद्देशीय मानवो मे उद्भूत होने वाली भावनाओ से अनुप्राणित रहता है। वह भी समाज

को सुपथ की ओर अग्रसर करता हुआ उसे आदर्श जीवन की ओर उन्मुख करता है। इस प्रकार काव्य का प्रमुख उद्देश्य जीवन मे आह्लादकता एव रसिकता को उत्पन्न करते हुए मानव जीवन को विकसित करना होता है।

इस तरह इन दोनो के मौलिक उद्देश्यो मे कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नही होता। दोनो ही मानव के विकास को लेकर आगे बढते है। जिस प्रकार काव्य जीवन से अनुप्राणित होता है उसी प्रकार नीति भी जीवन का आधार है। इससे जीवन के दो अङ्ग परस्पर विरोधी कदापि नही हो सकते। 'काव्य को जीवन के लिए' मानने वाले विद्वान् काव्य मे नीति को आवश्यक तत्त्व मानते है। प्राचीन मनीषियो के आधार पर नीति से समन्वित उत्कृष्ट काव्य चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति का कारण होता है।

उक्त विवेचन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि नीति और काव्य मे गहन पारस्परिक सम्बन्ध है। जहाँ काव्य है वहाँ नीति है, चाहे वह परोक्ष रूप मे हो। साथ ही नीति से काव्य के मूल्य का ह्रास भी नही होता। उपयुक्त मात्रा मे समाविष्ट होकर नीति काव्य के सौन्दर्य मे अभिवृद्धि करती है। नीति के वास्तविकता पर आधारित होने से उसमे व्यावहारिक पक्ष का प्रामुख्य होता है, इससे उसमे भावना या कल्पना के लिए उतना अवकाश नही रह जाता। इस प्रकार नीति अपनी समग्रता मे काव्यत्व से विरहित हो सकती है, किन्तु काव्य अपनी पूर्णता मे नीति को भी समाविष्ट रख सकता है। भारतीय सस्कृति के उत्कृष्ट काव्य रामायण, महाभारत, रघुवश आदि इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।

'काव्य' शब्द अत्यन्त व्यापक है। 'सस्कृत साहित्य' मे 'साहित्य' एव 'काव्य' को पर्यायवाची माना है। अतएव सामान्यत 'काव्य' शब्द का प्रयोग 'साहित्य' के अर्थ से किया जाता है। 'कवि' शब्द से काव्य की उत्पत्ति हुई है। सस्कृत के विद्वानो ने काव्य शब्द की बहुविध व्याख्या की है। कवि वही है, जो विद्वान् है, प्रतिभा सम्पन्न है एव वर्णन नैपुण्य से परिपूर्ण है। ऐसे वर्णना शक्ति से ओत प्रोत कवि की रचना को ही काव्य की सज्ञा दी गयी है।

काव्य

काव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए सस्कृत के विद्वान् मनीषियो ने विभिन्न विचारो को व्यक्त किया है। 'ऋग्वेद' मे एक मन्त्र द्रष्टा काव्य को बादलो से निकल कर स्वत प्रवहमान वर्षा की धारा के समान समझता है।[1] जिससे

---

१ ऋग्वेद ७, ९, १

यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो स्वत कवि के हृदय से उद्वेलित होती हुई अवाध-गति से लोक के समक्ष अभिव्यक्त होती है, वह धारा काव्य-धारा है।

काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने काव्य के शरीर-पक्ष एव उसके आत्म-पक्ष — दोनो का ही पर्याप्त आलोचन प्रत्यालोचन किया है। तथ्य तो यह है कि काव्य की आस्वादव्यञ्जकता का आधार दोनो शब्द तथा अर्थ मे समभाव से विद्यमान रहता है। शक्ति और शक्तिमान् के मञ्जुल नित्य सामरस्य के समान ही वाक् एव अर्थ का परस्पर नित्य सम्बन्ध है। इसी प्रकार रस का महत्त्व भी, हृदयानुरञ्जकता के कारण, किसी प्रकार कम नही है। काव्य कामधेनु के समान है। जीवन मे आनन्द का विशेष महत्त्व है और उसकी उपलब्धि से विश्व की समस्त अभीप्सित वस्तुओ की उपलब्धि हो सकती है।

मम्मट के अनुसार कालिदास की अजर एव अमर यश पताका के समान काव्य के द्वारा यश की उपलब्धि होती है। धन की प्राप्ति होती है। लोक-व्यवहार का सम्यक ज्ञान होता है। देवता की स्तुति आदि का माध्यम होने से काव्य से अमङ्गल का परिहार भी होता है। काव्य के श्रवण करने के साथ ही वेद्यान्तर सम्पर्क शून्य रसास्वाद रूप आनन्द की प्राप्ति होती है, एव जिन्हे नीरस नीतिशास्त्रो मे अभिरुचि न हो, उन्हे काव्य कमनीय कलेवर वाली कान्ता के समान सरसता उत्पन्न कराके उनके बोध-गम्य कर देता है।

काव्यशास्त्रियो द्वारा निर्दिष्ट[1] काव्य के उद्देश्यो का विश्लेषण करने से काव्य के द्विविध प्रयोजन प्रतीत होते हैं—मुख्य तथा गौण। काव्य-पाठ से सहसा होने वाला विगलित वैद्यान्तर अलौकिक आनन्द ही काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है। गौण प्रयोजन अनेक हैं, जिनमे यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान, माङ्गलिकता एव सरसता के साथ उपदेश देना प्रमुख हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध विशेषत काव्य के उद्देश्यो–'व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये, एव कान्ता सम्मिततयोपदेश युजे' से है।

काव्य व्यवहार-ज्ञान का उपकरण ही नही है, प्रत्युत वह व्यवहार के क्षेत्र मे सर्वश्रेष्ठ प्रेरणा का स्रोत भी है। मनुष्य के भावो को उद्बुद्ध करने के लिए सुप्त भावो को जाग्रत कर वेगवान् बनाने के लिए सबसे महनीय साधन है—काव्य, जहाँ से भाव रश्मियाँ फूटकर मानव-हृदय को उद्दीप्त तथा जागरूक बनाकर उसे व्यवहार के लिए उद्वेलित करती हैं।

---

१ काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये।
सद्य. पर निर्वृतये कान्ता सम्मिततयोपदेश युजे।' काव्य प्रकाश–१,२

काव्य की माङ्गलिकता एव कल्याण-परता हृदय की शुद्धि एव मुक्ति का महनीय उपकरण होती है। वह हृदय की सकीर्ण दशा को हटाकर उसे मुक्तावस्था मे परिणत कर देती है। हृदय की सकीर्णता ही बन्धन है तथा उनकी उदारता ही मुक्ति। मानव का हृदय उदात्त है, उसका भाव-जगत् समधिक विशाल है। उसका हृदय 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मन्त्र की उपासना से शीतल तथा विशाल है। वह विश्व-प्रपच के प्राणिमात्र के साथ तादात्म्य का अनुभव कर उनके हर्ष मे प्रसन्न, विषाद मे विषण्ण, हास्य मे विनोद-युक्त, क्रोध मे दीप्त एव अनुराग मे अनुरक्त होता है। उसके हृदय को क्षुद्र स्वार्थ की भावना कलुषित नही करती, प्रत्युत परोपकार के लिए जिसका मनोमयूर नाच उठता है एव जो 'स्व' एव 'पर' के भेद-भाव से मुक्त होकर मानवता के हेतु अपना सर्वस्व समर्पण करने के लिए उत्सुक रहता है। मानव को मानवता के इस चरम लक्ष्य पर पहुँचाना सच्ची कविता का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन है।

उक्त अनुशीलन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उत्कृष्ट काव्य सुन्दर समाज की रचना मे कृतकार्य होता है तथा उसका ध्येय अध्यात्म-सदृश श्रेयस्कर तत्त्व की अभिव्यक्ति करना है। कवि की दृष्टि सौन्दर्य का ही निरीक्षण करती है और उसे अपनी वाणी मे सुन्दर शब्दो द्वारा अभिव्यक्त करती है। मङ्गल वस्तु एव सुन्दर वस्तु मे कोई भी अन्तर नही होता। धर्म-परायण व्यक्ति जिस वस्तु को मङ्गलमय समझता है, उसे ही कवि अपनी दृष्टि से सुन्दर मानता है। दृष्टि-गत भेद होने पर भी वस्तु का तात्त्विक भेद नही होता, अत' जो सुन्दर है, वही शिव है और वही सत्य है।

सस्कृत काव्यो मे सत्य, शिव एव सुन्दर तत्त्वो का समुचित विवेचन किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ मे, विघ्नो के विघात के लिए किया गया मङ्गलाचरण काव्य मे शिव-तत्त्व की अनिवार्य सत्ता को प्रमाणित करता है। सौन्दर्य तत्त्व काव्य-गत भावो को मनोहारिता प्रदान करता है। सौन्दर्य के प्रति आकर्षण निसर्ग-सिद्ध है। शिव-तत्त्व उन भावनाओ को व्यापक एव मङ्गलकारी रूप देता है। आत्मा की प्रमुख विशेषताएँ—सत्, चित् एव आनन्द ही काव्य मे सत्य, शिव और सुन्दर के रूप मे अवतरित हुई हैं।

'वृहदारण्यकोपनिषद्' मे आत्मा को वाड्मय, मनोमय और प्राणमय माना है —

"अयमात्मा वाड्मय मनोमय प्राणमयश्च" ।

इनमे वाड्मय को सत्य की, मनोमय को सौन्दर्य की एव प्राणमय को शिव तत्त्व की आधार भूमि माना जा सकता है।

काव्य में सत्य तत्त्व

काव्य का सत्य इतिवृत के समान सासारिक सत्य की भावना से सुतरा भिन्न होता है। कवि समाज की एक कमनीय कृति है, तथा वह समाज का प्रतिनिधि होता है। वह त्याग एव सौन्दर्य, शौर्य एव औदात्य के प्रेरक काव्य के द्वारा समाज को अधिक त्याग-शील तथा उदार बनाकर उसे उद्दीप्त तथा ओजस्वी बनाता है।

कवि के भाव-जगत् मे कल्पना का प्राधान्य होता है, जिसके आधार पर वह तथ्य बाह्य-बन्धनो से मुक्त होकर कवि की स्वय की सम्पत्ति हो जाता है। जीवन की विभिन्न अनुभूतियो को कल्पना-तत्त्व के आधार पर वह एक नवीन एव आह्लादकारी रूप देने मे समर्थ होता है। कवि का जगत् बाह्य-जगत् से भिन्न होता है। 'अग्नि पुराण' मे कवि को यथेष्ट सृष्टि करने वाला ब्रह्मा कहा गया है—

"अपारे काव्य ससारे कविरेव प्रजापति ।
यथास्मै रोचते विश्व तथेद परिवर्तते ।"[1]

काव्य-सृजन मे उसकी यह स्वच्छन्दता काव्य मे मौलिकता, रोचकता, नवीनता एव प्रभविष्णुता का सचार करती है। वह अपनी लेखनी के द्वारा सत्य को लोकरञ्जनकारी रूप मे प्रकट करता है।

मम्मट ने कविता के विविध गुणो का उल्लेख करते हुए काव्य-जगत् को दृश्य-जगत् से विशिष्ट बताया है —

"नियति कृत नियम रहिता ह्लादैकमयीमनन्य परतन्त्राम्।
नव रस रुचिरा निर्मिति मादधती भारती कवेर्जयति।"[2]

नव रसो से सुन्दर एव आकर्षक कवि की रचना ब्रह्मा जी की रचना से सर्वथा भिन्न होती है। ससृति मे सुख, दुख आदि सभी का अनुभव करना पडता है किन्तु कवि की वाणी मे केवल रसवत्ता एव आनन्दोत्पादकता ही होती है।

कवि की रचना मे कभी-कभी ऐसे तथ्य उपलब्ध होते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से असत्य एव असम्भव प्रतीत होते हैं। काव्य मे अतिशयोक्ति आदि अलकार, लक्षणा एव व्यञ्जना के आधार पर वह अपनी अनुभूतियो को अत्यधिक प्रभावोत्पा-

---

१ ध्वन्यालोक—पृ० ४२२

२ काव्य प्रकाश—१, १

दक रूप से प्रस्तुत करना चाहता है। वह सत्य को विकृत रूप मे न प्रस्तुत कर उसे रुचिर एव सवेदनात्मक रूप मे चित्रित करता है।

कवि को इस आकार के देने मे चमत्कार की योजना का आश्रय लेना पडता है। इसीलिए काव्य मे रस, अलङ्कार आदि का समावेश आवश्यक बन जाता है।

इसके अतिरिक्त काव्य-रूढियो एव कवि-परम्पराओ का भी कवि को उपयोग करना पडता है। परम्परा से कवि-जगत् मे प्रचलित इन उक्तियो के सत्या-सत्य के सम्बन्ध मे यही माना जा सकता है कि ये परम्परा मे प्रचलित एव मार्मिक होने के कारण, काव्य-सत्य के रूप मे चिरकाल से ग्रहण की जाती रही है, जिन्हे समाज भी उसी प्रकार ग्रहण कर लेता है।

काव्य में शिव-तत्त्व

काव्य मे सत्य और शिव दोनो परस्पर आबद्ध रहते है। शिव का अर्थ है—कल्याण-भावना। काव्य-रचना एक साधना है, जो अपूर्ण को पूर्णता की ओर अग्रसर करती है। उसका लक्ष्य अपनी साधना के द्वारा समाज का मङ्गलकारी रूप प्रस्तुत करना होता है। अत समस्त मानव-सृष्टि की कल्याण-भावना को लक्ष्य करके ही भारतीय प्राचीन मनीषियो ने काव्य मे शिव-तत्त्व का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया है। भारतीय प्रत्येक वस्तु आध्यात्मिक-भावना से परिप्लुत है। यहाँ तक कि भारतीय आचार्यो ने आध्यात्मिक प्रवृति के कारण शिव-तत्त्व को महादेव के साक्षात् प्रतिरूप के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

वेदो मे शिव-तत्त्व के महत्त्व का प्रतिपादन स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। यजुर्वेद मे ऐसी कामना की गई है कि जो कुछ है वह शिव के लिये सकल्पित हो, मानव-कल्याण के लिये सकल्पित हो। प्रस्तुत सूक्त मे—

"तन्मे मन शिव सकल्पमस्तु" की बार-बार आवृत्ति मङ्गल-भावना को ही व्यक्त करती है। 'श्रीमद् भगद्गीता' मे शिव-तत्त्व को हित तत्त्व माना गया है—

> "कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादय.।
> लोक सग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।"[1]

अर्थात्, कर्म के द्वारा ही जनक आदि महर्षि उत्कृष्ट सिद्धि को प्राप्त हो गये। लोक-हित का सम्पादन ही मानव मात्र का श्रेष्ठ कर्त्तव्य है।

---

१. श्रीमद् भगवद्गीता–३,२०

तथ्य यह है कि काव्य की रसमयता सर्वदा आनन्दकारिणी, मङ्गलदायिनी एव कल्याण की जननी है। उस अवस्था की परिणति के उत्पादक समग्र उपकरण शिव अथवा मङ्गल की अभिव्यक्ति के कारण नितान्त उपादेय एव श्लाघनीय होते हैं। आदर्श काव्य समाज मे प्रेम तथा त्याग के आदर्श के साथ श्रेय एव प्रेय का मञ्जुल सामरस्य प्रस्तुत करता है।

काव्य में सौन्दर्य तत्त्व

सौन्दर्य की अनुभूति एव रोचकता ही काव्य की पृष्ठभूमि है। काव्य मे प्राय. काव्यानुभूति एव सौन्दर्यानुभूति—दोनो को समान अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। वह मङ्गल का प्रतीक है और सत्य का प्रतिनिधि है। काव्य मे सौन्दर्य के जितने स्वरूपो का एकत्र सविधान प्रस्तुत किया जाता है वह उतना ही रमणीय तथा आवर्जनीय, प्रभावशाली एव उत्कर्षा-धायक बन जाता है। उच्च कोटि का काव्यकार वही है जो सौन्दर्य के दोनो पक्षो—बाह्य एव आन्तरिक सौन्दर्य का समन्वय करने का प्रयास करता है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के चित्रण मे अन्त सौन्दर्य के साथ रूप-माधुरी का सन्निवेश महर्षि वाल्मीकि की प्रतिभा का सुन्दर विलास है।

प्राय विद्वद्गण कला का वर्गीकरण करते हुए आन्तरिक सौन्दर्य को विशेष महत्त्व देते हैं। जिन कलाओ मे आन्तरिक सौन्दर्य की सच्ची अभिव्यञ्जना दृष्टि-गोचर होती है, उन्हे सूक्ष्म कहा जाता है, इसके विपरीत वे कलाएँ स्थूल कही जाती हैं, जिनमे बाह्य-सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुत आदर्श सौन्दर्य मे आन्तरिक एव बाह्य सौन्दर्य का समुचित सामञ्जस्य उपलब्ध होता है।

कालिदास ने सौन्दर्य मे पवित्रता को अधिक महत्त्व दिया है। 'कुमार सम्भव' मे उन्होने कहा है कि सौन्दर्य कभी भी विकार का कारण नही होता।[1]

"अभिज्ञान शाकुन्तलम्" मे भी महाकवि ने सौन्दर्य की भावना को चिर-स्थायिनी बताया है।[2]

पूर्व-जन्म का प्रेम वासना रूप मे मानव के भावो मे अज्ञात व्यवस्था मे निहित रहता है और वह अगले जन्म मे भी उसके विचारो को उद्वेलित करता रहता है।

---

१ कुमार सम्भव—५, ३६
२ अभिज्ञान शाकुन्तल—५, ३

मारवि ने प्रतिक्षण, प्रतिपल विकसित होने वाले रूप को ही सौन्दर्य के नाम से अभिहित किया है—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया ।"[१]

पण्डित राज जगन्नाथ ने अलौकिक आनन्ददायक शक्ति को ही रमणीयता कहा है।[२]

उक्त अनुशीलन के आधार पर यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य हमारे अन्तर् के किसी न किसी आदर्श की पूर्ति करता है। यदि वाह्य-सौन्दर्य को महत्त्व देना अपेक्षित हो तो उसकी स्थूलता एव क्षणिकता को दूर करके उसमे नित्य नवीनता एव स्थायिता की प्रतिष्ठा करनी पडेगी। ऐसा करने से वह सौन्दर्य वाह्य होते हुये भी आन्तरिक सौन्दर्य ही प्रतीत होगा तथा जिसमे वाह्य एव आन्तरिक सौन्दर्य का सामरस्य परिलक्षित होगा।

समन्वय

भारतीय वाङ् मय मे सत्यम्, शिवम् एव सुन्दरम् की भावना का सुन्दर समन्वय स्थापित करने का प्रयास सफलता से किया गया है। इन तीनो तत्त्वो को काव्य की उत्तमता के लिए अनिवार्य अङ्ग के रूप मे, महा मनीषियो ने, अगीकृत किया है। श्रीमद् भगवद्गीता मे वाङ् मय की अनिवार्य आवश्यकताओ एव विशेषताओ का उल्लेख इस तथ्य की पुष्टि करता है कि भारतीय उत्कृष्ट कवियो की दृष्टि सदा से समन्वयात्मक रही है —

"अनुद्वेगकर वाक्य सत्य प्रिय हितञ्च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाङ् मय तप उच्चते ।"[३]

अर्थात्, वही काव्य उत्तम माना गया है, जो उद्वेगकर न होकर सत्यम्, शिवम् तथा हितम् की पूर्ण प्रतिष्ठापना करता हो।

इस प्रकार इस समन्वय का श्रीगणेश श्रीमद् भगवद्गीता मे ही हो चुका था।

संस्कृत–काव्य का रूप वैविध्य

काव्य के आवश्यक तत्त्वो के निरूपण के अनन्तर काव्य के विविध रूपो एव प्रकारो का निरूपण नितराम् आवश्यक प्रतीत होता है। सस्कृत के प्राचीन आचार्यो ने रूप, आकार एव शैली की दृष्टि से काव्य को कई भागो मे विभक्त किया है। काव्य का वर्गीकरण करते हुए प्राचीन मनीषियो ने अनेक मतो का प्रतिपादन किया है।

---

१. किरातार्जुनीय
२. रस गङ्गाधर—पृ० ९–१०
३ श्रीमद्भगवद्गीता—१७, १५

अग्नि पुराण के अनुसार काव्य को श्रव्य, अभिनेय एव प्रकीर्ण—इन तीन भागो मे विभाजित किया है।[1] उन्होने श्रव्य के अन्तर्गत काव्य आदि, अभिनेय के अन्तर्गत नाटक आदि एव प्रकीर्ण के अन्तर्गत स्फुट अथवा मुक्तक काव्य का परिगणन किया है।

आचार्य भामह ने समस्त काव्य को स्थूल रूप से गद्य और पद्य—इन दो भागों मे विभक्त किया है। सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्र श, इन तीन भाषाओ के भेद से उसके फिर तीन भेद किये हैं। तदनन्तर वर्ण्य-वस्तु के भेद से काव्य को चार भागो मे बाँटा गया है। स्वरूप के भेद से भामह ने काव्य के पुन चार भेद किये हैं। महाकवि दण्डी ने काव्य को 'गद्य', 'पद्य' एव 'मिश्र' इन तीन भागो मे विभक्त किया है तथा इन तीन भेदो के अनेक उपभेद किये गये है। माध्यम एव विषय के आधार के भेद से आचार्य वामन ने काव्य का वर्ग-विभाजन दो प्रकार से किया है। माध्यम की दृष्टि से काव्य के दो भेद है—गद्य और पद्य। गद्य को कवियो की कसौटी कहा जाता है।

विषय की दृष्टि से वामन ने गद्य-पद्यमय काव्य के दो भेद किये है—अनिवद्ध और निवद्ध। अनिवद्ध मुक्तक का अपर पर्याय है और निवद्ध के लिए काव्य शास्त्र मे प्रवन्ध शब्द प्रचलित है —वामन ने उसको सन्दर्भ काव्य भी कहा है।

'रुद्रट' ने काव्य के गद्य एव पद्य दो भेद किये हैं। तदनन्तर भाषाओ के आधार पर पुन उसके छ भेद किये गये हैं। उन्होने प्राकृत, सस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी एव अपभ्र श इन भाषाओ को काव्य की भाषा माना है।

आचार्य हेमचन्द्र ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किये हैं, पुन उन्होने दृश्य और श्रव्य के भी अनेक भेदोपभेद प्रस्तुत किये हैं।

उन्होने काव्य के लिए सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श एव ग्राम्यापभ्र श इन चार भाषाओ को स्वीकार किया है।

'विश्वनाथ' ने काव्य को दृश्य एव श्रव्य इन दोनो वर्गों मे विभक्त किया है[2]। उन्होने दृश्य-काव्य के अन्तर्गत रूपक एव उपरूपको को तथा श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत गद्य और पद्य का परिगणन किया है।

इसके अतिरिक्त भारतीय वाङ्मय को दो और भागो मे भी विभक्त किया गया है —(१) श्रुति एव (२) स्मृति।

इन दोनो मे कोई मौलिक अन्तर विशेष नही है। इनका दैवी उद्गम माना गया है। कालिदास के अनुसार स्मृति श्रुति के अर्थ का अनुसरण करती है– "श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।"[3]

---

१ "श्रव्य चैवाभिनेय च प्रकीर्ण सकलोक्तिभि ।" अग्नि पुराण ३३७, ३७

२ साहित्य दर्पण—६ परिच्छेद।

३. रघुवश—२, २।

अन्तर केवल इतना ही है कि श्रुति की दैवी अभिव्यक्ति मानी गयी है परन्तु स्मृतियो की रचना प्राचीन महर्षियो के द्वारा की गयी है ।

लौकिक सस्कृत मे नीति के तत्त्व अनायास ही दृष्टिगोचर हो जाते हैं । आदि काव्य रामायण मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र से सम्बन्धित होने के फलस्वरूप आदर्श जीवन, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी, आदर्श सेवक एव आदर्श राजा की रीति-नीति के अत्यन्त सुन्दर रूप से नितराम् आप्लावित है । इसके अतिरिक्त जीवन की विभिन्न स्थितियो एव व्यवस्थाओ से सबन्धित नीतियाँ एव सूक्तियाँ यत्र–तत्र–सर्वत्र उपलब्ध हो जाती है ।

सस्कृत काव्य मे नीति पीठिका

नीति की दृष्टि से महाभारत का भी कुछ कम महत्त्व नही है । महाभारत को नीति के अक्षय एव अनुपम भाण्डागार के रूप मे समादृत किया गया है । वह नीति-शास्त्र का विश्व कोष है । धौम्य नीति, विदुर नीति, भीष्म नीति तथा विदुलोपाख्यान आदि महाभारत की ही अत्यन्त श्लाघनीय सम्पत्ति है । राजनीति के मूल स्रोत के रूप मे आज भी शान्ति पर्व का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान हैं । लोक नीति, व्यवहार नीति, राजनीति एव धर्म नीति आदि सभी दृष्टियो से यह ग्रन्थ एक अपूर्व स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है ।

महाभारत मे नीति-सम्बन्धी उक्तियाँ अनेक प्रकार से वर्णित है —

१ कही-कही नीति-ग्रन्थो के समान ही सामान्य उक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, जो प्रसग वश यत्र-तत्र-यथावसर स्वत ही आ गयी है ।

२ कही-कही सवाद के रूप मे नीति सम्बन्धी तथ्यो का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनके द्वारा नैतिकता की ओर अग्रसर करने के उपदेश दिये जाते है ।

३ कुछ नीतियाँ जातको एव पञ्चतन्त्र मे वर्णित कथाओ के समान नीति कथाओ के रूप मे कही गयी हैं । महाभारत का शान्तिपर्व एव अनुशासन पर्व इस प्रकार की कथाओ से आप्यायित है ।

रामायण एव महाभारत के अतिरिक्त कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ आदि द्वारा रचित महा काव्यो, भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति आदि के नाटको एव मुक्तक ग्रन्थो मे भी नीति-सम्बन्धी तथ्य यत्र-तत्र सभी स्थानो पर प्राप्त होते है ।

जिस प्रकार सस्कृत-काव्य नैतिक आदर्शो का भण्डार है उसी प्रकार यह एक मानव-समाज के आचार-विचार का भी लेखा-जोखा है । उसके प्रत्येक पृष्ठ पर तत्कालीन युग की सामाजिक, राजनीतिक, आचार-सम्बन्धी एव नैतिक परिस्थितियो पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बिखरी पडी है । तत्कालीन आर्य

एव अन्य जाति के लोगो के आचार-विचार, आहार-व्यवहार रीति-रिवाज, कला-कौशल, लौकिक एव पारलौकिक महत्त्वाकाक्षा आदि का विवेचन यदि सस्कृत-काव्यो मे ढूँढा जाय तो निश्चय ही हमारा यह अध्ययन अत्यन्त रोचक, हृदय-ग्राही, एव ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा ।

नीति एव व्यवहार

मानव व्यवहार के क्षेत्र मे निरपवाद नैतिक सिद्धान्त अथवा आदर्श प्राप्त नही किये जा सकते । यहाँ कहने का यह तात्पर्य नही है कि विचारको एव मनीषियो द्वारा जिन सामान्य नियमो का उद्घाटन होता है वे व्यक्तियो तथा समाजो के लिए जीवन के दिशा-निर्धारण मे सहायक नही होते किन्तु यह सत्य है कि वैसे नियम एव सिद्धान्त यथार्थ जीवन मे निरपवाद रूप मे सर्वमान्य नही हो सकते । और यह मान्यता कि नैतिकता के नियम निरपवाद रूप मे सत्य होते है, प्राय मानव-प्रगति मे बाधक सिद्ध होती है । उदाहरण के लिए एक दु ख पूर्ण नाटकीय स्थिति मे नारी के समक्ष एक प्रश्न आ सकता है कि वह अपने पति के जीवन की रक्षा करे अथवा अपने पुत्र की अथवा भ्राता की । इस प्रकार के अवसरो के लिए कोई ऐसा नियम नही बतलाया जा सकता, जो बिना सोचे विचारे माना जा सके ।

विधि एव निषेध

निषेध

मानव समाज मे नैतिक व्यवहार के नियमन के लिए अथवा उसके नियामक दो सिद्धान्त माने गये हैं । प्रथम नियामक सिद्धान्त इस उक्ति मे निहित है कि दूसरो के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम अपने प्रति कराना चाहते हो । इस उक्ति का अर्थ मुख्यत निषेधात्मक है, न कि भावात्मक । इसका अभिप्राय यह हुआ कि दूसरे के ऊपर वैसी अनुभूतियाँ न लादो जिन्हे, उन दूसरो की स्थिति मे तुम अपने लिए अरुचिकर समझते हो । इससे मिलती जुलती महाभारत के शान्ति पर्व की निम्न उक्ति निषेधात्मक अर्थ को अभिव्यक्त करती है—

"आत्मन. प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ।"

अर्थात् जो वस्तु अपने प्रतिकूल पडती हो, उसे दूसरे के प्रति व्यवहार मे नही लाना चाहिए ।

ऊपर जिस नियम का उल्लेख किया गया है उसका प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रयोग करने वाला स्वय को उस स्थिति मे रख सके, जिसमे कोई अन्य व्यक्ति है । स्पष्ट ही इस व्यापार मे कल्पना की नितान्त अपेक्षा है । वह व्यक्ति जिसकी कल्पना शक्ति पर्याप्त प्रवुद्ध नही है तथा स्वय

को दूसरो की स्थिति मे प्रतिष्ठित नही कर सकता वह सफलतापूर्वक व्यवहार नही कर सकता ।

विधि

नैतिकता का दूसरा नियम भावात्मक अथवा विधि-रूप है। इस नियम को इस प्रकार प्रगट किया जाता है। "मनुष्य को यथा शक्ति निर्वैयक्तिक प्रकार से स्वतन्त्र अथवा अर्थवान् जीवन-क्षणो के उत्पन्न करने का प्रयास करना चाहिये।" अर्थात् दूसरे प्राणियो की अनिवार्य आवश्यकताओ को पूरा करके उनकी स्वतन्त्रता की वृद्धि के द्वारा उन्हे सुखी बनाना चाहिये। तात्पर्य यह है कि मनुष्य दूसरो की वैध आवश्यकताओ की पूर्ति करके सर्व सुख की मात्रा मे अभिवृद्धि कर सकते है।

यही कारण है कि भारत के प्राचीन विचारको एव धर्मात्मा पुरुषो ने मुख्यत आत्म-नियन्त्रण की शिक्षा देकर एव मनुष्यो को दुर्वासनाओ के प्रभाव से मुक्ति दिलाकर उन्हे स्वतन्त्र एव सुखी बनाने के लिए सदैव चेष्टा की है।

वस्तुत सत्य का अनुसन्धान तथा चिन्तन की सृष्टियाँ निर्वैयक्तिक रूप मे अर्थवती होती है। किसी व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से तब तक श्रेष्ठ नही कहा जा सकता जब तक उसके चिन्तन के पीछे मानव जाति के कल्याण की सचेत भावना न हो।

नैतिक-व्यवस्था की प्रतिष्ठा करने की ओर सस्कृत काव्य का झुकाव स्पष्ट है। विधि एव निषेध के रूप मे सामाजिक कर्त्तव्यो को ध्यान मे रखते हुए विविध मान्यताएँ एव विचार सस्कृत काव्यो मे अनायास ही उपलब्ध होते हैं, विशेषत भारतीय धर्मशास्त्र इन उक्तियो से पूर्णतया ओत प्रोत है।

व्यक्ति और समाज

सामाजिक जीवन मे यह जिज्ञासा उत्पन्न होना नितान्त स्वाभाविक है कि व्यक्ति समाज के लिए किस प्रकार का त्याग करे ? क्यो वह अपने साथियो के लिए कष्ट उठावे ? कहा जाता है कि इस प्रकार का त्याग करना नैतिक दृष्टि से वाछनीय है किन्तु यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि नैतिक व्यवहार वह व्यवहार है, जो किसी अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक हो। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भला आत्मत्याग द्वारा कौन से लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है ?

इन समस्याओ का समाधान मनुष्य की सामाजिक प्रकृति के विवेचन द्वारा प्राप्त कर सकते है। यह देखा जाता है कि जो मनुष्य जितना ही अधिक साधु-प्रकृति होता है, उसे उतना ही अधिक आनन्द प्राप्त होता है। यह भी अनुभव किया गया है कि मनुष्य को दूसरे ऐसे जीवो की सनिधि, जो उसके मित्र हैं,

अथवा कम से कम शत्रु नही है, स्वास्थ्यकर प्रतीत होती है। एक ओर तो वह दूसरो के अनुभवो एव सवेदनाओ को ग्रहण करके अपने अस्तित्व का प्रसार करता है दूसरी ओर वह यह चाहता है कि उसकी अर्थवती अनुभूतियाँ दूसरे व्यक्तियो के द्वारा ग्रहण की जायँ एव प्रशसा की पात्र हो। सामाजिक जीवन मनुष्य को एक सीमा तक आत्म-नियन्त्रण की शिक्षा देता है। ऐसा होने से मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास होता है।

विश्व की एकता की भूमिका भारत की समन्वयात्मक संस्कृति मे निहित है। भारत मे विभिन्न विचारो, मतो, धर्मों एव विभिन्न संस्कृतियो मे पूरा सामञ्जस्य स्थापित किया गया। विभिन्न समस्याएँ प्रादुर्भूत हुई और स्वत ही विलीन हो गयी। इन समस्याओ का निदान भारतीय–सस्कृति के मूल मे दृष्टि-गोचर होता है। वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक दृष्टि दौडा जाइये, भारतीय सस्कृति की जो एक विशेषता उसके साथ अविच्छिन्न रूप से वर्तमान रहती है, वह उसकी अहिंसा प्रियता है। अनन्त काल से भारत अहिंसा की साधना मे लीन रहा है, सहिष्णुता उसका शीतल प्रदेश है और उदारता उसकी उज्वल ज्योति।

रामायण का प्रादुर्भाव ही काम मोहित क्रौञ्च-युगल के व्याध द्वारा विद्ध किये जाने पर महर्षि वाल्मीकि के मुख से काव्य की स्रोतस्विनी के रूप मे हुआ[1] और विरहातुर पक्षी के करुण क्रन्दन से उद्भूत दया के आविर्भाव से महाकवि की वाणी की सतत प्रवाहिनी धारा राम-काव्य के रूप मे प्रस्फुटित हुई।

भारत की अहिंसा-साधना जैन-धर्म मे अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और जैन-धर्म मे भी अहिसा का उच्चतम शिखर अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद हुआ। अनेकान्तवादी वह है जो दुराग्रह नही करता तथा दूसरो के मतो को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। सहिष्णुता, उदारता, अनेकान्तवाद और अहिंसा, ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं।

नारी

भारत मे नारियो को सहिष्णुता एव उदारता की प्रतिमूर्ति माना गया है। वह सृष्टि के आरम्भ से ही पुरुष के लिए कुतूहल एव आकर्षण का विषय रही है। पुरुष ने नारी के सम्बन्ध मे बहुत सोचा एव विचारा है, अपने मनोभावो को अनेक रूपो मे व्यक्त किया है। विश्व के किसी भी साहित्य पर दृष्टिपात करके देखा जाय तो नारी के विषय मे आवश्यकता से अधिक सामग्री उपलब्ध हो जायगी।

---

१. "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगम शाश्वती. समा।
यत्क्रौंच मिथुनादेक मवधी काम मोहितम्।" रामायण–बालकाण्ड–२, १५.

नारी प्रकृति की विभूति है, वह विश्व की शोभा है, एव पुरुष की दु ख-सुख की सगिनी, तथापि पुरुष का सामान्य दृष्टिकोण उसके प्रति क्यो विकृत है, यह विचारणीय विषय है।

नारी के प्रति विकृत दृष्टिकोण के मूल मे दो तथ्य दृष्टिगोचर होते है। एक तो है नारी का स्वभाव और दूसरा पुरुष की उसके प्रति दृष्टि। कोमलता, उत्सर्ग शीलता एव स्नेह-सिक्तता के साथ-साथ नारी के स्वभाव मे भाव प्रवणता है। भावातिरेक के कारण एक क्षण मे पिघलना और दूसरे क्षण कठोर होना उसके स्वभाव की विशेषता है। इस मानसिक असन्तुलन के कारण ही किसी प्रश्न पर उसकी प्रतिक्रिया के अनिश्चित होने से उसे दुर्बोध एव अविश्वसनीय कहा जाता है।

पुरुष के नारी के प्रति दृष्टिकोण के दो पक्ष है। उसकी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नारी से प्रभावित है और उस आकर्षण के प्रति पुरुष की दुर्बलता है। वह अपनी इस दुर्बलता को नारी पर आरोपित कर स्वय उससे मुक्त होना चाहता है। इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से नारी न केवल अनभिप्रेत है, प्रत्युत बाधक भी कही जाती है।

सब मिलाकर नारी के प्रति कुतूहल एव उत्सुकता के कारण काव्य-ग्रन्थो मे इस विषय पर सर्वाधिक विवेचन उपलब्ध होता है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए प्रस्तुत प्रबन्ध मे नारी विषयक नीतियो का अलग से निरूपण किया है।

राजनीति

वेश्या नारी की भाँति राजा की राजनीति कभी सत्य वादिनी कभी असत्य वादिनी, किसी समय कठोर एव किसी समय प्रिय वचन बोलने वाली, कभी दयालु, कभी हिंस्र, कभी धन लुटाने वाली तो कभी धन सचय करने वाली हुआ करती है।[1]

ऋग्वेद मे सम्राट् एव स्वराट् दोनो का उल्लेख मिलता है।[2] जो विधि के अनुसार अभिषेक करके राजा बनाया गया हो, उसे सम्राट् कहा जाता है। परम शक्तिशाली एव परमैश्वर्य से युक्त होने के कारण 'इन्द्र' को सम्राट् माना जाता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'सम्राट्' पद का अधिकारी मूर्धाभिषिक्त, एकछत्र एव परम-शक्ति-सम्पन्न शासक होता होगा। 'सम्यक् राजते इति सम्राट्' इस व्युत्पत्ति से उत्कृष्ट तेजस्विता से परिलुप्त एव ओज से आप्लावित वीर-पुरुष ही 'सम्राट्' कहलाने योग्य है।

---

१ सत्यानृता च परुषा प्रियवादिनी च हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुर नित्य धनागमा च वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।"
भर्तृहरि शतक, पृष्ठ ४६।

२ ऋग्वेद—७, ५, ४२

शुक्र नीति मे सामन्त, माण्डलिक, राजा, महाराजा, स्वराट्, सम्राट्, विराट् एव सार्वभौम आदि का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। भारत मे राज्याभिषेक का प्रचलन वैदिक काल से चला आ रहा है। वेदो, ब्राह्मण ग्रन्थो एव पुराणो मे राज्याभिषेक सम्बन्धी पर्याप्त विवरण मिलते हैं। राज्याभिषेक का प्रधान कृत्य 'ऐन्द्र महाभिषेक' कहलाता था। ऐन्द्र महाभिषेक से पूर्व क्षत्रिय को श्रद्धा पूर्वक यह शपथ लेनी पडती थी [1] कि यदि वह प्रजा का सम्यक् पालन नही करे तो वह पुण्य, धर्म एव आयु से वचित कर दिया जाय। अन्त मे पुरोहित राजा को 'समृद्धि वर्धक' खड्ग देता था। वस्तुत भारतीय परम्परा के अनुसार मूर्धाभिषिक्त सम्राट् के राज्यभिषेक को ही विशेष महत्त्व दिया जाता है।

रण नीति

युद्ध और सधियो के द्वारा राज्य का विस्तार कर प्रभुसत्ता का विकास करना वीर क्षत्रियो की समुचित महत्त्वाकाक्षा मानी जाती है। दिग्विजय, अश्वमेध और चक्रवर्ती जैसे शब्द भी सम्राटो के राज्य विस्तार की भावना एव विजय-लिप्सा को प्रदर्शित करते है। भारतीय परम्परा मे सम्राटो का आदर्श ही अश्वमेध रहा है, और वे चार समुद्रो से आवृत पृथ्वी को विजय करना अपना धर्म मानते थे।

भारतीय युद्धनीति की उल्लेखनीय विशेषता है– उसके 'धर्म-युद्ध'। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार युद्ध के समय भी कृषक-वर्ग शिविर के समीप नि शक होकर रह सकें, ऐसी व्यवस्था आवश्यक है।

धर्म-युद्ध मे प्राण देने के महत्त्व का गुण-गान भारतीय सस्कृति की अपनी विशेषता है। 'धर्म-युद्ध मे मरने पर स्वर्ग और जीतने पर पृथ्वी भोग प्राप्त होगा' गीता[2] के इस वाक्य ने न जाने कितने वीरो को 'सत्' के लिए अपना बलिदान देने को प्रेरित किया।

धर्म-प्राण भारतीय सस्कृति मे नीति की धारा भली भाँति पुष्पित एव पल्लवित हुई। व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति ने नीति के विकास के लिए उपयुक्त धरातल प्रस्तुत किया। यही कारण है कि भारत मे साधुता अथवा धर्म मूलक व्यवहार को भी गौरव दिया गया है, जिसका उद्देश्य यही माना गया है कि स्वार्थ-वृत्तियो के उन्मूलन तथा निम्न-प्रवृत्तियो के शोधन द्वारा आत्म-शुद्धि हो। मानव प्रकृति का विस्तार परिष्कार ही वे लक्ष्य हैं, जिन के आधार भव्य-समाज का निर्माण सम्भव है।

---

१ ऐतरेय ब्राह्मण–८, ११

२–श्रीमद् भगवद्गीता–२, ७.

पूर्ववर्ती भारतीय वाङ्मय में नीति-तत्त्व

पूर्ववर्ती भारतीय वाङ्मय में नीति-तत्त्व

भूमिका के रूप मे, नीति एव काव्य आदि का पर्याप्त विवेचन किया जा चुका है। नीति-पादप, जो सस्कृत काव्य मे पुष्पित एव पल्लवित दृष्टिगोचर होता है उसका प्राङ्कुरण तो वैदिक साहित्य मे ही हो चुका था। उसके मूल मे गम्भीरता और प्रौढता थी तथा उसी ने सस्कृत साहित्य मे विस्तार एव प्रसार प्राप्त किया। अतएव सस्कृत साहित्य के नीति-तत्व की सम्यक् विवेचना के लिए उसकी पीठिका-वैदिक साहित्य पर विहंगम दृष्टिपात भी अपेक्षित है। इसमे न केवल प्रस्तुत विषय की पृष्ठभूमि ही हमारे दृक्पथ मे आ सकती है अपितु उसके मूल की विविध सरणिया भी व्यक्त हो सकती हैं।

वैदिक साहित्य के परिमाण, प्रमाण एव परिणाम से शायद ही कोई विद्वान् अपरिचित हो। उसका प्राचुर्य उसकी अनेक शाखा-प्रशाखाओ मे दृष्टिगोचर होता है। उसका प्रमाण न केवल परवर्ती धार्मिक ग्रन्थो से अपितु उसके अनेक उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है, एव परिणाम की दृष्टि से भी वह अनेक धर्मों एव साहित्यिक रचनाओ का स्रोत रहा है। उसने न जाने कितने प्रतिक्रियावादी सम्प्रदायो को प्रेरणा दी और न जाने कितने साहित्यिक मतवादो को अपने मौलिक दृष्टिकोणो से परिपालित किया। इन सब वैदिक शाखा प्रशाखाओ मे प्रवेश करना न तो यहा सम्भव है और न अपेक्षित ही है, अतएव अपने विषय के स्रोतो की ओर केवल सकेत मात्र प्रस्तुत कियेगये हैं। इससे वैदिक साहित्य का विवेचन केवल साकेतिक रहा है।

भारतीय वाङ्मय को सामान्यत. दो भागो मे विभक्त किया गया है—

१—वैदिक साहित्य
२—लौकिक साहित्य

भारतीय नीति काव्य के विकास मे न केवल सुव्यवस्थित एवं सुविस्तृत वाङ्मय के बहुमुखी एवं व्यापक प्रभाव के कारण अपितु धार्मिक, सामाजिक एव व्यावहारिक जीवन

मे अपने शाश्वत प्रभाव के कारण भी भारतीय साहित्य मे वैदिक-वाङ्मय का निर्विवाद रूप से अत्यधिक महत्त्व रहा है ।

ऋत और सत्य

वैदिक आदर्शों का मौलिक आधार ऋत और सत्य की व्यापक भावना है। उसे ही वैदिक आदर्श-सिद्धान्तो की जननी माना जाता है । इस प्रकार ऋत एव सत्य के सिद्धान्त का अभिप्राय सारे विश्व प्रपच मे व्याप्त नैतिक आधार से है । वाह्य-जगत् की समस्त प्रक्रिया विभिन्न प्राकृतिक नियमो के अधीन प्रचलित हो रही है तथा उसमे जो परस्पर एकरसता है, वही ऋत के नाम से बोधित होती है । यद्यपि यह कहा जाता है कि वैदिक वाङ्मय का नीति अथवा उपदेश से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है, 'विण्टर निट्ज' के अनुसार ऋग्वेद जो कुछ भी हो उपदेशात्मक पुस्तक नही हैं ।[1] किन्तु वैदिक साहित्य मे नीति को व्यक्त करने का प्रकार प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष है । ऋत, सत्य आदि श्रेष्ठ तत्त्वो का प्रतिपादन कर उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करना इनका प्रमुख ध्येय है । मानव-जीवन को प्रेरणा प्रदान करने वाले जो भी नैतिक आदर्श अ गीकृत किये गये है उन सबका आधार सत्य है । अपने वास्तविक स्वरूप के प्रति सत्य निष्ठ होना-यही कर्तव्य का उत्कृष्ट आदर्श है । जिस प्रकार पुष्पो मे सुगन्धि एव तिलो मे तेल व्याप्त रहता है उसी प्रकार ऋत और सत्य की यह भावना वैदिक [2] वाङ्मय मे ओत प्रोत है ।

---

१. The Rigveda is evary thing but a Text Book of Morals' A History of Indian Literature Vol 1, (1927) page 115.

२ ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसो ऽ ध्यजायत । ऋग्वेद—१०, १९०, १.
ऋतेन मित्रा वरुणा वृता वृथा वृत स्पृशा । ऋग्वेद—१, २, ८.
ऋतेन ऋत नियत भीले ।ऋग्वेद—४, ३, ९,
ऋतस्य तन्तु विततः । ऋग्वेद—९, ७३, ९
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति । ऋग्वेद—१०, ८५, १
स मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः । ऋग्वेद—१०, ३७, २.
सत्य वदन् सत्य कर्मन् । ऋग्वेद—९, ११३, ४.
सत्य मुग्रस्य वृहतः । ऋग्वेद—९, ११३, ५.
इदमहममृतात्सत्यमुपेमि । यजुर्वेद—१, ५,

> ऋतस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीर्, ऋतस्य धीति वृजनानि हन्ति ।
> ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द, कर्णा बुधान. शुचमान आयो: ।[1]

सत्य

इसी तरह सत्य के विषय मे भी गहन एव अक्षुण्ण आस्था वेदो मे स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होती है । सृष्टि कर्ता परमेश्वर ने सत्य एव असत्य के रूपो का अवलोकन कर उन्हे पृथक् पृथक् कर दिया है । श्रद्धा की पात्रता सत्य मे तथा अश्रद्धा की पात्रता असत्य मे उपलब्ध होती है ।

> दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापति· ।
> अश्रद्धामनृते ऽ दधाच्छ्द्धा सत्ये प्रजापति ।[2]

इसके अतिरिक्त व्रत-नियम आदि से भी सत्य की उपलब्धि होती है । व्रत से मनुष्यको दीक्षा अर्थात् उन्नत जीवन की योग्यता प्राप्त होती है दीक्षा से दक्षिणा अर्थात् प्रयत्न की सफलता प्राप्त होती है । दक्षिणा से अपने जीवन के आदर्शो मे श्रद्धा एव श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है ।

> व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम् ।
> दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।[3]

ऋग्वेद में प्रार्थनाओ के द्वारा ऐसी कामना की गयी है कि वे वाणी मे सत्य को अधिष्ठित करें[4] और सदैव तत्परता के साथ सत्य को ही अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य बनालें ।[5]

---

१ ऋग्वेद—४, २३, ८, (ऋत अनेक प्रकार की सुख एव शाति का स्रोत है । ऋत की भावना पापो को नष्ट करती है । मनुष्य को उद्बोधन एव प्रकाश देने वाली ऋत की कीर्ति बहरे कानो मे भी पहुच जाती है ।)

२ यजुर्वेद—१९, ७८,

३ यजुर्वेद—१९, ३०

४. "वाच: सत्यमशीय ।" यजुर्वेद—३९, ४.

५. "सत्यं च मे श्रद्धा च मे.... .यज्ञेन कल्पन्ताम् ।" यजुर्वेद—१८, ५.

ऋत और सत्य की यह भावना ही वास्तव मे अन्य वैदिक आदर्श भावनाओ को जन्म देने वाली है। इस समस्त ससार का सचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, यह धारणा मनुष्य मे स्वभावतः समुज्ज्वल-आशावाद, पवित्रता, भद्र भावना एव आत्म विश्वास को उत्पन्न किये बिना नही रहती।

आशावाद

भारतीय विचारधारा मे प्राचीन काल से "ससार असार है," "जीवन क्षण भगुर एव मिथ्या है," आदि निराशावादी भावनाओ का आधिपत्य रहा है। मानव जीवन को शक्तिहीन, उत्साहहीन, एव आदर्श हीन बनाने मे इस प्रकार के निराशावाद का कितना योग दान रहा है इससे सभी परिचित हैं। निराशा से अभिभूत मानव जीवन की किसी भी समस्या को सुलझाने मे असमर्थ होता है। वैदिक धर्माचरण का समग्र आधार ही आशावाद पर प्रतिष्ठित है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य को अपने जीवन मे पूर्ण आस्था रखते हुए उत्तरोत्तर उन्नति को ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाना चाहिये एव उत्साहपूर्वक समस्त विघ्न बाधाओ पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

वैदिक वाङ्मय आशावाद की उत्साहमय, ओजपूर्ण एव उल्लासमय भावनाओ से ओत प्रोत है।

कृधी न ऊर्ध्वाञ्च रथाय जीवसे।[1]

ऋग्वेद मे आर्यो की इस कामना के दर्शन होते है कि वे सदैव प्रसन्न चित्त रहते हुए उदीयमान सूर्य का अवलोकन करें।

"विश्वदानी सुमनस स्याम।
पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्।[2]

यजुर्वेद की इस भावना से कौन अपरिचित होगा कि मनुष्य मात्र सौ वर्ष

---

१ ऋग्वेद—१, ३६, १४, (भगवन्, जीवन की इस अपार यात्रा मे हमे समुन्नत करे।

२. ऋग्वेद—६, ५२, ५.

तक अथवा उससे भी अधिक समय तक दैन्य-भाव से मुक्त रह कर जीवित रहें।

अदीना स्याम शरदः शतम्,
भूयश्च शरद शतात्।[1]

इसके अतिरिक्त अथर्व वेद[2] मे एक स्थान पर वे यह प्रार्थना करते हुए दृष्टि पथ मे आते हैं कि उनकी सन्तान वीर हो तथा वे अपने पूर्ण जीवन को प्रसन्नतापूर्वक सुख एव समृद्धि के साथ व्यतीत कर सकें।

उत्साहमय एव ओजपूर्ण जीवन के इस सुन्दर चित्र की ओर दृष्टि पडे बिना नही रह सकती—

"तेजो ऽ सि तेजो मयि धेहि।
वीर्य मसि वीर्य मयि धेहि।
बलमसि बल मयि धेहि।
ओजोस्योजो मयि धेहि।
मन्युरसि मन्यु मयि धेहि।
सहो ऽ सि सहो मयि धेहि।[3]

अपने आराध्य देव से की गयी इस प्रार्थना मे तेज, वीर्य, बल, ओज एव अनौचित्य के प्रति उत्पन्न होने वाले क्रोध एव विरोधी पर विजय पाने के हेतु की गई शक्ति की कामना जीवन के प्रति आशावादी दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है।

जीवन के सम्बन्ध मे जैसी गहन एव तीव्र आस्था वैदिक-वाङ्मय मे उपलब्ध होती है, वैसी ससार के किसी अन्य साहित्य मे नही। उसमे यह कामना सदैव जाग्रत रहती है कि मानव अपनी पूर्ण आयु को प्राप्त करे, आजीवन ज्ञानोपार्जन मे सलग्न रहे, पुष्टि एवं दृढता को प्राप्त करते हुए आनन्दमय जीवन व्यतीत करे तथा समृद्धि, ऐश्वर्य एवं गुणो के द्वारा स्वयं को भूषित करे—

---

१. यजुर्वेद—३६, १४।

२. मदेम शत हिमा सुवीरा'। अथर्ववेद—२०, ६३, ३.

३. यजुर्वेद—१६, ६.

पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् ।
बुध्येम शरदः शतम् । रोहेम शरदः शतम् ।
पूयेम शरदः शतम् । भवेम शरदः शतम् ।
भूयेम शरद शतम् । भूयसी शरदः शतात् ।[1]

मानव-जीवन मे एक नवीन स्फूर्ति एव नवीन उल्लास का सचार करने वाले ऐसे ही अमृतमय प्राण-सजीवन वचनो से सारा वैदिक वाङ्मय ओतप्रोत है ।

पवित्रता

मानव जीवन मे आशावाद के सचार स्वरूप पवित्रता की भावना का सचार होता है । मानव-जीवन की पूर्ण विकसित अवस्था मे मनुष्य अपने जीवन की सफलता का मूल्याकन लौकिक पदार्थों या ऐश्वर्य की प्राप्ति मे उतना नही करता जितना कि वह अपने भावो की पवित्रता और चरित्र की दृढता मे करता है । यह अन्तः परीक्षण या आत्म परीक्षण ही उन्नति का मूल होता है । हमारे धार्मिक एव नैतिक कर्मो का महत्त्व हमारे भावो की पवित्रता पर निर्भर रहता है । पाप का उन्मूलन, सच्चरित्रता की प्राप्ति एव पवित्र सकल्पो आदि की प्रार्थना के रूप मे पवित्रता की उत्कृष्ट भावना वैदिक साहित्य की अमूल्य निधि है । यजुर्वेद मे ऐसी प्रार्थना मिलती है, जिसमे यह कामना की गई है कि सर्व-व्यापक देव मानव को पवित्र करे, तथा अन्य सभी देवगण एव अन्य पदार्थ उसकी पवित्रता की भावना को सबल एव परिपुष्ट होने मे सहायता करें—

"पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनश्रवा धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि जात वेद पुनातु मा ।[2]

अथववेद मे पवमान से बुद्धि, शक्ति एव सुन्दर जीवन के लिए पवित्रता की प्रार्थना की गई है ।

"पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथौ अरिष्ट तातये ।"[3]

इसी प्रकार पवित्रता की भावना के साथ ही साथ चरित्र शुद्धि की कामना का भी समन्वय वेद मे अनेक स्थलो पर दृष्टिगोचर होता है ।

---

१ अथर्ववेद—१९, ६७, १-८

२. यजुर्वेद—१९, ३९. तथा वही १९, ४३ 'मा पुनीहि विश्वत ।'

३ अथर्ववेद—६, १९, ६.

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्र तन्न आसुव ।"[1]

पाप-मुक्ति एव निष्पाप-भावना की गहन ध्वनि अनेकश: वेद मन्त्रो मे प्रतिध्वनित होती है । ऋग्वेद की एक सुन्दर गीतिका मे पापो को भस्म करने की भावना का यह प्रवाह वैदिक-वाङ्मय धारा की अद्वितीय विशेषता है ।

अप न: शोशुचदघ मग्ने शुशुग्ध्यारयिम् ।
अप न: शोशु चदघम् ।[2]

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे ।
अप न. शोशुचदघम् ।[3]

प्रयत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्रते वयम् ।
अपन: शो शुचदघम् ।[4]

पवित्रता की भावना एव स्वयं को निष्पाप बनाने की उत्कट कामना से परिप्लुत ऐसे ही शतश: मन्त्र वैदिक-वाङ्मय की अनुपम एव शाश्वत निधि है । नैतिक

---

१ यजुर्वेद—३०, ३ तथा वही ४, २८.

२ ऋग्वेद—१, ९७, १. (हे प्रकाश स्वरूप देव ? हमारे पापो को भस्म कर हमारी सद्गुण-सम्पत्ति की वृद्धि कीजिये । हम बार बार प्रार्थना करते हैं कि हमारे पापो को भस्म कीजिये ।)

३, ऋग्वेद—१, ९७, २. (उन्नति के लिए समुचित क्षेत्र, जीवन यात्रा के लिए सन्मार्ग और विविध ऐश्वर्यो की प्राप्ति की कामना से हम आपका भजन करते हैं । आप हमारे पापो को भस्म कीजिये ।)

४. ऋग्वेद—१, ९७, ४. (हे प्रकाश स्वरूप देव । आप हमारे पापो को भस्म कीजिये जिससे हम आपका गुणगान करते हुए जीवन मे उत्तरोत्तर समुन्नति को प्राप्त करें ।)

दुर्बलताओ से अभिभूत एव मोह ग्रस्त मानव के समक्ष वे मार्ग प्रदर्शक एव प्राण प्रद सूर्य के समान समस्त ससार को प्रकाशित करते हैं।

कर्तव्य भावना

कर्तव्य भावना भी पवित्रता की भावना की सहचरी है। इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव स्वभाव से ही सुख की अभिलाषा अथवा दुःख के भय से किसी कार्य मे प्रवृत्त या निवृत्त होता है। परन्तु वास्तविक कर्तव्य अथवा धर्म की भावना मे सुख दुःख की भावना का कोई स्थान नही होता। उसमे तो 'सुख दुःखे समे कृत्वा' के अनुसार वह विशुद्ध कर्तव्य बुद्धि से ही अपने काम को सम्पन्न करता है। यह कल्याण भावना भोगो मे लिप्त, ऐश्वर्य से गर्वित, इन्द्रिय-लोलुप अथवा समयानुसार अपना स्वार्थ सम्पन्न करने वाले आदर्श हीन व्यक्तियो के लिए नही है। इसके स्वरूप का अभिज्ञान उसे ही हो सकता है जिसके जीवन का सत्य बोलना, सयत जीवन विताना विपत्तियो मे भी कर्तव्य से विमुख न होना, प्रधान लक्ष्य है। ससार से निरपेक्ष या अनासक्त होकर कर्त्तव्य पालन करने मे ही उसके जीवन का सार्थक्य है, इसी मे उसकी पूर्णता निहित है।

यह मगल भावना मानव को सतत कर्त्तव्य शील बनाने के लिए प्रेरणा देती हुई वैदिक वाङ्मय मे सर्वत्र दृष्टि गोचर होती है।

"विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव।[1]
भद्र कर्णेभि· शृणुयाम देवा:
भद्र पश्येमाक्षभि र्य जत्रा·।[2]
भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि।[3]
भद्र भद्र न आभर।[4]

---

१. यजुर्वेद—३०, ३.
२. वही—२५, २१.
३. ऋग्वेद—१०, ३७, ६.
४. वही—८, ९३, २८.

वेदो मे इस भावना के दर्शन होते हैं कि मानव को भद्र एव कल्याणकारी सत्सकल्प सब प्रकार से अविचल रूप से प्राप्त हो, जिनको साधारण मनुष्य नही समझते पर ज्ञानवान् व्यक्ति को वे उत्तरोत्तर उन्नति की ओर अग्रसर करते हो।[3] भद्र-भावना का अनुसरण करते हुए सत्सकल्पो से समन्वित मानव को उत्तरोत्तर उन्नति एवं सन्मार्ग की ओर अग्रसर करना इनका चरम लक्ष्य दृष्टिगोचर होता है।

आत्म विश्वास

ऋत एव सत्य की भावना तथा आशावाद की भावना ही आत्म-सम्मान अथवा आत्म-विश्वास की भावना के रूप मे परिणत होती है। इस समस्त संसार का सचालन शाश्वत नैतिक आधार पर हो रहा है, और साथ ही मनुष्य के समक्ष उसकी असीम उन्नति का मार्ग निर्बाध रूप से खुला हुआ—है ऐसी धारणा मनुष्य के आत्म विश्वास की भावना को उत्पन्न किये बिना नही रहती।

इस आत्म-विश्वास की भावना के दर्शन वैदिक-वाङ्मय मे यत्र-तत्र-सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। मानव परिस्थितियो का दास नही बने रहना चाहता अपितु वह उनका स्वामी बनकर जीवन-यापन करना चाहता है। उसका अभीष्ट तो शत्रुओ पर विजय पाना है, उसका स्वय का पराभव कदापि सम्भव नहीं—

> अहमस्मि सपत्न हेन्द्र इवारिष्टो अक्षत ।
> अध. सपत्ना मे पदो रिमे सर्वे अभिष्ठिता: ।[1]

न उसे भय है और न उद्विग्नता ही।[2] जिस प्रकार द्युलोक, पृथ्वी लोक, सूर्य एव चन्द्रमा अपने अपने कर्तव्य का पालन करते हुए न तो भयभीत होते हैं और न ही उन्हें कोई हानि पहुचा सकता उसी प्रकार वह भी निर्भीकता एव दृढ विश्वास के साथ अपना जीवन व्यतीत करना चाहता है—

---

१. आनो भद्रा: क्रतवो यन्तु विश्वतो, दब्धासो अपरीतास उद्भिद: । यजुर्वेद—२५, १४.

२. ऋग्वेद—१०, १६६, २.

३. मा भै: । मा सविक्था. । यजुर्वेद—१, २३.

"यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभितो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा विभेः।"

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न विभितो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा विभेः । [1]

इस प्रकार आत्म-विश्वास की भावना के परिचायक एव परिपोषक शतशः मन्त्र वैदिक वाङ्मय की अक्षय एव अमूल्य निधि है ।

विश्व बन्धुत्व

आत्म-सम्मान अथवा आत्म-विश्वास विश्व-शान्ति एव विश्व-बन्धुत्व की भावना को अनुप्राणित करता है । वैदिक वाङ्मय परस्पर सौहार्द, मित्रता, साहाय्य एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना से पद-पद पर आप्लावित दृष्टिगोचर होता है । मानव मानव को ही क्या प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टि से देखना चाहता है:—

"मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।" [2]

मानव प्राणि मात्र की रक्षा एव सहायता करना अपना कर्तव्य मानता है । [3] सहायता अथवा सद्भाव के लिए पूर्व परिचय की अपेक्षा नही होती । चाहे उससे परिचय हो अथवा न हो पर वह तो उसके प्रति सद्भाव बनाये रखना चाहता है ।

याञ्च पश्यामि याश्चन तेषु मा सुमतिं कृधि ।" [4]

मानव मात्र के लिए सद्भावना एवं सौहार्द का हृदयानन्ददायक उपदेश देने वाले ऋग्वेद एवं अथर्ववेद के "सामनस्य सूक्त" ससार के समग्र वाङ्मय मे अद्भुत है ।

---

१. अथर्ववेद—२, १५, १–३

२. यजुर्वेद—३६, १८.

३. पुमान् पुमांस परिपातु विश्वत । ऋग्वेद—६, ७५, १४.

४. अथर्व वेद—१७, १, ७.

मानव मात्र सामाजिक सद्भाव से ओत प्रोत होकर पारस्परिक मित्रता एव सहानुभूति के साथ एक मत से अपना अपना कर्तव्य पालन करने की अभिलाषा धारण करता है।

सगच्छध्व सवदध्व स वो मनासि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे स जानाना उपासते । [1]

इस सर्वभूत-हित की भावना की धारा वैदिक वाङ्मय मे सतत प्रवाहशील होती दृष्टिगोचर होती है।

चातुर्वर्ण्य

भूत हित की भावना का प्रसार किसी एक विशिष्ट वर्ण के मानवो तक ही सीमित नही रहा, अपितु मनुष्य मात्र उसकी असीम सीमा मे आवद्ध हो गये। सभ्य एवं समुन्नत समाज रूपी शरीर मे चारो वर्णो का परस्पर गहरा सम्बन्ध माना गया है। शरीर का कोई भी अंग दूसरे अ ग की उपेक्षा नही करता तथा वह अपने लिए नही प्रत्युत दूसरे अ ग के हित को लक्ष्य मे रखकर ही काम करता है। "पुरुष सूक्त" मे चारो वर्णों मे परस्पर अङ्गाङ्गी भाव का सम्बन्ध बताते हुए विश्वव्यापी विराट् स्वरूप का वर्णन किया गया है। ब्राह्मण इस विराट् पुरुष का मुख स्थानीय है, क्षत्रिय बाहु स्थानीय है और वैश्य उरु स्थानीय है। शूद्र उस विराट्-स्वरूप के पैरो से उत्पन्न हुआ है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहूराजन्य. कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत । [2]

चारो वर्णों के पारस्परिक सम्बन्ध की इस आदर्श स्थिति की समता अन्य किसी साहित्य मे उपलब्ध नही होती। यजुर्वेद मे चारो वर्णों के लिए समान रूप से दीप्ति की कामना की गई है। [3] मानव मात्र मे दीप्ति का सचार हो तथा सभी उत्कृष्ट प्रेम को प्राप्त कर सकें:—

---

१. ऋग्वेद—१०, १९१, २.

२. ऋग्वेद—१०, ९०, १२.

३. रुच नो धेहि ब्राह्मणेपु रुच राजसु न स्कृधि ।
रुच विश्येपु शूद्रेपु मयि धेहि रुचा रुचम् । यजुर्वेद—१८, ४८.

"प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ।[1]

चतुर्वर्णों के प्रति कल्याण एव सर्व-हित की भावना का आदर्श वैदिक वाङ्मय मे अपना अनुपम स्थान रखता है । किसी एक वर्ग के लिए नही अपितु सम्पूर्ण समाज एव प्राणि मात्र के प्रति विश्वास एव प्रेम के उस वातावरण मे सकीर्ण भावना के चिन्ह भी नही है ।

आश्रम

वर्ण व्यवस्था के समान ही आश्रम व्यवस्था का उत्कृष्ट एवं आदर्श रूप वैदिक वाङ्मय की अक्षय निधि है । ब्रह्मचर्य एव गृहस्थ आश्रम के सम्बन्ध मे वेद-मन्त्रो मे जो उत्कृष्ट एव भव्य विचार प्रगट किये गये है उन्हे हम भारतीय मनीषियो के ज्ञान का अक्षुण्ण भण्डार कह सकते हैं ।

ब्रह्मचर्य

वेद के अनेकानेक मन्त्रो मे ब्रह्मचर्य एव गृहस्थ का अत्यन्त हृदय-स्पर्शी एव रोचक वर्णन मिलता है । ब्रह्मचर्य का यह उच्च आदर्श आज कल की अत्यन्त जटिल शिक्षा समस्या के लिए प्रेरणा एव सकेत प्रदान करने मे सहायक हो सकता है । ब्रह्मचर्य के द्वारा ही ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि होती है । श्रम एव तप. साधना से युक्त ब्रह्मचारी-जीवन ससार को दृढ एव बलशाली बनाकर उसका परिपोषण करता है—

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्बिभर्ति, तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोता. ।[2]
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया, श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ।[3]

---

१ अथर्व वेद—१६, ६२, १.

२ अथर्व वेद—११, ५, २४ (ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला ही तेजोमय ब्रह्म को धारण करता है और वह देवताओ से प्रकाश और शक्ति को प्राप्त करता है)

३. वही—११, ५, ४ (समिधा और मेखला द्वारा अपने व्रतो का पालन करता हुआ ब्रह्मचारी श्रम और तप के प्रभाव से लोकों को आपूरित करता है ।)

ब्रह्म चर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत,
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य· स्वरामरत् ।[1]

ब्रह्मचर्य और तप के प्रभाव से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करने मे समर्थ होता है एव आचार्य स्वय में शिक्षण की योग्यता को सम्पन्न करता है।[2]

अथर्व वेद के इस सूक्त मे राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति के लिए एव मानव-जीवन के विभिन्न कर्तव्यो के सफलता पूर्वक निर्वाह के लिए श्रम और तपस्या के द्वारा विद्याध्ययन की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। श्रम एव तपश्चर्या पर निर्भर ब्रह्मचर्याश्रम की यह उद्भावना नीति सम्बन्धी व्यापक दृष्टि का चूडान्त निदर्शन है। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध पिता पुत्र के सम्बन्ध से भी कही अधिक एव स्नेह मय होता था । ब्रह्मचारी श्रम एव तपस्या का जीवन व्यतीत करता हुआ आचार्य के स्नेह मूलक अनुशासन मे दत्त-चित्त होकर विद्योपार्जन करने का आदर्श प्रस्तुत करता था।

गृहस्थ

गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध मे उत्कृष्ट एव भव्य विचार ऋग्वेद एव अथर्ववेद के विवाह सम्बन्धी सूक्तो तथा 'सामनस्य सूक्तो' मे उपलब्ध होते हैं। सौभाग्य-समृद्धि के लिए वर वधू का पाणिग्रहण करता है तथा वधू को गृहस्थ के कर्तव्य पालन के प्रति सदा जागरूक एव सावधान रहने लिए कहता है। वर एव वधू दोनो ही सयम एव सच्चरित्रता का जीवन व्यतीत करते हुए अपने विकासोन्मुख मार्ग पर अग्रसर होते हैं –

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त, मया पत्या जरदष्टिर्यथास ।
मगो अर्यमा सविता पुरन्धि र्मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा ।[3]

---

१. अथर्ववेद—११, ५, १९. (ब्रह्मचर्य के तप से ही देवताओ ने मृत्यु पर विजय पा ली। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही इन्द्र ने देवताओ को दिव्य प्रकाशलाकर दिया।)

२. वही—११, ५, १७.

३. ऋग्वेद—१०, ८५, ३६ तथा
अस्मिन् गृहे गार्ह्य पत्याय जागृहि । ऋग्वेद—१०, ८५, २७. तथा
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके, अरिष्ठा त्वा सह पत्या दधामि । ऋग्वेद—१०, ८५, २४.

इसके अतिरिक्त गृहस्थ जीवन के लिए अनेक उपदेश इस सूक्त मे प्राप्त होते है, जो नारी के प्रति परवर्ती साहित्य मे उपलब्ध लज्जात्मक दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न हैं। इनमे स्त्री न तो नरक का द्वार है और न उपभोग की सामग्री ।

"सामनस्य सूक्तो मे भी गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित अनेक भव्य विचार व्यक्त किये गये हैं । पारिवारिक जीवन मे ऐक्य, सौहार्द एग सद्भावना का होना नितान्त आवश्यक है । पुत्र को माता पिता की आज्ञा का अनुसरण करना चाहिये, पत्नी को अपने पति के प्रति मधुर एवं स्नेहपूर्ण वाणी का व्यवहार करना चाहिये परिवार के सभी सदस्यो को एक मत होकर समान आदशो का अनुसरण करते हुए परस्पर स्नेह एव प्रेम का प्रसार करना चाहिये .—

"सहृदय सामनस्यमविद्वेप कृणोमिव:
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जात मिवाघ्न्या ।।
अनुव्रत. पितु. पुत्रो मात्रा भवतु समना. ।
जाया पत्ये मधुमती वाच वदतु शान्ति वाम् ।। [1]

भाई से भाई का प्रेम हो, बहिन बहिन से द्वेष न करे। सभी अपने अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मगलमयी वाणी का प्रसार करें । [2] पारिवारिक जीवन में स्वर्गीय सुख एव शाति लाने के लिए इससे सुन्दर अन्य उपदेश नही हो सकता । परवर्ती साहित्य मे चाहे पत्नी का सम्मान क्षीण हो गया परन्तु वैदिक वाङ्मय मे "जायेदस्तम्"[3] कहकर पत्नी को घर का निर्माण करने वाली एव उसका सर्वस्व कहा है ।

इसमे सन्देह नही कि गृहस्थाश्रम मे रहते हुए अपने कर्तव्यपालन मे मानव को त्याग, तपस्या, श्रम आदि के अत्यन्त कठिन व्रतो का पालन करना पडता है, अनेक प्रकार से राष्ट्र एव समाज की उन्नति तथा रक्षा के कार्य मे योग देना पडता है। इस जीवन मे महान् से महान् नैतिक आदर्शों के अनुसरण करने का अवसर प्राप्त है इसलिए वैदिक वाङ्मय के अनुसार आजीवन साथ रहकर गृहस्थ धर्म के महान् उत्तर दायित्व का

---

१. अथर्व वेद — ३, ३०, १-२,
२. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया । अथर्व वेद—३, ३०, ३.
३. ऋग्वेद—३, ५३, ४

निर्वाह करना ही पति पत्नी का उत्कृष्ट कर्तव्य है । गृहस्थाश्रम की यह उत्तरदायित्व पूर्ण भावना वर्तमान युग के आदर्श हीन गृहस्थ जीवन के लिए एक पावन सन्देश प्रदान करने मे समर्थ हो सकती है ।

राजनीति

विविध आश्रमो के नैतिक आदर्शों के विवेचन के साथ ही राजा एव प्रजा के पारस्परिक सम्बन्धो की ओर ध्यान जाना भी अत्यन्त स्वाभाविक है। वैदिक वाङ्मय मे राजनीतिक आदर्शों के सम्बन्ध मे, अनेकानेक विचार व्यक्त किये गये हैं । मानव के इतिहास मे राज सस्था चिरकाल से चली आ रही है । वेद मन्त्रो मे राज-सस्था के साथ-साथ जनतन्त्र की भावना अथवा प्रजा के पक्ष का समर्थन भी यत्र-तत्र प्राप्त होता है । राजा की स्थिति प्रजा पर निर्भर रहती है । प्रजा के द्वारा राजा के चुने जाने का उल्लेख भी जनतन्त्र भावना को पुष्ट करता है ।

"विशि राजा प्रतिष्ठित ।" [1]
"त्वा विशो वृणता राज्याय ।" [2]

इसके अतिरिक्त राजा के लिए यह अनिवार्य आवश्यकता मानी गयी है कि वह प्रजा का प्रीति पात्र हो तथा उससे श्रद्धा एव सम्मान को प्राप्त करे ।

"विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु ।" [3]

राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति का जैसा सुन्दर चित्र वेद मे उपलब्ध होता है उससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि समस्त अ गो के विकास के साथ ही समस्त जनता की सुख और समृद्धि की व्यवस्था करना राजा का प्रधान कर्तव्य था । राष्ट्र मे चरित्रवान् ब्राह्मण हो, महारथी क्षत्रिय हो, स्त्रिया सुशील एव सदाचारिणी हो, पशुधन सुखद हो तथा कृषि धन धान्य से परिपूर्ण हो, यही तो राष्ट्र की उन्नति का चूडान्त निदर्शन है एव राजा के कर्तव्य पालन का उत्कृष्ट आदर्श है ।

---

१. यजुर्वेद—२०, ९.

२. अथर्ववेद—३, ४, २.

३, अथर्ववेद—४, ८, ४.

"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् ।
आराष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ।
दोग्ध्री धेमु र्वोढा नड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा
जिष्णू रथेष्ठा. समेयो युवास्थ यजमानस्य वीरो जायताम् ।
निकामे निकामे न पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधय.
पच्यन्ताम् योगक्षेमो नः कल्पताम् ।[1]

विश्व शान्ति एव विश्व बन्धुत्व के मार्ग पर चलने वाले को भी अपने उत्कृष्ट आदर्शो की रक्षा के लिए शत्रुओ के दमन का, यहा तक कि घोर युद्ध के मार्ग का अवलम्ब लेना पडता है । मानव की वास्तविक उन्नति के मार्ग मे बाधा डालने वाले शत्रु पर विजय प्राप्त करना मानव मात्र का कर्तव्य है ।[2] सत्कार्यों के द्वेषी शत्रुओ के द्वारा आक्रमण किये जाने पर वीरोचित क्रोध एव पराक्रम के साथ उनका दमन करना तथा उन्हे विनष्ट कर देना ही उचित है ।[2] वैदिक आर्यों की यह कामना रहती थी कि अपने आदर्श की रक्षा के लिए उनके पुत्र भो दृढव्रती एव पराक्रमशाली हो तथा वे शत्रुओ पर विजय प्राप्त कर उनका सहार करें ।[3]

वैदिक वाङ्मय मे ऐसे अनेक सूक्त दृष्टि गोचर होते हैं, जो न केवल अर्थ की ही दृष्टि से अपितु सुनने मे भी युद्ध-गीत एव युद्ध-क्षेत्र मे वीरो के आह्वान जैसे प्रतीत होते हैं । ये केवल आदर्शो के ही प्रतिपादक नही हैं प्रत्युत मानव जीवन की समस्त परिस्थितियो के साथ समन्वय भावना को लेकर अग्रसर होते हैं ।

नारी का सामाजिक स्तर

सृष्टि के आदिकाल से ही नारी पुरुष के लिए आकर्षण की वस्तु रही है । नारी को देखकर पुरुष मात्र के मन मे कुतूहल उत्पन्न होना एक निसर्ग-सिद्ध तथ्य है । पुरुष

---

१. यजुर्वेद—२२, २२.

२. मा त्वा परिपन्थिनो विदन् । यजुर्वेद—४, ३४.

३ इन्द्रेण मन्युना वयमभिष्याम पृतन्यत । घ्नन्तो वृत्राण्य प्रति । अथर्ववेद—७, ९३, १.

४. मम पुत्राः शत्रुहण । ऋग्वेद—१०, १५९, ३.

नारी के विषय मे चिन्तन करता है, मनन करता है और नारी के प्रत्येक पक्ष को लेकर उसने अपने विचार व्यक्त किये हैं। यही कारण है कि विश्व के प्रत्येक साहित्य मे नारी के सम्बन्ध मे अनेक धारणाए दृष्टि गोचर होती हैं। नारी के सौन्दर्य ने किसी को मदोन्मत कर दिया है तो कोई इसे विष की वल्लरी कह कर इससे दूर रहने का सकेत करता है, कोई इसे विश्व को सभी मागलिक कृत्यो की स्रोतस्विनी कहता है तो कोई नारी को धार्मिक अनुष्ठानो मे विघ्न मानकर अपनी भावनाओ को व्यक्त करता है। सस्कृत साहित्य मे नारी के विभिन्न पक्षो पर तरह तरह के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं।

भारतीय समाज में नारी

भारतीय समाज मे नारी की स्थिति को ध्यान से देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि युग के परिवर्तन के साथ साथ नारी की स्थिति मे भी अन्तर आ गया। नारी जाति के स्तर एव कार्य कलापो मे समाज की गति के साथ अनेक परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए। इस विषय मे ऐतिहासिक विवेचना के द्वारा यह अन्तर सुगमता से स्पष्ट हो सकेगा।

आरम्भ मे यदि वैदिक युग को ही लिया जाय तो इससे स्पष्ट हो जायगा कि उस युग में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वह विद्या, बुद्धि एव बल मे पुरुषो से किसी प्रकार न्यून नही थी। उसकी अनुपस्थिति मे यज्ञ कार्य होना सभव नही था। सम्भवत इसका कारण यह माना जा सकता है कि उस युग मे आर्यो को अनेक अनार्य जातियो से युद्ध करने पडते थे अत वीर पुत्रो को जन्म देने वाली 'वीर प्रसू' माताओ की उन्हे आवश्यकता थी। वेद एव धर्म ग्रन्थो के अध्ययन का उन्हे पूर्ण अधिकार प्राप्त था। कुछ वैदिक छन्दो की रचना भी इन ऋषिकाओ ने की। यज्ञोपवीत धारण करने तथा गायत्री के जप करने की अधिकारिणी उन्हे समझा जाता था[1]। शिक्षा की समाप्ति के अनन्तर वे अपनी इच्छानुसार वैवाहिक जीवन ग्रहण करती थी अथवा कुछ एक आजीवन ब्रह्मचर्य धारण करके आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के हेतु तपस्वियो का जीवन

---

१. सुवीरासो वय वनानि जयेम।" ऋग्वेद—९, ६१, २३

२. "पुरा युगेषु नारीणा मौञ्ची बन्धन मिष्यते।
अध्यापन च वेदाना सवित्रया प्रत्यह जप।"

व्यतीत करती थी। उपनिषदो मे ऐसे अनेक उल्लेख प्राप्त होते है जिनसे सिद्ध होता है कि वे ज्ञानियो की सभा मे बैठ कर पुरुषो के समान ही दार्शनिक विवेचन मे भाग लेती थी।

विश्व के अत्यधिक महत्त्व पूर्ण तत्त्व-धन, ज्ञान एव शक्ति की लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गा को अधिष्ठात्री देवी मानना ही इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि वैदिक युग मे नारी को अतिशयित आदर एवं सम्मान प्राप्त था। ऋषियो ने नारी के प्रति अपनी आदर भावना को, उन्हें प्राय. सभी जड और चेतन पदार्थों का अधिष्ठातृ रूप देकर तथा उनकी शासिका एव नियामिका मानकर अभिव्यक्त किया है।

उनका आदर्श गृह नारी की उपस्थिति से ही होता था। "गृहिणी गृहमुच्यते" कहकर उन्होने गृहिणी को ही घर का रूप दिया है। उनकी यह धारणा थी कि वह घर घर नही जहाँ नारी न हो। परिवार मे पुत्र के समान ही पुत्री का आदर होता था। ऋग्वेद[1] मे ऐसा उल्लेख मिलता है जिस के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन आर्य पुत्र के समान ही पुत्री की भी कामना करते थे। पुत्रो के अभाव मे वे अपनी पुत्री के पुत्र अर्थात् अपने दौहित्र को उत्तराधिकारी बनाते थे[2]। पुत्री का विवाह करके उससे उत्पन्न होने वाले पुत्र को अपने मातामह के वश का माना जाता था तथा वह उसके पुत्र-कृत्य करता था।

लडकिया घर का प्राय: सभी कार्य किया करती थी। 'दुह्' धातु से बनने वाला 'दुहितृ' शब्द उनके दूध दुहने के कार्य का परिचय देता है। कन्या की रक्षा एव पालन पोषण का भार उसके पिता पर होता था तथा पिता के न होने पर भाई अपनी बहिन का अभिभावकत्व करता था। परन्तु जिसके भाई नही होता था उसका जीवन कण्टकाकीर्ण माना जाता था। ऋग्वेद[3] के चतुर्थ मण्डल मे यह कहा गया है कि भाई और पति से

---

१. अविता नो अजाश्वः पूषा यामनि यामनि। आभक्षत् कन्यासु नः।
ऋग्वेद—९, ६७, १०.

२. न जामये तान्वो रिक्थ मारैक चकार गर्भ सनितु निधानम्।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्य कर्ता सुकृतो रन्य रिन्धन्। ऋग्वेद—३, ३१, २.

३. अभ्रातरो न योषणो व्यन्त: पतिरियो न जनयो दुरेवा:।
पापास: सन्तो अनृता असत्या इद पद मजनता गभीरम्। ऋग्वेद—४, ५, ५

वियुक्त स्त्रिया कुमार्ग का आश्रय लेकर पापिनी एव दुराचारिणी बनती हुई नरक को प्राप्त करती हैं। आजीवन अविवाहित रहने वाली कन्याए अपने पिता की सम्पत्ति के भाग को प्राप्त करने की अधिकारिणी होती थी।[1]

पारिवारिक जीवन में नारी का प्रभाव

पारिवारिक जीवन मे नारी का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान था। परिवार के प्रत्येक व्यक्ति पर उसका प्रभुत्व रहता था। वह अपने सद् व्यवहार एवं सदाचरण के द्वारा अपने सम्बन्धियो पर अद्भुत प्रभाव उत्पन्न करती थी, जिसके फलस्वरूप वे सब उसकी इच्छा का अनुगमन करते थे। वधू का सम्मान इससे प्रमाणित हो जाता है कि वह अपने श्वशुर, सासू तथा पति के भाई एव बहिन पर शासन करती थी।

"साम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी श्वश्र्वा भव।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधि देवृषु।"[2]

इस तथ्य की ऐतिहासिक सत्यता पर विचार करने के लिए यह उपयुक्त अवसर नही है तथापि इससे यह अवश्य निष्कर्ष निकाला जा सकता है—

१. स्त्रियो का समाज मे अत्यधिक सम्मान था।

२. पारिवारिक जीवन मे उनका पूर्ण आधिपत्य होता था।

३. यह सम्मान यदि अन्य स्त्रियो के लिए प्राप्त न भी होता हो परन्तु ज्येष्ठ पुत्र की वधू को तो अवश्य प्राप्त होता था।

वैदिक काल मे स्त्रियों की शिक्षा

यह तो हुई परिवार मे उनके प्रभाव की चर्चा, पर इसका कारण यदि हम खोजें तो स्पष्ट हो जायगा कि शिक्षा एव ज्ञान के कारण उनका अपूर्व सम्मान था। उस युग मे उच्च वर्ग की नारिया वेदो का अध्ययन एव अध्यापन करती थी तथा वे ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करने की पूर्ण अधिकारिणी थी। वेद मे अनेक स्थलो पर यह उल्लेख प्राप्त होता है कि वे पुरुषो के समान ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर मन्त्रो का आविष्कार करती थी तथा

---

१. ऋग्वेद—२, १७, ७.

२. ऋग्वेद— १०, ८५, ४६.

उत्कृष्ट काव्यो को रचना किया करती थी। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के दशम मण्डल मे वर्णित बृहस्पति की पत्नी 'जुहू' का उल्लेख किया जा सकता है।[1] वह ब्रह्म वादिनी एव अनेक वैदिक सूक्तो की रचयित्री थी। तपस्या मे निरत ऋषियो एव देवताओ ने उसके तपोबल की भूरि भूरि प्रशसा की है। तपस्या एवं चरित्र बल से निकृष्ट पदार्थ भी उत्कृष्टता को प्राप्त कर सकता है।

बृहस्पति की पत्नी के समान ही अनेक ऋषि पत्नियो ने शिक्षा एव कला के क्षेत्र मे उत्कृष्ट योग्यता प्राप्त की थी। वे नृत्य-कला एव गान विद्या आदि क्षेत्रो मे भी प्रवीण होती थी। उनके रचे हुए सूक्तो में कवित्व नैपुण्य के साथ साथ सगीतात्मकता भी है। यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यो मे पत्नी का सहयोग ही उनकी विद्वता के कारण अनुपेक्षणीयता को घोषित करता है।

उक्त विवेचन प्राचीन भारत की नारियो की शिक्षा-दीक्षा एव ज्ञान के प्रसार का विवरण स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है।

स्त्रियो का युद्ध कोशल

वैदिक युग मे ज्ञान के साथ साथ वीरता के क्षेत्र मे भी उनका महत्त्व किसी प्रकार न्यून नही था। स्त्रिया आवश्यकता पडने पर अपने पति के साथ युद्ध स्थल मे जाकर उसकी सच्ची सहायिका भी बनती थी। 'महर्षि अगस्त्य' के पुरोहित 'खेल' ऋषि की पत्नी विश्यला का अपने पति के साथ युद्ध भूमि मे जाना[2] इस तथ्य की पुष्टि करता है। इसके अतिरिक्त वीर प्रसविनी के रूप मे उनका महत्त्व किसी से कम नही है। वेद मे स्थान स्थान पर 'वीर-प्रसू' पत्नियो के लिए प्रार्थना किये जाने के उल्लेख प्राप्त होते हैं। वीर पुत्र न केवल आर्यों को पितृ-ऋण से ही मुक्त करता था, प्रत्युत युद्ध प्रधान आर्यो के जीवन मे उसकी महती आवश्यकता थी। यही कारण था कि आर्य लोग स्त्रियो की प्राण रक्षा

---

१. देवा एतस्या मवद तपूर्वे सप्त ऋषय स्तपसे ये निषेदु ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् । ऋग्वेद—१० १०९, ४.

२ ऋग्वेद—२, १७, ७

करके उन्हे यज्ञ कार्यों में सहयोगिनी बनाते थे तथा सतानोत्पत्ति यज्ञ मे प्रयुक्त करके उनका समुचित समादर करते थे ।[1]

वैवाहिक जीवन

नारी के महत्त्व को जानने से पूर्व उसके वैवाहिक जीवन के प्रति दृष्टिपात कर लेना अनुचित नही होगा । वैवाहिक जीवन मे पति एव पत्नी के परस्पर पूर्ण सहयोग की अपेक्षा रहती है । सर्व प्रथम विवाह के प्रकार एव विवाह् के समय कन्या की आयु पर विचार करना समीचीन होगा । वेद मे अनेक स्थानो पर यह उल्लेख मिलता है कि पूर्ण आयु मे कन्या को वस्त्रालकारो से सुसज्जित कर सुयोग्य वर को दिया जाता था ।[2] परिवार की वृद्ध महिलाए उसे अखण्ड सौभाग्यवती एव सुपुत्रवती होने का आशीर्वाद देती थी । विवाह के समय दोनो परस्पर शपथ ग्रहण करते थे । पत्नी का हाथ पकडकर पति उससे कहता था कि वह उसका आजीवन साथ देगी तथा उसके गृह कार्य को सुचारू रूप से सञ्चालित करती रहेगी ।[3] गृह कार्य का सम्यक् सञ्चालन ही स्त्री का वह प्रमुख कार्य है, जिसकी उपेक्षा नही की जा सकती । ऋग्वेद के सूक्तो मे[4] कन्या के स्वयम्वर का भी उल्लेख प्राप्त होता है । सभ्य एव सुशिक्षित स्त्री अनेक पुरुषो मे से अपने मन के अनुकूल प्रिय पात्र को अपना पति स्वीकार करती थी । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हे अपने पति के वरण करने का पूर्ण अधिकार था ।

विवाह् का काल

वैदिक युग मे युवावस्था में ही विवाह होते थे एव बाल विवाह उस समय प्रचलित नही थे । ऋग्वेद के[5] आधार पर यह कहा जा सकता है कि युवा पुरुषों की मित्रता

---

१. जीव रुदन्ति विमयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नर. ।
वाम पितृभ्यो य इद समेरिरे मयः पतिभ्यो जनय परिष्वजे ऋग्वेद—१०, ४०, १०

२. ऋग्वेद—१०, ३९, १४.

३ गृभ्णामिते सौभगत्वाय हस्त पत्या जगदष्टि र्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धि. मह्य त्वा दुर्गाहृपत्याय देवाः । ऋग्वेद–१०,८५,३६

४. भद्रा वधूर्मवति यत्सुपेशा स्वय सा धनुते जने चेत् । ऋग्वेद—१०, २७, १२.

५. ऋग्वेद—१०, ३०, ५–६,

एव समागम पूर्णत युवावस्थाको प्राप्त सुन्दरियो केसाथ ही हुआ करते थे। वेद मे ऐसे उद्धरणो कोभी कमीनही है जिनमे यह कहा गया है कि विवाह केतीन दिन के अनतर गर्भाधान सस्कार किया जाता था। यह तथ्य इसकी पुष्टि करता है कि पूर्ण यौवन की अवस्था मे ही उनका विवाह सम्पन्न होता था। इसका एक कारण और भी खोजा जा सकता है कि स्त्रिया पुरुषो के साथ यज्ञ कार्य मे भाग लेती थी तथा उनका वह योग मूक न होकर सक्रिय होताथा। उस धार्मिक ज्ञानको प्राप्त करते करते यौवनकाल का आजाना स्वाभाविक ही था। अत: यह सप्रमाण कहा जा सकता है कि उनका विवाह पूर्ण यौवन के प्राप्त होने के पश्चात् ही होता था। बाल विवाह की परम्परा का उस युग मे अभाव था।

नारी सम्बन्धी सामान्य दृष्टिकोण

स्त्रियो के आचरण के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के सन्देह प्रगट किये गये है। उनका प्रेम स्थायी नही होता एव उनका मन विश्वास करने योग्य नही होता। उनकी बुद्धि तुच्छ एव सकीर्ण होती है तथा उनके मन पर शासन करना सम्भव नही।

"स्त्रिया अशास्य मन.।[1]
" न वै स्त्रैणानि सख्यानि भवन्ति"।[2]

इन्द्र के स्त्रियो के प्रति दिये गये उपदेश मे परवर्ती पर्दा-प्रथा के दर्शन हो सकते है। स्त्रियो को नीचे की ओर देखना चाहिए। अपने दोनो पैरो को इस प्रकार मिलाये रहना चाहिए जिससे उनके कपडे अस्त व्यस्त न हो तथा उनके ओष्ठ प्रान्त एव कटि के निम्न भाग को कोई देखने न पावे।

"अध. पश्यस्व मोपरि सन्तरा पाद कौ हर।
माते कश प्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।"[3]

सामान्य नीति

मानव जीवन के सामान्य पक्ष को लक्ष्य करके लिखी गयी नैतिक उक्तियाँ

---

१. ऋग्वेद—८, ३३, १७.
२. वही—१०, ९५, १५.
३. वही—८, ३३, १९.

एव उपदेशात्मक तथ्य यत्र तत्र वैदिक वाड्मय मे उपलब्ध हो जाते है। वेद मन्त्रो मे द्यूत को एक बुरा व्यसन कहा गया है। मानव जीवन के स्वर्गीय सुख एव शाति का अपहरण करने वाले इस व्यसन पर आसक्ति रखने वाले व्यक्ति समाज मे गर्हणीय बन जातेहै।

कृषि

कृषि कर्म करना एक उत्कृष्ट अध्यवसाय है —

अक्षै मा दीव्य. कृषिमित् कृषस्व ।[1]

वैदिक वाड्मय मे कृषि की महिमा का गुणगान करने के साथ ही श्रम के महत्त्व की भी उपेक्षा नही की गयी है। देवता लोग उसी की सहायता करते है, जो स्वयं श्रम को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। इसके विपरीत जो श्रम से दूर भागते है उनसे देवगण मित्रता नही करते —

"न मृषा श्रान्त यदवन्ति देवा ।[2]
न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवा ।[3]

जो तन्मयता से अपने लक्ष्य को पूर्ण करने मे श्रम करता है वह उसके फल को अवश्य पाता है —

"यादृश्मिन् धायि तमपस्यया विदद्य उ स्वय वहते सो अर करत् ।[4]

अप शब्द के उच्चारण को अशिष्ट-व्यवहार एव दुराचरण माना गया है। अप शब्द का प्रयोग किसी भी प्राणी के लिए नही करना चाहिए —

"न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ।"[5]

---

१. ऋग्वेद—१०, ३४, १३.

२ वही—१, १७९, ३.

३. वही—४, ३३, ११.

४ वही—५. ४४. ८.

५. वही—१, ४१, ९.

मानव जागरण की और वेद मन्त्रो मे अनेक सकेत मिलते है। जागरण ही उन्नति है और शयन ही अवनति अथवा पतन। अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति ही समाज की रक्षा एव उसके हित सम्पादन मे सफलता प्राप्त कर सकता है :—

"भूत्यै जागरणम्। अभूत्यै स्वपनम्।"[1]
जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृवि.।"[2]

प्रमाद अथवा आलस्य के कारण अपने कर्तव्य पथ से भ्रष्ट होना मानव का एक महान् दूषण माना गया हैं। शयान अर्थात् जीवन के प्रति असावधान मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नही हो सकता —

मा नो निद्रा ईषत मोत जल्पिः।[3]

दान की महिमा का प्रतिपादन वैदिक युग की नैतिक आधार शिला का उपकरण है। याचक को दान देना मानव मात्र का परम कर्तव्य माना गया है। धन गतिशील है। वह कभी एक स्थान पर स्थिर नही रहता। उसका आदान-प्रदान ही श्रेष्ठ उपाय है –

"पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयासमनु पश्येत पन्थाम।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुपतिष्ठन्ति राय।"[4]

सहायता चाहने वाले मित्र के घर पर उपस्थित होने पर भी जो व्यक्ति दान देकर उसकी सहायता नही करता, वह मित्रत्व का कलक है, उसका घर घर कहलाने योग्य नही।

"न स सखा यो न ददाति सख्ये सचा भुवे सचमानाय पित्व·।

---

१. शुक्ल यजुर्वेद सहिता—३०, १७.

२ सामवेद-उत्तरार्चिक—३, १, ६.

३. ऋग्वेद—८, ४८, १४.

४ वही—१० ११७ ५

अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्य मरण मरण चिदिच्छेत् ।[1]

दाता का नाम एव यश विश्व मे अमरता को प्राप्त करता है। दानियो के विषय मे यह कहा गया है कि वे कभी दरिद्री नही होते एव क्लेश, व्यथा अथवा दुःख कभी प्राप्त नही करते ।[2]

सत्य की महिमा का चित्रण पहले किया जा चुका है । सत्य और प्रकाश को समान माना गया है । सत्य पर पृथ्वी आधारित है,[3] सूर्य सत्य का ही विस्तार एव प्रसार करता है ।[4] सत्य भाषण एव असत्य भाषण मे स्पर्धा होती है[5] पर 'अन्ततोगत्वा' सत्य की ही विजय होती है ।

अतिथि सत्कार का उत्कृष्ट आदर्श वैदिक वाङ्मय की अतुल देन है । अतिथि को सत्कार पूर्वक भोजन कराके ही भोजन करना चाहिये । जो अकेला भोजन करता है वह पाप का भागी होता है :—

मोघमन्न विन्दते अप्रचेता सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य
नार्यमरण पुष्यति ना सखायं केवलाघो भवति केवलादी ।"[6]

जिसके अन्न मे अन्य व्यक्ति भी भाग लेते है वह पाप से मुक्त हो जाता है ।[7] घर पर आये हुए अतिथि को भोजन कराने से पूर्व जो व्यक्ति भोजन करता है, उसके घर का यश एव कीर्ति लुप्त हो जाते है ।

---

१ ऋग्वेद—१०, ११७, ४.

२. वही—१०, १०७, ८

३ सत्यनोत्तभिता भूमि' । ऋग्वेद—१०, ८५, १.

४ सत्य तातान सूर्य । ऋग्वेद—१, १०५, १२.

५. सच्चा सच्च वचसी पस्पृधाते । अथर्ववेद—८, ४, १२,

६. ऋग्वेद—१०, ११७, ६.

७. सर्वो वा एप जग्ध पाप्मा यस्यान्नमश्नन्नि ।
सर्वो वा एषोऽजग्ध पाप्मा यस्यान्न नाश्नन्ति । अथर्ववेद—६, ७, ८–६.

"कीर्ति च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति य' पूर्वोऽतिथेरश्नाति ।"[1]

ज्ञान का उत्कृष्ट महत्त्व वैदिक वाङ्मय मे चित्रित किया गया है। ज्ञानवान् ही अज्ञानी को सन्मार्ग की ओर अभिमुख करता है।[2] निरन्तर अभ्यास से मनुष्य शिक्षा अथवा अन्य कार्यो मे अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[3]

अधिक सन्तति होना दरिद्रता का लक्षण बताया गयाहै। वह पद पद पर सकटो का अनुभव करता है :—

'वहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश।"[4]

इस मन्त्र से वर्तमान युग की परिवार नियोजन की जटिल समस्या की ओर एक सकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद की कुछ आख्यायिकाओ से भी नीति-पूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं। द्याद्विवेद ने अपनी रचना "नीति मजरी" मे इन आख्यायिकाओ का पूरा उपयोग किया है।[5]

ब्राह्मण

वेदो के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थो का स्थान है। आपस्तम्ब सूत्र के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण दोनो को ही वेद के नाम से अभिहित किया गया है।[6] 'ब्रह्म' शब्द का एक अर्थ 'यज्ञ' है। यज्ञ का सम्पादन करने के कारण इन ग्रन्थो का नाम ब्राह्मण पडा। यज्ञो एव समस्त कर्म काण्ड के आधार भूत इन्हे ब्राह्मण ग्रन्थ कहा जाता हैं। मन्त्र-भाग अथवा सहिता-भाग का रहस्य ब्राह्मण भाग के याथातथ्य ज्ञान के बिना समझ मे नही आ सकता इससे ब्राह्मण-ग्रन्थो का महत्त्व स्पष्ट है। मन्त्र और ब्राह्मण-इन दोनो का सम्बन्ध इतना सश्लिष्ट है कि कही कही इनका अलग-अलग करना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

---

१. अथर्व वेद—९, ८, ५.

२. 'चिकित्वासो अचेतस नयन्ति।" ऋग्वेद—७, ६०, ७

३. अनु ब्रुवाणो अध्येति। न स्वपन्। ऋग्वेद—५, ४४, १३.

४. ऋग्वेद—१, १६४, ३२

५. 'कुलक्रमागतो धर्मो न त्याज्य प्रभुभि. सदा।
कण्वोश्विभ्या भिषग्भ्या हि सुत्वक् सुश्रुक् कृत सुदृक्। नीति मजरी ४८ श्लोक

६. मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेद। आपस्तम्ब परिभाषा— ३१.

ब्राह्मण ग्रन्थो को विषय की दृष्टि से, विधि, अर्थवाद और उपनिषद्-इन तीन भागो मे विभक्त किया जाता है। विधि शब्द से कर्मविधान, अर्थवाद से प्ररोचन और उपनिषद् से तत्त्व विचार सम्बन्धी प्रकरण विवक्षित है। इन ग्रन्थो मे मन्त्रो की अर्थ मीमासा, यज्ञो के अनुष्ठान के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण, नाना विषयो के उपाख्यान, शब्दो की व्युत्पत्ति एव प्राचीन ऋषियो और राजाओ की कथाएँ निहित है।

वैदिक युग मे नीति की जो धारा अ कुरित हुई थी वह ब्राह्मण ग्रन्थो मे आते आते पल्लवित एव पुष्पित हुई।

सत्य

वैदिक वान्मय मे सत्य आचरण पर महान् प्रश्रय दिया गया है। वाणी से सत्य का उच्चारण, मन मे सत्सकल्प एव सत्कर्तव्यो का अनुष्ठान ब्राह्मण ग्रन्थो की अमूल्य सम्पत्ति है। सत्य पुण्य स्वरूप है। असत्य-भाषण एव मिथ्या-आचरण महापातक के कारण हैं। मिथ्या-भाषण करने वाला व्यक्ति पवित्रता से रहित एव अशुद्ध होता है—

"अमेध्यो वे पुरुषो यदनृत व्वदन्ति।"[1]

असत्य भाषण करने वाले व्यक्ति की समाज मे प्रतिष्ठा नही होती, उस पर कोई विश्वास नही करता। ताण्ड्य ब्राह्मण मे असत्य-भाषण को वाणी का छिद्र कहा गया है, जिसमे से सब कुछ गिर जाता है।[2] मिथ्या-भाषण एव मिथ्या-आचरण करने वाले का तेज लुप्त हो जाता है तथा उसका प्रभाव नष्ट हो जाता हैं। असत्य भाषण करने वाले मानव के पाप का पात्र निरन्तर बढता रहता है.—

"तस्य कनीयः कनीय इव तेजो भवति।
श्व. श्वः पापीयान् भवति तस्माद् सत्यमेव वदेत्।"[3]

इसके विपरीत सत्यवादी को समाज मे अजेय माना गया है।[4] यज्ञ के अनुष्ठान

---

१. शतपथ ब्राह्मण-३, १, ३, १८
२. एतत्तवाच्छिद्रम यदनृतम्। ताण्ड्य ब्राह्मण—८, ६, १३.
३. शतपथ ब्राह्मण—२, २, २, १६.
४. वही—३, ४, २, ८

करने वाले को कदापि असत्याचरण नही करना चाहिए। अन्य दो पदार्थो, मदिरा की मादकता एव मदिरेक्षणी के सहवास के समकक्ष असत्य को स्थापित कर इन दोनो से असत्याचरण को अधिक गर्हणीय कहा गया है.—

"नानृत वदेन्न मासमश्नीयान्न स्त्रियमुपेयात् ।"[1]

सत्य के द्वारा मानव स्वर्ग लोक को प्राप्त कर सुख का भोग करता है ।[2] अपने अन्तेवासी को वेद की शिक्षा के साथ सदाचार एव शिष्टाचार की शिक्षा देते हुए आचार्य ने सत्य के आचरण को सवप्रथम स्थान देकर सत्य की महिमा का प्रतिपादन किया है ।[3]

'सत्य' के समान ही 'यज्ञ' का भी ब्राह्मण ग्रथो मे उत्कृष्ट एव विशद विवेचन प्राप्त होता है । यज्ञ के अनुष्ठान को सब प्रकार के धार्मिक कृत्यो एव अन्य कर्मो मे श्रेष्ठता दी गयी है ।[4] ब्राह्मण ग्रथो मे सारे विश्व-प्रपच को यज्ञ-रूप माना गया है । यज्ञ के अनुष्ठान से सारे ससार का कल्याण होता है । वह विष्णु रूप है ।[5] शतपथ ब्राह्मण मे "यज्ञ" को प्रजापति का स्वरूप कहा गया है ।[6] प्रजापति प्रजा की रक्षा करता है तथा यज्ञ ही किसी न किसी रूप मे प्रजा का रक्षक है । अग्नि मे प्रक्षिप्त हवि वायु के आश्रय से सूर्य की ओर अभिमुख होती है । सूर्य के प्रभाव से मेघ मण्डल के साथ मिश्रित होकर वह वृष्टि का कारण बनती है । वर्षा से अन्न और अन्न प्राण-रूप होने से, प्रजा का रक्षक होता है । इसके अतिरिक्त हवि मे पार्थिव पदार्थ, आकाश का वायु एव सूर्य की रश्मिया भी विशुद्ध होती है । इस प्रकार वह अनेक मार्गो से

---

१. तैत्तिरीय सहिता—२, ५, ५, ३२

२. ऋतेनैव स्वर्ग लोक गमयति । ताण्ड्य ब्राह्मण - १८, २, १६

३. वेदमनूच्य आचार्यो ऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्य वद । धर्म चर । तैत्तिरीय उपनिषद् – उपदेश वल्ली ।

४. यज्ञो वै श्रेष्ठतम कर्म । शतपथ ब्राह्मण - १, ७, १, ५

५. विष्णु वै यज्ञ । कौषीतकी ब्राह्मण – अध्याय – ३०

६. एष वै प्रत्यक्ष यज्ञो यत्प्रजापति । शतपथ ब्राह्मण -- ४, ३, ४, ३

मानव समाज का कल्याण एव हित सम्पादन करता हुआ विश्व शान्ति एव सुव्यवस्था की स्थापना करने काप्रयत्न करता है। जो विद्वान् 'यज्ञ' करताहै, वह समस्त पापो एव पाप भावनाओ से मुक्त हो जाता है.—

सर्वस्मात्पाप्मनो निर्मुच्यते य एव विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ।[1]

पुण्य

यज्ञानुष्ठान मे पुण्य की प्राप्ति होती है तथा पुण्य का फल स्वर्ग है एव पाप का फल अधोगति। जो मानव पुण्य कर्मो का याथातथ्येन आचरण करते है उन्हे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यज्ञ, श्रम एव तपश्चरण के द्वारा देवताओ ने स्वर्ग को प्राप्त किया,—

"देवा वै यज्ञेन श्रमेण तपसा हुतिभि. स्वर्ग लोकमायन् ।",
"ये हि जना. पुण्यकृत. स्वर्ग लोक यन्ति ।"[2]

दृढता

मानव के लिए दृढ निश्चय के साथ अपने निर्दिष्ट मार्ग पर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा एव उपदेश प्रदान करना ब्राह्मण ग्रन्थो की विशिष्टता है। प्रगतिशील मानव मधु एव स्वादिष्ट उदुम्बर आदि फल प्राप्त करता है। गतिशीलता के कारण सूर्य भी जगद्वन्द्य है। गतिशील रहने मे ही मानव जीवन का सार्थक्य है :—

"चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाण यो न तन्द्रयते चरैश्चरैवेति ।"[3]

वर्ण

ब्राह्मण आदि विविध वर्णो के सम्बन्ध मे ब्राह्मण ग्रन्थो मे भव्य विचार व्यक्त किये गये है। उनके कर्तव्यो का उल्लेख एव सम्यक् निरूपण ब्राह्मण ग्रन्थो की अपनी विशेषता है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण – २, ३, १, ६

२. ऐतरेय ब्राह्मण—३, ४२

३ शतपथ ब्राह्मण—६, ५, ४, ८

४. ऐतरेय ब्राह्मण—३३, ३, १५

ब्राह्मण का प्रमुख उद्देश्य है—"ब्रह्मवर्चस्" की अखण्ड उपलब्धि।[1] वेदो के अध्ययन करने वाले ब्राह्मण को अत्यन्त तेजस्वी एवं प्रतापशाली माना गया है।[2] मानव समाज मे ब्राह्मण को देवताओ के समान आदर एव सम्मान प्रदान किया जाता है—

"अथ हे ते मनुष्यदेवा ये ब्राह्मणा.।"[3]

राज्य एवं प्रजा की रक्षा एव मर्यादा की स्थापना करते हुए राजा का आत्म-त्याग-पूर्ण होना उसका प्रमुख कर्तव्य है। युद्ध ही क्षत्रिय का बल है।[4] तथा अराजक देश को युद्ध के लिए अनुपयुक्त माना गया है।[5]

वैश्य को तो राष्ट्र का साक्षात् स्वरूप ही कहा गया है। वैश्य के धनोपार्जन करने से ही समस्त वर्णों के कार्य का सचालन होता है।[6]

शूद्र को श्रम का रूप माना गया है।[7] परन्तु उसके लिए यज्ञो का अनुष्ठान करना निषिद्ध है,[8] यहा तक शूद्र के समीप बैठकर वेद के अध्ययनाध्यापन का भी निषध किया गया है।[9]

नारी

नारी के सम्बन्ध मे नैतिक आदर्शों एव उपदेशो से परिप्लुत अनेक उद्धरण ब्राह्मण ग्रन्थो मे उपलब्ध होते हैं। पत्नी को पति की अर्धाङ्गिनी कहा गया है।[10] दोनो के पारस्परिक सहयोग से ही जीवन की यात्रा सुगम होती है। यज्ञ-कर्म मे पत्नी की

---

१. तद्ध्येव ब्राह्मणे नेष्टव्य यत् ब्रह्मवर्चसी स्यात्। शतपथ ब्राह्मण—१, ९, ३, १६
२ शतपथ ब्राह्मण—४, ६, ६, ५
३. षड्विंस ब्राह्मण—१, १
४ "युद्ध वै राजन्यस्य वीर्य्यम्।"शतपथ—१३, १, ५, ६.
५. तैत्तिरीय ब्राह्मण—१, ५, ९, १
६, ऐतरेय ब्राह्मण—८, २६
७. तैत्तिरीय सहिता—७, १, १, १६
८ वेदान्त दर्शन—१, ३, ३८ सूत्र पर शंकराचार्योद्धत ब्राह्मण वचन।
९. अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः। यत्पत्नी। तैत्तिरीय ब्राह्मण-३, ३, ३ ५
१०. अयज्ञो वा एष। यो अपत्नीक.। तैत्तिरीय ब्राह्मण—२, २, २, ६

अनिवार्यता उसके महत्त्व को स्वतः एव प्रमाणित कर देती है।

परिवार में नारी का महत्त्व

विवाह के अनन्तर नारी का महत्त्व और अधिक बढ जाता है। गृह कार्य को सम्हालना उसका प्रमुख कर्तव्य हो जाता है। वह प्रत्येक कार्य मे मित्र के समान अपने पति की सहायिका होती है। ऐतरेय ब्राह्मण मे नारी को सखा के रूप मे अगीकृत किया गया है।[1] धार्मिक कृत्यो मे नारी पुरुष की साधिका है। पत्नी के बिना पुरुष स्वर्ग-प्राप्ति का अधिकारी नही माना जाता।[2] उसकी अनुपस्थिति मे पुरुष को यज्ञ करने का भी अधिकार नही होता।[3] इन्ही कारणो से पुरुष के लिए दार ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है। पत्नी को पुरुष की अर्धाङ्गिनी माना गया है। रूपवती स्त्री पुरुषो के लिए अत्यन्त प्रिया एव भाव-प्रवण-शीला होती है। वही लक्ष्मी का स्वरूप भी मानी गयी है।[4]

नारी के चरित्र की पवित्रता एव विशुद्धता पर प्राय सभी ब्राह्मण ग्रन्थो मे बल दिया गया है। उसका चञ्चल चित्त किसी का अनुशासन स्वीकार नही करता। शतपथ ब्राह्मण मे एक ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि स्त्रिया निरर्थक वातो की ओर अग्रसर होती हैं-जो नृत्य करता है अथवा जो गाता है उसकी ही वे कामना करने लगती हैं।

> "मोघ सहिता एवं योषा ··· ·। तस्माद्य
> एव नृत्यति यो गायति तस्मिन्नेवैता निमिश्लतमा इव।[5]

---

१ (क) सखाह जाया कृपण हि दुहिता ज्योतिर्हि पुत्रः परमे व्योमन्। ऐतरेय ब्राह्मण—७, ३, १३

(ख) "आत्मा पुत्र. सखी भार्या कृच्छ्रन्तु दुहिता नृणाम्।" ऐतरेय ब्राह्मण-१ १७३, १०.

२. शतपथ ब्राह्मण—५, २, १, १०

३ अयज्ञीयो वेषः। यो ऽ पत्नीक। तैत्तिरीय ब्राह्मण—२, २, २, ६

४ श्रिया वा एतद्रूप यत्पत्न्यः। तैत्तिरीय ब्राह्मण—२, ९, ४ ७

५. शतपथ ब्राह्मण—३, २, ४, ६

पुरुष एव स्त्री को एक साथ बैठकर भोजन नही करना चाहिये, यहा तक कि एक दूसरे के सामने या देखते हुए भी भोजन करने का निषेध है। स्वास्थ्य की दृष्टि से यह वल एव वीर्य का घातक होता है।[1] घर मे रहकर ही गृह-व्यवस्था का सचालन नारी का प्रधान कर्तव्य माना गया है।

"गृहा वे पत्न्यै प्रतिष्ठा तद् गृहेष्वेनामेतत् प्रतिष्ठापयति"।[2]

साराश यह है कि पत्नी-रूप मे नारी का महत्त्व अत्यन्त श्रेष्ठ माना गया है। जीवन का कोई भी क्षेत्र लीजिये चाहे आर्थिक हो, धार्मिक हो या सामाजिक हो उसमे नारी के अमोघ योग-दान की अपेक्षा बनी ही रहती है।

अभिमान को अध: पतन का कारण वताया गया है। मानव मात्र को अभिमान अथवा अहंकार का परित्याग करना चाहिये:-

"तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुख यदतिमान।"[3]

द्वेष करने वाला पापी होता है।[4] स्नेह एव सौजन्य की रसमयी शृंखलाओ मे आवद्ध होकर मानव अपनी उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। चोरी करना अथवा डाका डालना[5] तथा अपशब्द कहना[6] भी पाप की अभिवृद्धि का कारण हाता है।

मित एवं नियमित आहार करने वाला व्यक्ति अपनी आयु की पूर्णता को प्राप्त करता है।

"तस्मात्सायं प्रातराश्येव स्यात्। स यो हैव
विद्वान् प्रातराशी भवति सर्व हैवायुरेति।"[7]

---

१. वही—१०, ५, २, ६

२. वही—३, ३, १, १० एव २, ६, २, १४

३. वही—५, १, १, १

४. आपस्तम्ब धर्मसूत्र—२, ३, ६, १६, २०

५. ऐतरेय व्राह्मण—८, ११

६. वही—७, २७

७. शतपथ व्राह्मण—२, ४, २, ६

इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों मे मानव के अभ्युदय के हेतु शतश. एव सहस्रशः अपूर्व उपदेश एव भव्यतम विचार ऋषियो एव राजाओ के आख्यानो के रूप मे उपलब्ध होते है। वस्तुत ये ग्रन्थ आर्य-सभ्यता के आधार एव ज्ञान विज्ञान की अक्षुण्ण निधि है।

आरण्यक एव उपनिषद्

ब्राह्मण ग्रन्थो के अध्ययन के अनन्तर आरण्यको एव उपनिषद् ग्रन्थो मे निहित नैतिक आदर्शों पर भी विवेचन करना समीचीन प्रतीत होता है। एकान्त एवं शान्त महारण्य मे ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए भारतीय मनीषियो ने जिस गहन एव चिन्तन पूर्ण विद्या का मनन किया-उसे आरण्यक कहा गया है। वन मे अध्ययनाध्यापन के योग्य होने के कारण इन्हे आरण्यक कहा गया।[1]

गृहस्थ जीवन मे अनुष्ठान करने योग्य यज्ञो का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थो मे है एव वानप्रस्थ आश्रम के उपयुक्त यज्ञ, व्रत आदि का विवरण आरण्यको की निधि है। इनमे आधिदैविक एव आध्यात्मिक तत्त्व का विवेचन किया गया है। इन ग्रन्थो मे वर्णाश्रम धर्म के पूर्ण विकास के दर्शन होते हैं। याज्ञिक रहस्यो की यथार्थ मीमासा आरण्यको की विशिष्टता है। स्वर्ग का क्षयशील होने के कारण अनात्यन्तिक सुख के जनक "कर्म" के प्रति अथवा "कर्म के फल" के प्रति इनमे श्रद्धा की भावना का अभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी दृष्टि से कर्म की ओर से लोगो की दृष्टि हटकर ज्ञान मार्ग की ओर अग्रसर हुई। ज्ञान-कर्म-समुच्चय का जो सिद्धान्त आरण्यको मे अकुरित हुआ था वही विकास को प्राप्त होकर उपनिषद् ग्रन्थो मे पुष्पित एव पल्लवित हुआ।

'उप' शब्द का अर्थ समीप है और निषद् का अर्थ है बैठना। अर्थात् जो परम-तत्त्व के पास पहुचाकर बैठने वाला ज्ञान है वह 'उपनिषद्' कहा गया है। 'समीप पहुचाने' से तात्पर्य है-ब्रह्म मे विलीन करना। अर्थात् आत्मा को ब्रह्म के रूप मे प्रतिष्ठित करने वाला स्थिर ज्ञान ही 'उपनिषद्' है। इस प्रकार यह ब्रह्म-विद्या है एव वेदो का अन्तिम भाग होने से इसे वेदान्त भी कहा जाता है।

उपनिषदो का प्रतिपाद्य विषय आध्यात्म एव दर्शन है, किन्तु आध्यात्मिक उन्नति के लिए आचारिक उन्नति की अपेक्षा रहती है। अतएव इन

---

१ अरण्ये एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते।-ऐतरेय आरण्यक का भाष्य।

ग्रथो मे यत्र तत्र आचार एव धर्म नीति, सत्य एव गुरु की महिमा, सर्वात्मभाव, अतिथि-सत्कार, लोभ एवं अहंकार का त्याग, दान, दया, दम, शम, विवेक आदि से सम्बन्धित नैतिक तथ्यो का विवरण उपलब्ध होता है।

मन, वचन एवं कर्म से सत्य पालन अत्यन्त हितकर माना गया है। मिथ्या भाषण करने वाला व्यक्ति मूल सहित सूख जाता है :-

"समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।

तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्।[1]

सारा विश्व-प्रपच ब्रह्म मे ही अवस्थित है, वही इसकी, उत्पत्ति, स्थिति एव प्रलय का कारण है। मनुष्य अपने कर्मानुकूल फल को प्राप्त करता है वैसा ही उसे सुख दु ख आदि फल प्राप्त होता है। इसीलिए जीवन मे धर्माचरण को मानव मात्र का उत्कृष्ट कर्तव्य माना गया है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत।

अथ खलु क्रतुमय पुरुषो यथा क्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति। स क्रतुं कुर्वीत।[2]

दूसरे के धन के आत्मसात् करने की इच्छा की निन्दा करते हुए अलोभ को धर्म का स्वरूप कहा गया है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्या जगत्।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मागृधः कस्यस्विद्धनम्।[3]

गुरु गृह से प्रत्यावर्तन के समय आचार्य के द्वारा कहे गये शिष्टाचार की शिक्षा देने वाले अमर एवं भव्य उपदेश उपनिषद् ग्रन्थो के अनुपम एवं अमूल्य भाण्डागार हैं। सत्य, धर्म, ज्ञान आदि के साथ वे यह कहना नही भूलते कि सामाजिक जीवन मे

---

१. प्रश्नोपनिषद्—६, १

२. छान्दोग्योपनिषद् (सामवेदीय)-३, १४, १

३ ईशावास्योपनिषद —१

तुम्हे कैसे व्यवहार करना होगा।[1] शिक्षा की इस सर्वाङ्गीण एव विकसित अवस्था आगे आने वाले अनेक युगो तक प्रकाश स्तम्भ के समान मार्ग प्रदर्शन कर सकती है।

श्रम एव तपस्या को तत्त्व-ज्ञान एवं समस्त कार्यों की सिद्धि का साधन माना है। जैसे तिल मे से तेल, दही को मथने से मक्खन, नहर खोदने से पानी एव अरणि-काष्ठ के सघर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है उसी प्रकार सत्य और तपस्या द्वारा अपनी आत्मा मे ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है :—

"तिलेषु तैल दधिनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्नि.।
एवमात्मात्मनि गृह्यते सो सत्येनैव तपसा योऽनुपश्यति।[2]

मन और बुद्धि के आश्रय से आत्मा सत्पथ की ओर प्रगतिशील होता है। आत्मा को रथी[3], शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि और मन को वल्गा कहा है।

उपनिषद् ग्रथो मे नारी को समुचित सम्मान दिया गया है। कार्य को आरम्भ करते समय नारी के दर्शन को कार्य सिद्धि का द्वार माना है, यहा तक स्वप्न मे भी स्त्री दर्शन सिद्धिदायक होता है :—

'स यदि स्त्रिय पश्येत् समृद्ध कर्मेति जानीयात्।
यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धि तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्न निदर्शने।[4]

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद्—१, २, १-३ 'वेदमनूच्य आचार्यो अन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्य वद। धम चर। स्वाध्याय प्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया सेव्यानि नो इतराणि'।

२. श्वेताश्वतरोपनिषद्—१, १५

३. छान्दोग्योपनिषद्—५, २, ८

४. छान्दोग्योपनिषद्—५, २, ८

आख्यायिकाओं के द्वारा उपदेशात्मक निष्कर्ष निकालने की परम्परा के उपनिषद मे भी यत्र तत्र दर्शन हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् मे बैल तथा चिडिया के द्वारा सत्यकाम को उपदेश एव कुत्तो के द्वारा अपना नेता खोजने की आख्यायिकाएँ कुछ इसी प्रकार की है।

इस प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ सदाचार एव शिष्टाचार की शिक्षा प्रदान कर त्याग एवं तपस्या की महिमा को बताते हुए ब्रह्मज्ञान एव मुक्ति के अनुपम आदर्शो से ओत प्रोत नैतिक तथ्यो का प्रसार करते है।

वेदाङ्ग

उपनिषद् ग्रन्थों के अनन्तर वेदाङ्गो का स्थान है। शिक्षा, छन्दस्, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष एव कल्प, ये छ वेदाग कहे जाते है। अकारादि वर्णों का ठीक ठीक ज्ञान कराना शिक्षा का विषय है। 'छन्दस्' के अन्तर्गत विविध छन्दो की व्याख्या की जाती है। निरुक्त से अभिप्राय है–भाषा के ज्ञान अथवा निर्वचन शास्त्र से। ज्योतिष का सम्बन्ध है खगोल विद्या से, व्याकरण मे किसी भाषा के व्याकरण का विवेचन होता है। कल्प के अनेक विषय है—विधि, नियम एव न्याय। श्रोत सूत्र, गृह्य सूत्र एव धम सूत्र-तीन प्रकार के कल्प सूत्र है।

यज्ञ आदि के विधान का विवरण प्रस्तुत करने वाले श्रोत सूत्र कहे जाते है। गृहस्थ के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त कर्तव्यो एव अनुष्ठानो का विवरण देने वाले गृह्य सूत्र है। एव विभिन्न पारमार्थिक, सामाजिक, राजनीतिक कर्तव्यो तथा विविध वर्णों एव आश्रमो के आचरणो एव विवाह आदि से सम्बन्धित कल्प-सूत्र 'धर्म सूत्र' कहे जाते है। धार्मिक अनुष्ठानो मे अपने मन को सलग्न कराके धार्मिक विधियो एव नियमो का प्रतिपादन कर समाज के जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करना इन सूत्रो का प्रमुख उद्देश्य है।

समय चक्र के परिवर्तन के साथ ही वेदो के अध्ययनाध्यापन की परम्परा मे कुछ शैथिल्य आना अत्यन्त स्वाभाविक था, अत भारत के परिवर्तित वातावरण मे वेदो के उच्चारण की रक्षा, उनके पठन-पाठन की सुविधा तथा वैदिक आचार विचार एव कर्म काण्ड की परम्परा की सुरक्षा की दृष्टि से इन वेदाङ्गो का प्रारम्भ एव अद्वितीय विकास हुआ है। दैनिक आचार, धर्म एव व्यवहार से सम्बन्धित अनेक नैतिक उपदेश एव उत्कृष्ट नैतिक मान्यताएँ वेदाङ्गो की अपनी विशेषता है।

पूर्व पुरुषो के मार्ग का अनुसरण करना प्रत्येक मानव का आवश्यक कर्तव्य माना गया है। दैनिक जीवन के आचार के क्षेत्र मे पञ्च महायज्ञो का अनुष्ठान मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है।

"तानेतान् यज्ञानहरहः कुर्वीत।"[1]

उपवेद

चारो वेदो के चार उपवेद भी चिरकाल मे सुप्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद है, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गन्धर्ववेद एवं अथर्व वेद का उपवेद अर्थ वेद है, जिसके अन्तर्गत दण्डनीति, राजनीति, अर्थशास्त्र, स्थापत्य कला आदि लिये जाते हैं। चतुर्दश विद्याओ के अन्तर्गत उपवेदो का भी ग्रहण होता है।

धनुर्वेद एव गन्धर्व वेद मे नीति के तत्त्व अधिक मात्रा मे उपलब्ध नही होते। आयुर्वेद मे स्वास्थ्य के सन्दर्भ मे एव आचार विचार विषयक अनेक उपदेशात्मक तत्त्व दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सामान्य नीति सम्बन्धी उक्तिया भी अनायास ही प्राप्त हो जाती है। ज्वर की चिकित्सा के अवसर पर महर्षि चरक ने 'विष्णु सहस्रनाम' के पाठ करने का आदेश दिया है :—

"विष्णु सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति।"[2]

चरक ने रोगों की चिकित्सा एव निदान का ही विवेचन प्रस्तुत नहीं किया है प्रत्युत उन्होने अपने ग्रन्थ मे शरीर क्या है, रोगो का स्वरूप क्या है, रोगो का आक्रमण शरीर पर होता है अथवा आत्मा पर इन सब आवश्यक तत्त्वो की मीमांसा अत्यन्त पाण्डित्य पूर्ण रीति से की है।

सुश्रुत के एक श्लोक मे शास्त्र पढकर उसके अर्थ को न समझने वाले मूर्ख की घोर निन्दा की है। चन्दन के भार को वहन करने वाला गधा केवल उसके

---

१. आश्वलायन गृह्य सूत्र—३, १४

२. चिकित्सा स्थान अध्याय—६, ३११, (चरक संहिता)

भार जो जानना है न कि उसके गुण अथवा उसकी सुगन्धि को उसी प्रकार शास्त्रो को पढ़कर भी व्यावहारिक ज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति भी शास्त्र का केवल बोझा मात्र ढोता है –

"यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एव हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा: खरवद् वहन्ति ।"

धनुर्वेद मे धनुष तथा बाण के नाना प्रकार से चलाने के ढगो का वर्णन तो है ही, साथ ही साथ सब प्रकार के आयुधो के फेंकने और चलाने का भी पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है । युद्ध के भेद, व्यूह रचना के प्रकार, युद्ध करने के विभिन्न प्रकार आदि के यथार्थ निरूपण के लिए इस उपवेद का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है ।

अथर्व वेद का प्रतिपाद्य विषय राजनीति है। राजनीति से सम्बन्धित विविध नैतिक सिद्धान्तो का विवरण होने से यह नीति शास्त्र के अन्तर्गत लिया जाता है। इस विषय के प्राचीन आचार्य बृहस्पति, बाहुदन्ती पुत्र, विशालाक्ष एव उशना आदि के नाम का अन्य नीति ग्रन्थो मे उल्लेख प्राप्त होता है । इस विषय का महत्त्व पूर्ण, स्वतन्त्र एव प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ कौटिल्य अर्थ शास्त्र हैं ।

इन ग्रन्थो मे राजा एव प्रजा के व्यवहार, युद्ध नीति, न्याय, दण्ड, अर्थ-व्यवस्था आदि का सम्यक् विवेचन किया गया है ।

इस शास्त्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीयो पर लौकिक विषयो से पराङ्मुख होने का जो दोषारोपण किया जाता है वह मिथ्या एव असगत है । भारतीय मनीषि जिस प्रकार आध्यात्म शास्त्र के चिन्तन मे लीन रहते थे, उसी प्रकार वे लौकिक शास्त्रो के मनन एव समीक्षण मे भी पूर्णतया निष्णात थे ।

प्रस्तुत विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय नैतिकता के विकास मे अपने अद्भुत योग दान के कारण वदिक धारा समस्त भारतीयो के लिए सच्चे स्वरूप मे सदा सर्वदा अभिमान की वस्तु रहेगी । भारतीय नीति की दृष्टि से वेद ऐसे प्रकाश स्तम्भ है जिनकी ज्योति सदा ही हमारे जीवन के लिए मार्ग प्रदर्शन करती रहेगी ।

————

आचार एवं व्यवहार

पिछले परिच्छेद मे, पृष्ठ भूमि के रूप मे, नीति तत्त्व के विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की जा चुकी है। प्रकृत परिच्छेद मे नीति के सामाजिक स्तर का अवलोकन करके उसके प्रति भारतीय मनीषियो के सामान्य दृष्टिकोण का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

मानव स्वभाव से ही एक सामाजिक जीव है। निसर्ग-सिद्ध सस्कारो की सहायता से वह विभिन्न परिस्थितियो मे एक दूसरे के सम्पर्क मे आकर सामाजिक विकास की पृष्ठ भूमि प्रस्तुत करता है। आत्मरक्षण एव एकत्रित रहने की नैसर्गिक वृत्तियो का इस सगठन मे विशेष योग रहता है। मनुष्य की सामाजिक प्रवृत्ति के मूल मे उसकी मूल-भूत आवश्यकताएँ मानी जाती है। इस जीवन का आधार पारस्परिक सहयोग एव सेवा विनिमय हैं। इन विविध प्रवृत्तियो से प्रेरित होकर तथा प्रतिकूल परिस्थितियो मे आत्म रक्षण को कठिन मानता हुआ मानव अपने को सामाजिक एकता के सूत्र मे आबद्ध करने की चेष्टा करता है। सामाजिक सगठन मे ही आचार, विचार, आदर्श आदि की एकता, सगठन शक्ति एव सामूहिक विकास समाविष्ट है।

भारतीय प्राचीन ग्रन्थो के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पारिवारिक जीवन के समान ही सामाजिक जीवन भी नैसर्गिक एव वैज्ञानिक सिद्धातो के आधार पर विकसित हुआ है। आर्य और अनार्य के रूप मे सुव्यवस्थित सभ्य एव असभ्य मानव समाज से प्राय सभी परिचित हैं। समष्टि-भावना को सामाजिक जीवन का प्राण एव मौलिक सिद्धान्त माना जा सकता है। दूसरे व्यक्तियो के साथ अपने हित सम्पादन की भावना का ही नाम समष्टि भावना है। स्वभावत. वैयक्तिक स्वार्थों मे लिप्त मनुष्य के समक्ष समष्टि भावना का आदर्श नितराम महान् है। यही कारण है कि समाज की

उन्नति एव रक्षा के लिए इस भावना की अनिवार्यता का अनुभव समय-समय पर किया जाता रहा है।

समष्टि मूलक मानव जीवन मे पारस्परिक सम्पर्क एव सहयोग नितान्त अपेक्षित है। मानव का व्यावहारिक ज्ञान ही इस सम्पर्क को सुन्दर एव सफल बनाने मे सार्थक होता है। सामाजिक जीवन मे व्यक्तियो का परस्पर मिलन, आदान प्रदान, वार्तालाप, आचरण आदि सभी व्यावहारिक ज्ञान पर ही अवलम्बित रहते हैं। व्यक्ति की व्यवहार कुशलता एव आचार सम्बन्धी दृढता उसकी उन्नति एव समृद्धि की आधार शिला है। सामाजिक नियमो, मान्यताओ एव व्यावहारिक नियमो के अनुकूल आचरण मानव के लिये हितकारक माना जाता है। सामान्यत. नागरिक जीवन का विकास इसी भावना के आधार पर हुआ है।

भारतीय नीतिकारो के द्वारा प्रतिपादित आचार एव व्यवहार सम्बन्ध नियमो के अनुपालन से व्यष्टि एव समष्टि की सर्वाङ्गीण उन्नति सर्वथा सम्भव है।

किसी देश की सामाजिक अवस्था का सम्यक् अध्ययन करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उसके आधार स्तम्भो को यथावत् समझने का प्रयत्न किया जाय। पारिवारिक जीवन, वर्ण व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था आदि सामाजिक जीवन के आधार स्तम्भ माने जाते हैं।

पारिवारिक जीवन में नैतिक आदर्श

पारिवारिक जीवन से सम्बन्धित नैतिक आदर्शों का विवरण प्रस्तुत करते हुए, मानव जीवन के समक्ष उपस्थित होने वाली विभिन्न अवस्थाओ एव उनमे समुचित नैतिक मान्यताओ की ओर सकेत करना यहा हमारा लक्ष्य है। सामाजिकता की दृष्टि से परिवार का महत्त्व किसी प्रकार कम नही है। प्राय· व्यक्ति किसी न किसी परिवार का सदस्य होता है। मानव के विकास की यह वह अवस्था है, जबकि मानव मे पारिवारिकता का उदय होता है।

सभ्यता के विकास मे, जीवन की विसष्ठुलता की वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक जीवन का जन्म होता है। इसी नियम के अनुसार और विशेषत तत्कालीन पारस्परिक सघर्ष के कारण पारिवारिकता का आरम्भ हुआ। एक मूलभूत आधार वाले सुव्यवस्थित सामाजिक समूह का नाम ही परिवार है। काम की स्वाभाविक वृत्ति को लक्ष्य मे रखकर यौन सम्बन्ध एव सन्तति के उत्पादन की क्रियाओ का नियमन करने एव भावनात्मक इस सस्था के सदस्यो मे घनिष्ठता का वातावरण प्रस्तुत करने के हेतु परिवार सस्था का उदय

एवं विकास हुआ है। यह सस्था बालक के समुचित पालन पोषण की व्यवस्था करते हुए उसके सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करती है। परिवार-प्रथा साधारणतः सभी स्थानो पर एक समान नही मिलती तथापि उसके अपने व्यावहारिक परिवेश मे बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। चाहे उसके बाह्य रूप मे वैषम्य प्रतीत होता हो परन्तु मौलिक सिद्धान्तो की दृष्टि से उनका आधार एक ही है।

परिवार का दायित्व

मानव के लिए सुख एव सुविधा का जीवन प्रदान करने के साथ ही साथ उसे सामाजिक स्तर प्रस्तुत करना भी परिवार का प्रमुख कर्तव्य होता है। सहिष्णुता एव पारस्परिकता के सम्बन्धो की सृष्टि परिवार से ही होती है। एक दूसरे के अपने अधिकारो का परित्याग एव परस्पर कष्ट सहिष्णुता ही पारिवारिक जीवन की आधार शिला है। यह निसर्ग सिद्ध सत्य है कि इस सस्था के सदस्यो के चरित्र निर्माण मे परिवार का प्रमुख योगदान रहता है। शिशु के व्यक्तित्व का विकास इस छोटी सी परिधि मे होता है एव वश क्रमानुगत आचार विचार एव परम्पराओ की शिक्षा दीक्षा उसे परिवार के अनुकूल वातावरण मे ही दी जाती है।

परिवार का आधार

इस प्रकार व्यक्ति के सामाजीकरण एव उसके अभ्युदय लाभ की प्रक्रिया मे परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इन आधार भूत कार्यो के अतिरिक्त एक निश्चित आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एव सास्कृतिक दायित्व की दृष्टि से इस सस्था का महत्त्व किसी से कम नही है। पारिवारिक जीवन का प्रमुख आधार .है—मानव के प्रेम' स्नेह, वात्सल्य आदि मनोभाव। मानव और मानव को परस्पर आबद्ध करने वाले ये मानसिक तत्त्व ही परिवार मे पति, पत्नी एव सन्तति को परस्पर निबद्ध किये रहते हैं। परिवार के अतिरिक्त अन्य सगठनो का आधार जहा 'विचार' होते है वहा पारिवारिक सगठन 'भावना' पर आधारित होता है। यह वह भावनाहै जिसमे सहजता एव सरसता का प्राधान्य होता है। पति, पत्नी एव सन्तति की पारस्परिक सर्वस्व-समर्पण एव त्याग की भावना मानव एव पशु दोनो मे ही चिरकाल से दृष्टिगोचर होती है।

पारस्परिक सहयोग

इसके अतिरिक्त पारस्परिक सहयोग की भावना का भी परिवार मे कम महत्त्व नही है। अपनी प्राण रक्षा एव हित साधन के हेतु अन्य व्यक्ति के सहयोग की अपेक्षा

रहती है । जब पुरुष अपने परिवार के सदस्यो—स्त्री एव बच्चो के हित-सम्पादन मे अपना सर्वस्व खोकर भी सलग्न हो जाता है तो इसके परिणाम स्वरूप स्त्री और बच्चे भी आवश्यकता पड़ने पर उसकी सहायता एव हित-साधन के हेतु अपना सर्वस्व लुटाने मे पीछे नही रहते । दूसरे व्यक्तियो की सहायता के आधार पर मानव को आत्मरक्षा एव सामाजिक जीवन की विविध आकाक्षाओ की पूर्ती की दिशा मे बल प्राप्त होता है । इस प्रकार वह दूसरो की सहायता के माध्यम से अपनी रक्षा का सूत्र पात करता है ।

व्यक्ति का दायित्व

एक ओर जब परिवार व्यक्ति की उन्नति, सुख एव शान्ति का कारण है, तो दूसरी ओर व्यक्ति का भी यह स्वाभाविक कर्तव्य हो जाता हैं कि वह भी परिवार के हित को लक्ष्य मे रखकर ही कोई कार्य करे । अपने कुल की मान मर्यादा एव प्रतिष्ठा को दृढ बनाये रखने तथा अपने परिवार के अनुरूप व्यवहार करने से ही वह अपने परिवार के सगठन को सुदृढ एव बलशाली बनाने मे सफल हो सकता है । परिवार से बहिष्कृत किये जाने का भय तथा परिवार के सरक्षण से निष्कासित जीवन के अनेकानेक कष्टो की कल्पना भी इस संस्था को बल प्रदान करती है। पारिवारिक अथवा सामाजिक बन्धनो की उपेक्षा करना उसके सामर्थ्य से बाहर हो जाता है ।

परिवार मे पिता का स्थान सर्व प्रधान माना जाता है, अतएव वही परिवार के सभी कार्य कलापो का केन्द्र बिन्दु होता है । ऐसा होते हुए भी माता का परिवार मे कुछ कम महत्त्व हो, ऐसी बात नही है । दानो ही अपने क्षेत्र मे समुचित समादर एव सम्मान प्राप्त करते है ।

मानव जीवन के वाह्य एव आन्तरिक—ये दो पक्ष माने जाते हैं । जीवन का वाह्य पक्ष, जिसे समाज पक्ष भी कहा जाता है, पिता से अधिक सम्बन्ध रखता है । बालक के सामाजिक जीवन के विकास मे पिता का अत्यन्त महत्त्व शाली स्थान है । इसी प्रकार उसका दूसरा पक्ष भी है। जीवन के आन्तरिक पक्ष के अन्तर्गत पारिवारिक परिस्थितिया एव वातावरण का समावेश होता है । आन्तरिक पक्ष जिसका हृदय से भी गहन सम्बन्ध है, माता से अधिक सम्बद्ध एव पोषित होता है । मानव जीवन के इन दोनो पक्षो का समुचित विकास ही पारिवारिक जीवन की आधार भमि है ।

परिवार

भारतीय परम्परा मे परिवार को एक धार्मिक संस्था के रूप मे स्वीकार किया

गया है। पुत्र प्राप्ति को स्वर्ग प्राप्ति का कारण मानकर विवाह के धार्मिक महत्त्व पर, हमारे प्राचीन मनीषियो ने, विशेष प्रश्रय दिया है। पितृ-ऋण से मुक्त होने के लिए विवाह कर सन्तति-उत्पादन करना मानव का अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है।

रघुकुल के परिवार का आदर्श भारतीय समाज को न केवल वर्तमान काल मे ही अपितु आगामी युग युगान्तरो मे भी प्रकाश स्तम्भ के समान मार्ग प्रदर्शन करता रहेगा भरत का भ्रातृ-स्नेह, सीता की राम के लिए कष्टसहिष्णुता के साथ ही सेवा भावना, लक्ष्मण की राम के प्रति भक्ति दशरथ का पुत्र वात्सल्य एवं कौसल्या का आदर्श-मातृत्व मानव का नैतिक आदर्शों का निकषोपल बनकर आचरण के श्रेयत्व को सदैव परखता रहेगा।

पिता-माता, पुत्र-पुत्री, पुत्रवधू आदि सभी जहा सानन्द निवास करते हो, वही सुखी एव समृद्ध परिवार की परिभाषा है। पारिवारिक सभी सदस्यो के आनन्द एव उल्लास से समस्त वातावरण सुख से ओत प्रोत रहता है।

राम अपने बाल्य काल की प्रशसा करते हुए अपने हृदय के उद्गार व्यक्त करते हैं कि वे दिन चले गये, जब नूतन विवाह का अवसर था, पिता एव माताए सदैव पुत्रो एवं पुत्र-वधुओ के सुख की चिन्ता मे निरन्तर लगे रहतेथे.—

"जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे।
मातृभिश्चिन्त्यमानाना ते हि नो दिवसा गता।"[1]

पारिवारिक जीवन का आदर्श, जीमूतकेतु के जीवन को देखकर, स्पष्ट हो सकता है। तरङ्ग की तरह चञ्चल अञ्चल वाले तथा फेन से युक्त जल की तरह श्वेत क्षौम को धारण करने वाला गङ्गा के समान महापुण्य वाली अपनी पत्नी से सुशोभित यह पुरुष समुद्र की तरह प्रतीत होता है। समीप मे ही विराजमान उसकी पुत्र-वधू वेला के समान शोभा का प्रसार कर रही है।

"क्षौमे भङ्गवती तरङ्गितदशे फेनाम्बुतुल्ये वहन्।
जाह्नव्येव विराजित. सुपयसा देव्या महापुण्यया।

---

१. उत्तर रामचरित—१, १९

२. नागानन्द—४, २.

घत्ते तोयनिधेरयं सुसदृशी जीमूकेतु· श्रियम्।
यस्यैषान्तिकवर्तिनी मलयवत्याभाति वेला यथा।'[2]

नव विवाहिता वधू को देखकर माताओ का निश्चल भाव से प्रसन्न होना एक शाश्वत सत्य है। सूक्ष्म एव विरल कपोलो पर, बिखरे हुए, केशो से एव पुष्पो की तरह दातो से सुन्दर मुख को धारण करती हुई अल्प वय वाली अत्यन्त सुन्दर चन्द्रिका के समान तथा स्वाभाविक विलासो से सम्पन्न प्रीति को उत्पन्न करने वाले अगो से युक्त पुत्र-वधू अपनी माताओ के हृदय मे अपार हर्ष का सचार करती है —

"प्रतनु विरलै. प्रान्तोन्मीलमनोहरकुन्तलै,
दशनकुसमै मुग्धालोक शिशुर्दधती मुखम्।
ललित ललितै ज्योत्स्ना प्रायैरकृत्रिम विभ्रमै,
अकृत मधुरैरम्बाना मे कुतूहलमङ्गकै:।' [3]

परिवार मे व्यक्ति का पूर्ण विकास होता है। सुखो की चरम अनुभूति उसके सर्वतोमुखी जीवन मे आनन्द का प्रसार करती है। यौवन के सुखो का अनुभव किया, कीर्ति का प्रसार किया, स्थिर बुद्धि से राज्य का पालन किया, श्लाघनीय पुत्र एव समान कुल मे उत्पन्न होने वाली कुल-वधू को प्राप्त किया। जीवन की कृतार्थता इस सर्वाङ्गीण जीवन के सुख और आनन्द मे है।

"भुक्तानि यौवन सुखानि यशो ऽ वकीर्णम्।
राज्ये स्थित स्थिर धिया चरित तपो ऽपि।
श्लाध्य. सुत. सुसदृशान्वयजा स्नुषेय।
चिन्त्यो मया ननु कृतार्थतयाद्य मृत्यु.।"[4]

कुटुम्ब अथवा परिवार समस्त मानवीय सगठनो की मूल इकाई है एवं

---

१. राम उत्तर चरित—१, १६.

२. नागानन्द—५, २.

३. उत्तर रामचरित १, २०.

४. नागानन्द—५, ३.

सामाजिक विकास की पहली सीढी । सामाजिक कर्तव्यो का पालन कराने के लिए मानवीय व्यक्तित्व के विकास मे यह कितना योग देता है, इसका ज्वलन्त उदाहरण दशरथ के पारिवारिक जीवन मे उपलब्ध होता है । वाल्मीकि ने पारिवारिक जीवन के मूलभूत आदर्शों का चित्रण कर भावी समाज के लिए मार्ग-दर्शन का काम किया है । वैवाहिक जीवन को पितृ ऋण से मुक्त होने का एक साधन मान कर पारलौकिक कल्याण के लिए पुत्र प्राप्ति की नितान्त आवश्यकता को स्वीकार करना पारिवारिक जीवन का मूल आधार है ।

पिता

माता एव पिता अपनी सन्तान के परम स्नेह और श्रद्धा के भाजन होते हैं । 'पा' रक्षणे धातु से निष्पन्न होने वाले पिता शब्द का अर्थ सरक्षक होता है । यह व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही पिता के उस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उत्तारदायित्व का सूचक है, जा वह अपने नन्हे अबोध शिशुओ का पालन पोषण करके निभाता है ।

पिता और माता की आज्ञा का पालन पुत्र का सर्वोपरि कर्तव्य है । राम के अनुसार इससे बढकर और क्या विडम्बना हो सकती है कि वह अपने बीच प्रत्यक्ष रूप से विराजमान माता, पिता एव गुरू की उपेक्षा करे तथा उन देवताओ की पूजा करे, जिनके अस्तित्व का कुछ ज्ञान नही—

स्वाधीन समतिक्रम्य मातर पितर गुरुम् ।
अस्वाधीन कथ दैव प्रकारैरभिराध्यते ।"[1]

पिता की सेवा करना कल्याण प्राप्ति का जैसा उत्तम साधन माना जाता है, वैसा न सत्य है, न दान है, न मान है और न पर्याप्त दक्षिणा वाले यज्ञ ही हैं । गुरुजनो की सेवा से स्वर्ग, धन, धान्य, विद्या, पुत्र और सुख कुछ भी दुर्लभ नही है।

"न सत्य दानमानौ वा न यज्ञाश्चाप्तदक्षिणा ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्हिता ।

१—रामायण अयोध्याकाण्ड-३०, ३३.

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्याः पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्यनृरोधेन न किञ्चिदपि दुर्लभम् ।"[1]

इन महान् आदर्शो से अनुप्राणित होकर वन जाते हुए राम ने घोषणा की थी—"सत्य और धर्म मे स्थित मेरे पिता के जो आदेश हो उन्ही का मैं पालन करना अपना कर्तव्य समझता हूँ ।" यही सनातन धर्म है । पिता की आज्ञा का उल्लघन करके वह जीवित भी नहीरहना चाहते :-

"स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थित' ।
तथा वर्तितुमिच्छाशि सहि धर्मः सनातन. ।[2]

पिता की आज्ञा का पालन, उसके औचित्य-अनौचित्य का विचार किये विना ही करना चाहिये । पिता की आज्ञा के पालन करने वाले पुत्र के समस्त पाप स्वतः ही तिरोहित हो जाते है.—

"तस्मात् पितृ वच' कार्य न विचार्य कदाचन ।
पातकान्यपि पूयन्ते पितु. शासनकारिण ।"[3]

महर्षि व्यास के अनुसार पिता ही धर्म है, वही स्वर्ग है और वही उत्कृष्ट तप है । उसके ही प्रसन्न होने पर समस्त देवगण प्रसन्न हो जाते हैं.—

"पिता धर्मं पिता स्वर्ग. पिता हि परम तपः ।
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वा: प्रीयन्ति देवता ।"[4]

पिता के आदेश पर राम आग मे कूदने, विष को सहर्ष पीने, एव समुद्र मे गिर पडने को प्रस्तुत हैं । पिता ही उनके हित-चिन्तक, उनके गुरु, शासक एव नियामक है ।

१—रामायण अयोध्याकाण्ड-३०, ३५, ३६.
२—वही-३०, ३८.
३—महाभारत-शान्ति पर्व, २६६, १६.
४—वही-२६६, २१.

"अह हि वचनाद्राज्ञ' पतेयमपि पावके
भक्षयेयं विष तीक्ष्ण पतेयमपि चार्णवे ।'
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ।"[2]

पिता की आज्ञा की अवहेलना के द्वारा पिता को असन्तुष्ट एव अप्रसन्न कर राम जीवित रहने को भी वह गर्हणीय मानते हैं। जीवन की अपेक्षा पिता की आज्ञा को महत्त्वपूर्ण स्थान देना उनकी आदर्श पितृ-भक्ति का ज्वलन्त उदाहरण है—

अतोषयन्महाराजमकुर्वन्वा पितुर्वचः ।
मुहूर्तमपि नेच्छेय जीवितु' कुपिते नृपे ।"[3]

पिता तो मानव की उत्पति का कारण है। प्रत्यक्ष देवता के समान उस पिता के समक्ष उसकी अवहेलना करना नितान्त अनुचित कार्य है—

"यतो मूल नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मम् ।
कथ तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ।"[4]

पिता के आज्ञा के पालन की समान कोई अन्य धर्म नही है। उनकी शुश्रूषा तथा उनके वचनो का सम्यक् अनुपालन ही उत्तम धर्म है—

"नह्यतो धर्माचरण किञ्चिदस्ति महत्तरम ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचन क्रिया ।"

१—महाभारत-शान्तिपर्व, २६६, २१.

१—रामायण-अयोध्याकाण्ड, १८, २८ २९.

३—वही-१८, १५.

४—वही-१८, १६.

५—वही-१९, २२.

माता और पिता की आज्ञा मिलकर और भी दृढता को धारण कर लेती है । पिता के गौरव के समान ही माता की भी प्रतिष्ठा होती है—

"यावत्पितरि धर्मज्ञे गौरव लोक सत्कृते ।
तावद्धर्मभृता श्रेष्ठ ! जनन्यामपि गौरवम् ।
एताभ्यां धर्मशीलाभ्या वन गच्छेति राघव ।
मातृपितृभ्यामुक्तो ऽह कथमन्यत्समाचरे "[1]

अपने इस कर्तव्य को ध्यान मे रखकर राम ने अपनी माता कोसल्या से कहा—"पिता की आज्ञा की अवहेलना करने की मुझ मे क्षमता नही है अत सिर झुकाकर वन गमन की अनुमति के लिए प्रार्थना करता हूँ ।"

"नास्ति शक्ति: पितुर्वाक्य समतिक्रमितु मम ।
प्रसादये त्वा शिरसा गन्तुमिच्छाम्यह वनम् ।"[2]

पिता की मृत्यु के अनन्तर भी पुत्र ही पिता की गति है । प्रिय पुत्र के द्वारा दिया हुआ पिण्ड और जल पितृलोक मे अक्षय होकर स्थिर रहता है—

"प्रियेण खलु दत्ताहि पितृ लोकेषु राघव ।
अक्षय भवतीत्याहु र्भवांश्चैव पितु. प्रियः ।"[3]

राम ने भरत से पिता की प्रतिज्ञा को पूर्णकर ऋण मुक्त होने के लिए आग्रह किया । 'पुम्' नामक नरक से पुत्र ही पिता का उद्धार करता है, अतः पुत्र ही पितरो की सब प्रकार से रक्षा करने वाला कहा जाता है—

"पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितर त्रायते सुत ।
तस्मात्पुत्रइति प्रोक्त पितृभ्य. पाति सर्वतः ।"[4]

१—रामायण--अयोध्या काण्ड, १०४, २१.२२
२—वही--२१ ३०.
३—वही–१०१, ८.
४—वही–१०७--१२.

भरत के, अन्य ऋषियों एवं प्रजागण के आग्रह करने पर अन्त में राम दृढता पूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि चन्द्रमा से उसकी कान्ति भले ही अलग हो जाय, हिमालय चाहे हिम का परित्याग करदे, अथवा समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन करदे, किन्तु वह अपने पिता की प्रतिज्ञा को कभी भङ्ग नहीं कर सकते–

"लक्ष्मी चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ।"[1]

कालिदास ने भी पिता की आज्ञा के पालन पर विशेष प्रश्रय दिया है—

"तौ निदेश करणोद्यतौ पितुर्धन्विनौ चरणयोर्निपेततुः ।
भूपतेरपि तयोः प्रवत्स्यतो र्नम्रयोरुपरि बाष्पबिन्दवः ।[2]

अश्वघोष के अनुसार परिवार के किसी भी स्नेह शील व्यक्ति का परित्याग अश्रेयस्कर एवं अत्यन्त गर्हणीय माना गया है । पुत्र-प्रिय पिता को, पालन पोषण से परिश्रान्त माता को एवं गुणवती, पुत्रवती, पतिव्रता पत्नी को छोडना धर्म के विरुद्ध कहा जाता है–

"तन्नार्हसि महाबाहो विहातुं पुत्र लालसम् ।
स्निग्धं वृद्धं च राजानं सद्धर्ममिव नास्तिकः ।
संवर्धन परिश्रान्तां द्वितीयां तां च मातरम् ।
देवीं नार्हसि विस्मर्तुं कृतघ्न इव सत्क्रियाम् ।
बालं युक्तां गुणवतीं कुलश्लाघ्यां पतिव्रताम् ।
देवीमर्हसि न त्यक्तुं क्लीव प्राप्तामिव श्रियम् ।"[3]

परिवार को संकटावस्थ देखकर प्राणों की आहुति के द्वारा भी कुल की रक्षा करने के लिए उत्सुक पुत्र का आदर्श चरित्र स्पृहणीय है । कुल की रक्षा करना ज्येष्ठ पुत्र का परम कर्तव्य है—

१-रामायण-अयोध्याकाण्ड. ११२, १८.

२-रघुवंश—११. ४.

३-बुद्ध चरित—६, ३१-३३.

"मम प्राणै-गुरु प्राणानिच्छामि परिरक्षितुम् ।
रक्षणार्थं कुलस्यास्य मोक्तुमर्हति मा भवान् ।"[1]

श्री हर्ष ने जीमूतवाहन के चरित्र की आदर्शता को प्रस्तुत कर पितृ-भक्ति का चरमोत्कर्ष प्रस्तुत किया है। उन्होने सिंहासन पर आरूढ होने की अपेक्षा पिता के समक्ष भूमि पर बैठने को श्रेष्ठ माना है। पिता के चरणो को दबाने एव पिता के भुक्तशेष भोजन को खाने मे जो तृप्ति होतीहै उसका अ श भी त्रिभुवन के भोग्य पदार्थों के भोग मे नही हैं-

"तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किन्तथा ।
यत्सवाहयत सुखन्तु चरणौ तातस्य किं राजके ।
किं भुक्ते भुवनत्रय धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरोः ।
आयास. खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्गुण ।"[2]

स्वर्ग मे चले जाने पर भी चरणो मे चूडामणि को गिराकर प्रणाम रूपी विनय की परिपाटी का निर्वाह करने वाला पुत्र धन्य है—

"चूडामणिश्चरणयोर्मम पातयता त्वया ।
लोकान्तरगतेनापि नोज्झितो विनयक्रम: ।"[3]

एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि पिता के आदेश एव माता की आज्ञा के परस्पर विरोध होने पर किसका वचन पुत्र के लिए अधिक आदरणीय माना जाता है। यो तो भारतीय मनीषियो ने पिता के समान ही माता को भी गौरव प्रदान किया है तथापि भारतीय परम्परा मे पिता की आज्ञा को ही ऊ चा पद दिया जाता है। पिता की आज्ञा पाकर वनगमन के लिए उत्सुक राम से माता कौसल्या के वही रहने के आग्रह करने पर राम ने परशुराम का उदाहरण दिया, जिन्होने पिता की आज्ञा का आँख मू दकर पालन कर अपनी माता 'रेणुका' का सिर परशु से काट दिया था—

१-मध्यम व्यायोग—१, १६.

२—नागानन्द—१, ७.

३—वही—५, १२.

"जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् ।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारिणा ।"[1]

माता के प्रति अति स्नेह होने पर भी राम पिता के वचन का अधिक आदर करते थे। राम ने आग्रह पूर्वक माता से कहा कि पिता के वचन का अनुसरण करना चिरकाल से प्रचलित एक श्रेष्ठ परम्परा है—

"न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् ।
पूर्वै रयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ।"[2]

राम का अभिप्राय यह रहा कि पिता की आज्ञा केपालन करने से कोई भी धर्म भ्रष्ट नही होता ।[3] पितृ प्रधान परिवार मे पिता की प्रधानता नितान्त स्वाभाविक है ।

माता

पिता के समान ही समाज में माता का आदर एव सम्माननीय पद होते हुए भी पुत्र से सीधा सम्बन्ध होने के कारण पुत्र के प्रति माता की ममता एव स्नेह की तीव्रता का होना नितान्त स्वाभाविक है । माता को देवता के समान माना जाता है ।

भास के अनुसार माता को पिता से भी विशिष्ट पद दिया गया है । भीम से घटोत्कच ने कहा कि इस ब्राह्मण बालक को माता की आज्ञा से पकडा है अत पिता भी आज्ञा दें तो इसे भी मुक्त नही किया जा सकता ।

"मुच्यतामिति विश्रब्ध ब्रवीति यदि मे पिता ।
न मुच्यते तथाप्येष गृहीतो मातु इसे राज्ञया ।"[4]

माता के प्रति हार्दिक स्नेह के कारण पुत्र प्राण देकर भी अपने कर्तव्य का पालन करना चाहता हैं । वह जन्म जन्मान्तर मे भी उसी माता को प्राप्त करने की अभिलाषा करता है—

१—रामायण—अयोध्या काण्ड, २१, ३३.
२—रामायण—अयोध्याकाण्ड, २१, ३५-३६
३— पितुर्हि वचन कुर्वन्नकश्चिन्नाम हीयते । रामायण-अयोध्याकाण्ड, २१, ३७.
४—मध्यम व्यायोग—१, ३६.

"समुत्पत्स्यामहे मातर्यस्या यस्या गतौ वयम् ।
तस्या तस्यां प्रियसुते माता भूयास्त्वमेव नः ।

माता निस्वार्थ भाव से अपने सुखो का वलिदान करके अपनी सन्तान के जीवन का निर्माण करती है । मानव अन्य ऋणो से यथाकथञ्चित् उऋण हो सकता है परन्तु उसका माता के ऋण से मुक्त होना कदापि सम्भव नही । स्नेहभाजन होने के कारण पुत्र पर माता का अतिशय स्नेह रहता है—

"सर्वासुमातृष्वपिवत्सलत्वात्सनिर्विशेष प्रतिपत्तिरासीत् ।
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनाभिव कृत्तिकासु ।"[1]

मातृ भूमि को भी माता के समान ही आदर भाजन समझा जाता है। बाल्य-काल मे जिस की धूलि मे लौट लौट कर बडे हुए तथा जिसके मधुर जल से परिपुष्ट एव परिवर्धित हुए उस जन्मभूमि की स्मृति मानव को अतिप्रिय प्रतीत होती है—

"सेय मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूर्वियुक्ता ।
दूरे वसन्त शिशिरानिलै मां तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ।"[2]

माता के बिना पुत्र अनाथ के समान माना जाता है—

"मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्व विपर्यये ।"[3]

पुत्र चाहे समर्थ हो, चाहे अशक्त हो, चाहे कृश हो और चाहे सबल हो, माता ही पुत्र की रक्षा करती हे । नियमित· वही पुत्र की रक्षिका है—

"समर्थं वासमर्थ वा कृश वाप्यकृशन्तथा ।
रक्षत्येव सुत माता नान्यः पोष्टा विधानतः ।"[4]

१—रघुवश—१४, २२.
२—वही—१३, ६२.
३—महाभारत—शान्तिपर्व, २६६, २६.
४—वही—२६६, १६.

मनुष्य जब वृद्ध होता है और माता से वियुक्त होता है, तब जगत् शून्य सा दृष्टिगोचर होने लगता है। माता के समान दूसरी कोई (छत्र) छाया नहा है, माता के समान अन्य कोई आश्रय नही है तथा कोई रक्षक नही है। माता के समान वालक के लिए अन्य कोई प्रिय वस्तु नही है—

"यदा स वृद्धो भवति तदा भवति दु खित ।
तदा शून्य जगत्तस्य यदा मात्रा वियुज्यते।
नास्ति मातृ समा छाया नास्ति मातृ सभा गतिः।
नास्ति मातृसम त्राणा नास्ति मातृ सभा प्रिया।"[1]

पुत्र

पुत्र की कल्याण कामना के लिए माता का सदा उद्विग्न रहना स्वाभाविक है। परिवार मे पुत्र स्नेह का केन्द्र-बिन्दु होता है। दर्पण मे पडने वाले प्रतिबिम्ब के समान पुत्र से बढ़कर अन्य कोई भी वस्तु इतनी प्रिय नही होती—"नास्ति पुत्र समः प्रियः।"

पुत्र मे भी ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार पूर्ण स्थान माना गया है। वशगत एव भावनात्मक बन्धनो के कारण वह पिता का अधिक प्रतिपात्र होता है।

"प्रायेण हि नर श्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु बल्लमाः।"[2]

पुत्र प्रेम का मूर्तिमान् रूप होता है। धनी एव निर्धन एक समान दोना के ही हृदय को आनन्द देने वाला वह पुत्र पिता की ही दूसरी प्रतिमूर्ति होता है—

"इद तत्स्नेहसर्वस्वं सममाढ्यदरिद्रयोः।
अचन्दनमनौशीर हृदयस्यानुलेपनम्।"

१—महाभारत शान्तिपर्व—२६६, ३०—३१.

२—रामायण—बालकाण्ड, ६१, १६.

३—मृच्छकटिक—१०, २३.

बाल्यावस्था मे पिता-माता के मन को अपनी किलकारियो से प्रफुल्लित करता हुआ, यौवन मे सेवा शुश्रूषा के द्वारा तथा मृत्यु के अनन्तर निवापोदक देकर पुत्र उनका उद्धार करता है। पति और पत्नी के सुख की वह ग्रन्थि है—

"अन्त' करण तत्वस्य दम्पत्यो: स्नेहसश्रयात् ।
आनन्द ग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते ।"[1]

सम्पूर्ण अ गो से क्षरित प्रेम से प्रादुर्भूत चैतन्य रूप पदार्थ प्रगट होकर गाढ आनन्द से क्षुब्ध हृदय के रस से आर्द्र किया गया बालक, दृढ आलिगन किये जाने पर, सन्तप्त हृदय को हिम से सिञ्चित करता है—

"अङ्गादङ्गात्क्रत इव निजस्नेह जो देहसार ।
प्रादुर्भूय स्थित इव बहिश्चेतनाधातुरेक ।
सान्द्रानन्दक्षुभित हृदय प्रस्रवेणावसिक्तो ।
गाढाश्लेष: स हि मम हिमच्योतमाशसतीव ।"[2]

अल्प वय वाला शिशु अपनी तुतली एव अस्पष्ट वाणी मे बोलता हुआ अङ्क मे जाने के लिए जब हाथो को फैला देता है तब वह माता एव पिता के हृदय को अपरिमित आनन्दोल्लास से आप्लावित कर देता है—

"अनियतरुदितस्मित विराजत् ।
कतिपय दन्तकोमलकुड्मलाग्रम् ।
वदन कमलक शिशो. स्मरामि,
स्खलदसमञ्जस मञ्जु जल्पित ते ।"[3]

१—उत्तर रामचरित—३, १७.

—उत्तर रामचरित—६, २२. द्रष्टव्य महाभारत, आदि, पर्व ७४,६३

३—वही—४, ४.

अकारण हमने से जिनके दात अनायास ही दिखाई पडते हैं, तुतलाकर कुछ अस्पष्ट, मधुर बोलने वाले, अङ्क मे आने के लिए लालायित पुत्रो को अङ्क मे लेकर उनकी मिट्टी एव से मलिन शरीर वाले पिता धन्य समझे जाते है।[1]

विपत्ति मे पडे हुए पिता को सकट से मुक्त करना ज्येष्ठ पुत्र का सर्वोपरि कर्तव्य है—

"आपद हि पिता प्राप्तो ज्येष्ठपुत्रेण तार्यते।
ततो ऽहमेव यास्यामि गुरुणा प्राणरक्षणात्।"[2]

पिता की मृत्यु के अनन्तर उसे तिलाञ्जलि देकर मुक्ति प्रदान कराना पुत्र का प्रमुख कर्म माना जाता है—

"निवापाञ्जलि दानेन केतनै श्राद्धकर्मभि।
तस्योपकारे शक्तस्त्व किं जीवन् किमुतान्यथा।[3]

यही कारण है कि पुत्र के अभाव मे मूल पुरुष का उद्विग्न रहना अत्यन्त स्वाभाविक है—

अस्मात्पर वत यथाश्रुति सभृतानि।
को न कुले निवपनानि नियच्छतीति।
नून प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्त
धौताश्रुशेषमुदक पितर. पिबन्ति।"[4]

इसी पितृ-भक्ति से आप्लावित राम को वन जाते देखकर कौसल्या ने सब कष्टो से रक्षित रक्षा होने का वरदान दिया था। सत्पुरुष के समान आचरण कर धर्म का पालन करने वाले राम धर्म के द्वारा अभिरक्षित होकर वन की ओर अग्रसर हुए।

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल—७, १७.
२. मध्यम व्यायोग—१, १९.
३. वेणी सहार—३, १८
४. अभिज्ञान शाकुन्तल-६, २५.

"य पालयसि धर्मत्व धृत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल । धर्मस्त्वामभिरक्षतु।"[2]

पुत्र की महिमा का निरूपण करते हुए महर्षि व्यास ने बताया है कि तपश्चर्या, यज्ञ का अनुष्ठान; अथवा इस प्रकार के अन्य पावन पदार्थ पुत्र की समानता नही कर सकते—

"तपो वाप्यथ वा यज्ञो यच्चान्यत्पावन महत्।
तत्सर्व मपर तात न सन्तत्या सम मतम्।[2]

नीतिकारो की धारणा है कि चिरकाल पूर्व दिवङ्गत पितरो का उद्धार कर पुत्र उन्हे उच्च गति प्रदान करता है।

धर्म एव सुसञ्चित तप के फल से मानव उस गति को प्राप्त नही कर सकते जिसे पुत्र के द्वारा वे प्राप्त करने मे अनायास ही सफल हो जाते हैं—

"नहि धर्म फलैस्तात न तपोभिः सुसञ्चितैः।
ता गति प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो या व्रजन्ति वै।[3]

इसके विपरीत पुत्र के अभाव मे पितर अधोगति के भागी होते हैं। कार्य सिद्धि के हेतु प्रयास करते हुए पुरुष पुत्र को स्नेह से अक मे बैठाकर उसका मस्तक सूघकर गमन करते हैं तो वह अपना कार्य सम्पादन कर सकुशल घर लौटते हैं। पुत्र का स्पर्श अत्यन्त अल्हादकारी माना जाता है।

"न वाससा न रामाणा नापा स्पर्शस्तथाविध।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्श. सूनोर्यथा सुख:।[4]

सौ कूओ से एक बावडी श्रेष्ठ है, सौ बावडियो से एक यज्ञ उत्तम माना जाता है; तथा सौ यज्ञो से भी पुत्र अधिक श्रेयस्कर होता है।

---

१. रामायण-अयोध्या काण्ड, २५, ३
२- महाभारत-आदिपर्व, ४५, ३०-३१
३. वही-१३, २५
४. महाभारत—आदि पर्व ७४, ५६

"वर कूपशताद्वापी वर वापीशतात्क्रतु. ।
वर क्रतु शतात्पुत्र सत्य पुत्र शताद्वरम् ।[2]

पुत्र के उदय की कामना माता पिता की चरम अभिलाषा होती है। उसका पुत्र ममस्त मसार मे अक्षुण्ण कीर्ति को भोगता हुआ सानन्द जीवन यापन करे यह आकाक्षा प्रत्येक दम्पती की होती है।

"दिव मरुत्वानिव मोक्ष्यन भुव दिगन्तविश्रान्तरथोहि तत्सुत :।
अतो ऽभिलाषे प्रथम तथाविधे मनो बबन्धान्यरसान्विलङ्घ्यसा ।[3]

पुत्र से भी अधिक पौत्र प्रिय माना जाता है। पौत्र जन्म के अवसर पर हृदय मे अपार उल्लास का होना अत्यन्त निसर्ग सिद्ध है।

"अथेष्ट पुत्र परम प्रतीत· कुलस्य वृद्धि प्रति भूमिपाल.।
यथेव पुत्र प्रसवे ननन्द तथैव पौत्र प्रसवे ननन्द ।"[4]

पुत्र को शिक्षित करना पिता का सर्वोपरि कर्तव्य है। धाय के द्वारा सिखायी हुई पहली तुतली बोली को बोलकर, अगुलिया पकडकर लडखडाते पैरो से चलकर तथा विनीत हो गुरुजनो को प्रणाम करना सीखकर पुत्र माता-पिता को अपार आनन्द रस का पान कराता है—

"उवाच धात्र्या प्रथमोदित वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्र: प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सो ऽर्भकः ।[6]

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान पिता के स्नेह सिक्त निरीक्षण मे पुत्र उत्तरोत्तर बढने लगता है। पुत्र का सर्वतोमुखी विकास करना पिता का अनुपम कर्तव्य है।

---

१. महाभारत आदिपर्व ७४, १०२.

२. रघुवश—३, ४.

३. बुद्धचरित २, ४७.

४. रघुवश ३, २५

"पितु: प्रयत्नात्स समग्र सम्पद शुभै: शरीरावयवैर्दिनै दिनै ।
पुपोष वृद्धि हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमा: "[1]

पुत्री

पुत्र के समान ही पुत्री की भी समुचित जीवन व्यवस्था करना पिता का प्रमुख कर्तव्य माना गया है । महर्षि व्यास के अनुसार उत्पन्न होते ही कन्या के प्रदान की व्यवस्था कर लेनी चाहिये । यथासमय रूप, वय, गुण आदि मे समान वर को दी गयी कन्या पिता के धर्म की वृद्धि करती है—

"जात मात्रा तु दातव्या कन्यका सदृशे वरे ।
काले दत्तासु कन्यासु पिता धर्मेण युज्यते ।"[2]

माङ्गलिक कृत्यो मे कन्याओ की उपस्थिति शुभ मानी जाती है । उनमे स्वय लक्ष्मी प्रतिष्ठित रहती है—

"नित्य निवसते लक्ष्मी: कन्यकासु प्रतिष्ठिता ।
शोभना शुभ योग्या च पूज्या मङ्गलकर्मसु ।"[3]

रूप एव शुभ लक्षणो से युक्त कन्या का यौवन आने पर भी जो उचित वर के साथ ववाह नही करता है वह ब्रह्महत्या का भागी होता है—

"आत्मजा रूपसम्पन्ना महती सदृशे वरे ।
न प्रयच्छति य: कन्या त विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ।"[4]

गुणवान् व्यक्ति को कन्या देकर कृतकृत्य होना मानव जीवन का महत्त्व पूर्ण अङ्ग है । कन्या के जीवन मे सुख और शान्ति योग्य पति के आश्रयण से ही प्राप्त हो सकती है—

१.—रघुवश ३, २२

२.—महाभारत (गोरखपुर संस्करण) अनुशासन पर्व-२२ अध्याय ।

३.—वही

४.—वही

"सकल्पित प्रथममेव मया तवार्थे
भर्तारमात्मसदृश सुकृतैर्गतात्वम् ।
चूतेन सश्रितवती नवमालिकेयम्,
अस्यामह त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्त. ।"[1]

कन्या के भी दत्तक पुत्रिका का रूप मे ग्रहण किये जाने का उल्लेख सस्कृति काव्यो मे उपलब्ध होता है । महाराज दशरथ ने शान्ता नाम की अपनी कन्या को रोमपाद नामक राजा को दतक पुत्रिका के रूप मे दिया था—

"कन्या दशरथो राजा शान्ता नाम व्यजीजनत्
अपत्यकृतिकाँ राज्ञे रोमपादाय ता ददौ ।"[2]

भाभी

परिवार मे अग्रज की वधू का भी महत्त्व पूर्ण स्थान है । भाभी को माता के समान पूजनीय एव सम्मान के योग्य माना जाता है । देवर का भाभी के चरणो मे प्रणाम करने का शिष्टाचार अत्यन्त श्लाघनीय गिना जाता है ।

"लङ्केश्वरप्रणतिभङ्गदृढव्रत तद्वन्द्य युग चरणयोर्जनकात्मजाया. ।
ज्येष्ठानुवृत्तिजटिल च शिरोऽस्य साधोरन्योन्य पावनमभूदुभय समेत्य ।[3]

भ्राता

संस्कृत काव्य-ग्रन्थो मे भ्रातृ प्रेम के आदर्श की चरम परिणति दृष्टिगोचर होती है । राम का भरत से एव भरत का राम से और इसी प्रकार चारो भाइयो का परस्पर स्नेह सूत्र अत्यन्त गहन एव व्यापक था । भरत के लिए राम अपना सारा धन, राज्य, सीता एव प्राण भी देने को प्रस्तुत हैं ।

१—अभिज्ञान शाकुन्तल-४, १३.

२—उत्तर रामचरित १, ४.

३—रघुवश—१३, ७८.

"अहं हि सीता राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्या भरताय प्रचोदितः ।"[1]

अपने बडे भाई की आज्ञा को भी पिता की आज्ञा के समान ही समादर दिया जाता है । राम की आज्ञा का उल्लघन कर लक्ष्मण ने सरयू के तीर पर योग द्वारा प्राणो का परित्याग कर दिया था—

"स गत्वा सरयूतीर देहत्यागेन योगवित् ।
चकारावितथा भ्रातु प्रतिज्ञा पूर्वजन्मन ।"[2]

कालिदास के अनुसार अग्रज आदि बडे व्यक्तियो की आज्ञा विचारणीय नही होती । वह तो केवल पालनीय है—

"सशुश्रुवान्मातरि मार्गवेण पितुर्नियोगात्प्रहृतं द्विषद्वत् ।
प्रत्यग्रहीदग्रजशासन तदाज्ञा गुरूणा ह्यविचारणीया ।"[3]

सभा भवन में राम का स्मरण कर भरत रो पडते हैं तथा उनके लौट आने पर राम का दासत्व भी उन्हे स्वीकार है—

"निवर्तयित्वा रामञ्च तस्याह दीप्त तेजस ।
दासभूतो भविष्यामि सुस्थिते नान्तरात्मना ।"[4]

राम की कुश शय्या एव सीता के आभूषणो से गिरे हुए स्वर्ण के कुछ बिन्दु देखकर भरत अत्यन्त व्याकुल होकर भूमि पर शयन करने एव कन्दमूल फल खाकर ही तपोमय जीवन यापन करने का निश्चय कर लेते है—

"अद्य प्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तृणेषु वा ।
फलमूलाशनो नित्य जटाचीराणि धारयन् ।"[5]

१—रामायण—अयोध्या काण्ड, १६, ७.
२—रघुवश-१५, ६५,
३—रघुवश—१४, ४६.
४—रामायण—अयोध्याकाण्ड, ७३, २७.
५—वही—८८, २६.

भरत के वार वार आग्रह करने पर भी राम प्रत्यावर्तन के लिए सन्नद्ध नही हुए। राम को केवल इतना दु.ख रहा कि वह सिर झुकाकर याचना करने वाले भरत की इच्छा को ूरी नही कर सके—

"शिरसा याचतो यस्य वचन न कृत भया।"[1]

सीता ने राम और लक्ष्मण के प्रेम को विशिष्ट वताया है। सीता को अपेक्षा लक्ष्मण राम को अधिक प्रिय है इस तथ्य का सकेत हनुमान के द्वारा सीता को दिये गये सन्देश से प्राप्त होता है—

"मत. प्रियतरो नित्य भ्राता रामस्य लक्ष्मण ।
य दृष्ट्वा राघवो नैव वृत्तमार्यमनुस्मरेत् ।"[2]

लक्ष्मण के प्रति प्रेम की पराकाष्ठा प्रगट होती है उसके शक्ति लगने पर। अपने हृदय से अधिक प्रिय भाई को मूर्छित देखकर राम की अन्तरात्मा करुण-क्रन्दन कर उठती है। स्थान स्थान पर स्त्री एव वन्धु प्राप्त हो सकते है पर सहोदर भाई का मिलना असम्भव है—

"देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवा.।
तन्तु देश न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदर ।"[3]

ज्येष्ठ भ्राता को पिता के समान समादृत किया जाता है। धर्म का अनुगमन करने वाला ज्येष्ठ भ्राता, पिता एव विद्या दान देने वाला गुरु-ये तीनो पिता ही कहे जाते हैं।

"ज्येष्ठो भ्राता पिता चैव यश्च विद्या प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्म्ये वर्त्मनि वर्तिन:।"[4]

---

१ रामायण—युद्ध काण्ड, १२४, २०.
२. वही—सुन्दर काण्ड. ३८, ६२–६३.
३. वही—युद्ध काण्ड, १०२, १२—१३.
४. वही—किष्किन्धा काण्ड, १८, १३.

भाई, चाहे समृद्ध अवस्था मे हो अथवा सकट मे, ससार के सत्पुरुषो का यही सर्वोपरि धर्म है कि वह तन, मन, एव धन से अपने अग्रज की आज्ञा के पालन के लिए सदैव प्रस्तुत रहे—

"व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सता धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत् ।"[3]

अग्रज को राज्याधिकार से भ्रष्ट एव विषादयुक्त कर स्वय राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करना अत्यन्त गर्हणीय कहा जाता है। विल्हण ने ज्येष्ठ भ्राता को राज्य भ्रष्ट कर उसके राज्य के आत्मसात् कर लेने को एक कलङ्क कहा है—

"ज्येष्ठ परिम्लानमुख विधाय भवामि लक्ष्मीप्रणयोन्मुखश्चेत्।
किमन्यदन्यायपरायणेन मयैव गात्रे लिखित. कलङ्क ।"[4]

पुरुष का भ्रातृ जाया के वन्दना करते समय पैरो की ओर ही दृष्टिपात करना भ्रातृ सेवा के अक्षुण्ण आदर्श को प्रस्तुत करता है—

"नाह जानामि केयूरे नाह जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्य पादाभिवन्दनात् ।"[5]

भार्या

पारिवारिक सगठन मे भार्या का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान है। भरण पोषण के कारण पुरुष को भर्ता कहा जाता है तथा उसकी पत्नी को भार्या के नाम से बोधित किया जाता है। भार्या पुरुष का अर्धाङ्ग है, वह उसका सर्वोत्तम मित्र है, वह धर्म, अर्थ और काम का मूल है तथा वही ससार से मुक्ति दिलाने का साधन है। वह एकान्त मे मित्र के समान सहायक है। धर्म कार्य मे पिता के समान तथा रोग-ग्रस्त होने पर मधुर भाषण करने वाली वह माता के समान व्यवहार करती है।

३—रामायण—अयोध्या काण्ड. ४०, ६.
४—विक्रमाङ्कदेव चरितम्— ३, ३८.
५—रामायण—किष्किन्धा काण्ड, ६, २२.

"अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूल त्रिवर्गस्य भार्या मूल तरिष्यत ।
सखाय प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियम्वदा ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्तस्य मातर. ।"[1]

नीतिकारो की धारणा है कि पति से पहले प्राण विसर्जन करने वाली भार्या पति की प्रतीक्षा करती रहती है परन्तु यदि पति का निधन पहले हो जाता है तो वह उसका अनुगमन करती है।

"प्रथम सस्थिता भार्या पति प्रेत्य प्रतीक्षते ।
पूर्व मृत च भर्तार पश्चात्साध्वनु गच्छति ।"[2]

भर्ता स्त्रियो का सब भूषणो से उत्कृष्ट भूषण माना जाता है, जिसके बिना वह सुन्दर होते हुए भी शोभित नहीं होती—

"भर्ता नाम पर भूषण भूषणैर्विना ।
एपाहि रहिता तेन शोभमाना न शोभते ।"[3]

पति एवं पत्नी

पति और पत्नी का पावन सम्बन्ध अत्यधिक मनोहर एव आल्हादकारी माना जाता है। मानव सभ्यता के अरुणोदय काल से ही परिवार को स्थायित्व प्रदान करने मे पैतृक-स्नेह एव मातृक ममता का प्रमुख योग रहा है। परस्पर प्रेम भावना एवं एक दूसरे के कष्ट मे सहयोग की भावना पति पत्नी के वैवाहिक जीवन की आधारशिला है। पति पत्नी की पारस्परिक सदाचारिता तथा निष्कपट आत्मोत्सर्ग की भावना भारतीय समाज की विशेषता रही है। नारी का पति, भर्ता अथवा जीवन सर्वस्व यावज्जीवन एक ही होता है।

१—महाभारत आदिपर्व, ७४, ४०-४४. द्रष्टव्य-वही, अध्याय, १५६, ११.
२—वही-७४, ४६.
३—वही—वनपर्व—६८, १६.

"भार्याया भरणाद्भर्ता पालनाच्च पति स्मृत: ।
एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम् ।"[1]

पुरुष का भी पत्नी के प्रति एकपत्नी-व्रत पालन पत्नी मे विश्वास एवं सन्तोष की सृष्टि करता है—

"न राम. परदाराश्च चक्षुर्भ्यामपि पश्यति ।"[2]

पुरुष के वियोग मे नारी भूमि शय्या, मलिन वसन, एक वेणी तथा व्रत उपवास आदि के द्वारा अपने कष्टमय जीवन को व्यतीत करती है—

"एक वेणी धरा शय्या ध्यान मलिनमम्बरम् ।
अस्थानेप्युपवासश्च नेतान्योपयिकानि ते ।"[3]

पत्नी के वियोग मे पति की भी ऐसी ही दशा रहती है । सीता के वियोग मे राम न मास का भोजन करते हैं और न मधु का सेवन करते हैं—

"न मास राघवो भुङ्क्ते न चापि मधु सेवते ।
वन्य सुविहित नित्य भक्तमश्नाति पञ्चमम् ।"[4]

सन्तति

पति पत्नी के दाम्पत्य जीवन की चरम परिणति श्रेष्ठ सन्तति को जन्म देकर वश वृद्धि मे योगदान से होती है । विवाह की सफलता एव सार्थकता सन्तान प्राप्ति मे निहित रहती है । यही कारण है कि सन्तति के अभाव मे माता पिता का उद्विग्न होना नितान्त स्वाभाविक है । सन्तान के न होने पर मोक्ष प्राप्ति भी सहज नही । इसीलिए यज्ञ, पूजा, व्रत, नियम आदि का विधान बनाया गया है । "अपुत्रस्य कुतः स्वर्गम्" यथार्थ रूपेण मानव के लिए चरितार्थ होता है ।

१—महाभारत—आदिपर्व, १०४, ३०, ३४.

२—रामायण—अयोध्याकाण्ड, ७२, ४६

३—वही—सुन्दर काण्ड, २०, ८.

४—वही—३६, ४१.

महाकवि कालिदास ने सन्तति को इहलोक मे लोकोत्तर आनन्द देने वाली एव परलोक मे भी निवापोदक देकर मुक्ति प्रदायिनी माना है—

"लोकान्तर सुख पुण्य तपोदान समुद्भवम् ।
सन्ततिः शुद्धवश्या हि परत्रेह च शर्मणे ।"[1]

पुत्र को पूर्वजो के ऋण मे मुक्त होने के साधन भूत एव शोक रूपी अन्धकार के नाश करने वाले सुन्दर प्रकाश के समान माना जाता है—

"न चोपलेभे पूर्वेषामृण निर्मोक्ष साधनम् ।
सुताभिधान सज्ज्योति सद्यः शोक तमो पहम् ।"[2]

श्रेष्ठ सन्तति कुल की अभिवृद्धि करती हैं, वह उत्कृष्ट पुष्टि स्वरूप है । तथा उससे लक्ष्मी, प्रेम एव प्रतिष्ठा सभी प्राप्त हो जाते है—

"साध्वी कुल वर्धयति साध्वी पुष्टिगृहे परा ।
साध्वी लक्ष्मी रतिः साक्षात् प्रतिष्ठा सन्ततिस्तथा ।"[3]

सन्तान के जीवन सर्वस्व, जीवन उद्धारक, मोक्ष प्रदायक होते हुए भी दुराचारी पुत्र का त्याग ही समुचित उपाय कहा गया है—

"कुभार्यां च कुपुत्र च कुराजान कुसौहृदम् ।
कुसम्बन्ध कुद्रेशं च दूरत परिवर्तयेत् ।"[4]

मानव समाज के अरुणोदय से ही परिवार को स्थायित्व प्रदान करने मे पैतृक स्नेह का अपूर्व योगदान रहा है । यह स्नेह ही पिता को सन्तति के लिए त्याग और श्रम करने की अक्षुण्ण प्रेरणा प्रदान करता है । वृद्धावस्था मे पुत्र को सर्वस्व देकर उप राम वृत्ति ग्रहण करने की आज्ञा देकर भारतीय प्राचीन मनीषियो ने परिवार की भावी सुख

१—रघुवश—१, ६९.
२—वही—१०, २.
३—महाभारत—अनुशासन पर्व, २२ अध्याय
४—वही—शान्ति पर्व, १३९, ९३.

समृद्धि एव सुचारु व्यवस्था हेतु पिता के सम्पत्ति प्रेम अथवा स्वार्थभाव को नियन्त्रित रखने का सफल प्रयास किया है। परिवार के सदस्यो का सौहार्दपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध ही आर्य सस्कृति का प्रधान सम्बल एव उसकी उत्कृष्टता का प्रमुख रहस्य रहा है।

मनुष्य के चरित्र निर्माण मे परिवार के महान् योग को नीतिकारो के मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। इस पारिवारिक शिक्षणालय मे व्यक्ति स्नेह और सौहार्द का गुरुजनो के प्रति आदर एव भक्ति भाव का तथा परिवार के सभी सदस्यो के कल्याण के लिए वैयक्तिक प्रवृत्तियो एव महत्त्वाकाक्षाओ को दबाने की शिक्षा ग्रहण करता है। इस सस्था का नष्ट भ्रष्ट अथवा विशृखलित हो जाना एक महान् विपत्ति का सूचक है। वाल्मीकि की धारणा है कि राजा रहित प्रदेश मे पारिवारिक जीवन एव नैतिक जीवन का चरम पतन हो जाता है तथा पिता और पुत्र मे परस्पर सघर्ष होने की अवस्था मे परिवार मे अशान्ति का उदय होता है एव स्त्रिया भी स्वेच्छाचारिणी बन जाती है।[1]

प्राचीन भारतियो ने पारिवारिक एव सामाजिक विकास के अन्तर्भूत नैसर्गिक तत्त्वो का सम्यक् विवेचन कर तथा मानव जीवन के सच्चे उद्देश्य को यथावत् समझकर ही जीवन को व्यवस्थित किया था। यही कारण है कि भूमण्डल के समस्त देशो मे भारत देश सर्वोपरि रहा एव उन्नति के चरम शिखर पर पहुचने मे पूर्णतया सफल हो सका।

चातुर्वर्ण्य

पारिवारिक जीवन के साथ ही साथ वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ एव विकास भी चिरपोषित वैदिक वाङ्मय-परम्परा की ही देन है। अपने अपने स्वार्थ, आजीविका तथा पेशे की रक्षा की प्रवृत्ति से ही वर्ण विभाग की प्रवृत्ति का आरम्भ हुआ और शनै. शनै. इस प्रवृत्ति मे घोर रूढि मूलकता का समावेश भी होता गया।

वैदिक वाङ्मय के अमूल्य रत्न-पुरुष सूक्त' मे विश्व व्यापी विराट् पुरुष के वर्णन के द्वारा आलकारिक प्रक्रिया के माध्यम से चारो वर्णों के परस्पर अङ्गाङ्गीभाव सम्बन्ध को स्पष्टत प्रतिपादित किया गया है। इससे यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि मानव शरीर के समान ही समाज रूपी शरीर मे चारो वर्णों का घनिष्ठ अङ्गाङ्गीभाव है। सभी अङ्ग अपने लिए नही प्रत्युत दूसरे अङ्गो के हित को लक्ष्य मे रखकर ही काम करते हैं।

१—"नाराजके पितु पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे। रामायण अयोध्याकाण्ड ६७, १०

'पुरुष सूक्त' मे रूपक शैली मे श्रम विभाजन की दृष्टि से समाज का चार भागो मे वर्गीकरण किया गया है। वाणी के स्थान-'मुख' से प्रगट होने वाले ब्राह्मण मनुष्य जाति के शिक्षक एव ज्ञान के प्रतीक माने गये। बल-वीर्य-सूचक भुजाओ से सम्वद्ध होने के कारण क्षत्रियो का कर्म शस्त्र धारण करना एव प्रजा की रक्षा करना बन गया। शरीर के अधोभाग से उत्पन्न होने वाले वैश्यो का काम श्रम पूर्वक अन्न धन का उत्पादन करके समाज का भरण पोषण करना निर्धारित किया गया। इसी प्रकार पैरो से उत्पत्ति बताकर अन्य वर्णों की सेवा का कार्य शूद्रो को सोप दिया गया—

"ब्राह्मणो मुखत सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम।
बाहुभ्या क्षत्रिय. सृष्ट ऊरुभ्या वैश्य एव च।
वर्णाना परिचर्यार्थ त्रयाणा भरतर्षभ।
वर्ण श्चतुथ पश्चात्त् पद्भ्या शूद्रो विनिर्मित:।[1]

काल क्रम के अनुसार राजनीतिक स्थिति के सुव्यवस्थित एव स्थिर होने के साथ साथ रूढिमूलक वर्ण विभाग की प्रवृत्ति को अधिकाधिक प्रोत्साहन एव अनुकूल वातावरण प्राप्त हुआ।

वेदो का अध्ययन, व्रत, नियमो का पालन, यज्ञो का अनुष्ठान तथा दान—ये ब्राह्मणो, क्षत्रियो एव वैश्यो के अनिवार्य सामान्य धर्म माने गये है।

वाल्मीकि ने चातुर्वर्ण्य के नानाविध कर्तव्यो का उल्लेख करते हुए कहा है कि अयोध्या के निवासी चारो वर्ण ब्राह्मणो के अनुयायी, देवताओ एव अतिथियो के पूजक, कृतज्ञ, उदार, शूर, पराक्रमी तथा सत्य और धर्म का पालन करने वाले थे—

"वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजका:।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसयुता.।[2]

१—महाभारत-शान्तिपर्व, ७२, ४-५.

२—रामायण वालकाण्ड, ६, १७.

ब्राह्मण

'मुख' मे मस्तिष्क का समावेश किया जाता है। मनुष्य का मस्तिष्क जिस प्रकार उसकी सब क्रियाओ का सञ्चालन करता है तथा उसमे उदात्त भावनाओ एव विचारो को उत्पन्न करके उसे सन्मार्ग की ओर अग्रसर करता है। उसी प्रकार समाज का मस्तिष्क भी उसे स्वस्थ एव अच्छी स्थिति ा रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक ए र वाञ्छनीय है। समाज का मस्तिष्क वे व्यक्ति कहे जाते है, जो निसर्ग सिद्ध शक्तियो का विकास करके अपने मस्तिष्क से उदात्त एव सुन्दर विचार उत्पन्न करते है तथा अपने अनुभव एव ज्ञान के द्वारा हित-सम्पादन करने वाली योजनाओ एव जीवन चर्याओ को उपस्थित करते हैं, जिन्हे अपनाने से समाज सन्मार्ग पर प्रवृत्त होकर अपने उद्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इसी कारण से ब्रह्म प्राप्ति एव सत्य के अन्वेषण मे निरन्तर रत रहने के कारण ब्राह्मणो को समाज का मस्तिष्क अथवा 'मुख' की सज्ञा दी गयी है। ये ब्राह्मण सासारिक वैभव की अपेक्षा न करते हुए आजीवन ज्ञानोपार्जन, ज्ञान वितरण एव समाज के उत्थान के कार्यों मे व्यापृत रहकर मानव कल्याण एव हित के चिन्तन मे लीन रहना अपने जीवन का प्रमुख कर्तव्य मानते रहे है।

वर्ण व्यवस्था के अरुणोदय से ही वेदो का अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ यागादि काअनुष्ठान तपश्चर्या, यमनियम की साधना आदिके द्वारा आत्म विकास के मार्ग मे अग्रसर होना, मानव रिपुओ का दमन कर समाज के समक्ष अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करना आदि ब्राह्मण के प्रमुख कर्तव्य माने जाते हैं। स्पष्टतः ब्रह्मचर्य का नियम पूर्वक पालन करते हुए वेदाध्यनाध्यापन मे निरन्तर तत्पर रहना ब्राह्मण का सर्वोपरि कार्य है। तदनन्तर विधि पूर्वक अग्नियो का आधान करके यज्ञ आदि धार्मिक कृत्यो को सम्पन्न करते हुए पितरो को सद्गति प्रदान करने के लिए गृहस्थाश्रम मे उसे प्रवेश करना चाहिये। वृद्धावस्था मे सासारिक विषय वासनाओ से उपराम लेकर एव गृहस्थ का भार पुत्र को सोप कर आत्म-तत्व का अन्वेषण करते हुए उसे तपोवन का आश्रय लेना चाहिये—

> "वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र-
> पौत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितृणाम्।
> अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
> वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत्।"[1]

१—महाभारत शान्तिपर्व, १७५, ६.

व्यास के अनुसार परमात्मा के साथ एकता एव समता, सत्यभाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, अहिंसा, सरलता तथा सब प्रकार के कर्मों से उपराग-इनके समान ब्राह्मण के लिए कोई अन्य धर्म नही है—

"नैतादृश ब्राह्मणस्यास्ति वित्त
यथैकता समता सत्यता च ।
शील स्थितिर्दण्ड निधानमार्जव
ततस्ततश्चोपरम क्रियाभ्य. ।"[1]

क्रुद्ध होने पर ब्राह्मण अग्नि, सूर्य, विष, शस्त्र आदि के समान तीक्ष्ण हो जाता है । उसे सब प्राणियो का गुरु माना जाता है—

"अग्निरर्को विष शस्त्र विप्रो भवति कोपित: ।
गुर्हि सर्वभूताना ब्राह्मण परिकीर्तित ।"[2]

ब्राह्मण के स्वभाव का निरूपण करते हुए महर्षि व्यास ने अपने विचारो को इस प्रकार व्यक्त किया है कि ब्राह्मण का हृदय नवनीत के समान कोमल होता है परन्तु वाणी तीक्ष्ण धार वाले क्षुरके समान होती हैं—

"नवनीत हृदय ब्राह्मणस्य वाचि क्षुरो निहितस्तीक्ष्णधार:।
तदुभयमेतद्विपरीत क्षत्रियस्य वाङ् नवनीत हृदय तीक्ष्णधारम् ।"[3]

अपना कल्याण चाहने वाले पुरुषो को ब्राह्मण मे कदापि अभिद्रोह नही करना चाहिये । अभिक्रुद्ध ब्राह्मण से सूर्य अथवा अग्नि की अपेक्षा अधिक तीव्र दाहकत्व शक्ति का उद्गमन होता

"ब्राह्मणानामभिद्रोहो न कर्तव्य. कदाचन ।
नह्येवमग्नि नदित्यो भस्म कुर्यात्तथानघ ।
यथा कुर्यादभिक्रुद्धो ब्राह्मण· सशितव्रत. ।"[4]

१—महाभारत शान्तिपर्व, १७५, ३७.
२—वही—आदिपर्व, २८, ४.
३—वही—वही ३, २३.
४—वही—वही २८, ६, ७

व्यास के अनुसार ब्राह्मण उत्कृष्ट तेज है, तप है, उनके नमस्कार से ही सूर्य आकाश पर विराजमान रहता है–

"ब्राह्मणो हि पर तेजो ब्राह्मणो हि परन्तपः।
ब्राह्मणाना नमस्कारेः सूर्यो दिवि विराजते ।"[1]

क्रोध युक्त सर्प एव सर्वत प्रसरण शील अग्नि से भी ब्राह्मण का क्रोध अधिक प्रचण्ड एव भस्म करने वाला होता है—

"कुद्धादाशीविषात्सर्पाज्ज्वलनात्सर्वतोमुखात् ।
दुराधर्षतरो विप्रो ज्ञेय पुंसा विजानता ।"[2]

उत्तम एव अधम ब्राह्मणो का निरूपण करते हुए भीष्म ने प्रतिपादित किया है कि वे ही ब्राह्मण ब्रह्म के समान कहे जाते हैं, जो विद्या, विनय आदि से युक्त हो एव सर्वत्र सम भावना से परिप्लुत है।

"विद्याविनयसम्पन्ना: सर्वत्र समदर्शिन. ।
एते ब्रह्मसमा राजन् ब्राह्मणा परिकीर्तिता. ।"[3]

विदुर के अनुसार नित्य स्नान करने वाला, यज्ञोपवीत धारण करने वाला वेदाध्ययन निरत, सत्यवक्ता, पतित मनुष्य के अन्न को न खाने वाला ब्राह्मण अक्षय ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

"नित्योदकी नित्य यज्ञोपवीती
नित्य स्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्य ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन् ।
न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ।[4]

१—महाभारत-वन पर्व, १०३, १६.
२—वही आदिपर्व, ८१, २३.
३—वही-शान्ति पर्व, ७६, २.
४—वही-उद्योग पर्व, ४०, २५.

इसके अतिरिक्त जो वेदत्रयी मे निष्णात हैं एव अपने अपने कर्मों मे निरत रहते है उन्हे देव-सम कहा गया है।

व्यास जी की धारणा है कि जहा ब्राह्मणवर्ग सुव्यवस्थित होकर अपने कार्य मे सलग्न रहता है वहा यक्ष, राक्षस, पिशाच एव असुर आदि का भय कदापि नही होता—

"यक्ष रक्ष पिशाचेभ्यो नासुरेभ्य. कदाचन।
भय मुत्पद्यते तत्र यत्र विप्रा सुसयता।"[1]

अध्ययन अध्यापन के अतिरिक्त यज्ञो मे पौरोहित्य कर्म करने का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण को है। जिस यज्ञ का सचालन परम्परागत ब्राह्मण पुरोहित नही करता हो वह यज्ञ समाज की दृष्टि मे अमान्य एव बहिष्कार करने योग्य समझा जाता है।

विश्वामित्र के त्रिशङ्कु का पौरोहित्य स्वीकार करने पर देवताओ ने उस यज्ञ की बलि के ग्रहण करने का निषेध कर दिया था। जिस यज्ञ मे याजक क्षत्रिय हो और यजमान चाण्डाल हो, उस यज्ञ की बलि ग्रहण करना कैसे सम्भव हो सकता है—

"क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषत।
कथ मदसि भोक्तारो हविस्तस्य विशेषत।"[2]

व्यवहार की व्याख्या करने एव उसे कार्यान्वित करने का ब्राह्मण वर्ग को अधिकार माना गया है। वे राज पुरोहित अथवा मन्त्रि पद के लिए उपयुक्त माने गये हैं। स्वाध्याय मे निरन्तर सलग्न रहने के कारण कुटुम्ब के भरण पोषण मे असमर्थ ब्राह्मण को जीविकोपार्जन के लिए राजा से सहायता पाने का अधिकार है।[3]

जीविकोपार्जन के अभाव मे यदि कोई ब्राह्मण चौर्य कर्म मे प्रवृत्त होता है तो राजा का ही अपराध माना जाता है। ऐसे ब्राह्मण को वृत्ति प्रदान करना राजा का सर्वोपरि कर्तव्य है।

१—महाभारत (गोरखपुर सस्करण)—शान्तिपर्व, अध्याय ७७ (पृष्ठ ४०४)

२—रामायण—बालकाण्ड, ६, १३—१४.

३—वही—अयोध्या काण्ड, ३२, २६—४०.

"अवृत्या यो भवेत् स्तेनो वेदवित् स्नातकस्तथा ।
राजन् स राज्ञा भतव्य इति वेदविदो विदु ।"[1]

ब्राह्मण के लिए सुरापान अत्यन्त गर्हणीय माना जाता है। ब्राह्मण यदि कोई मोह के कारण सुरापान करता है, तो उसका धर्म नष्ट हो जाता है एव ब्रतघाती के समान इहलोक एव परलोक मे गर्हणीय कहा जाता है—

"यो ब्राह्मणो ऽद्य प्रभृतीह कश्चित्,
मोहात्सुरा पास्यति मन्दबुद्धि. ।
अपेतधर्मा ब्राह्महा चैव सस्या-
दस्मिॅल्लोके गर्हितः स्यात्परैश्च ।"[2]

महर्षि वाल्मीकि ने ब्राह्मणो को उनके कर्मानुसार कई वर्गो मे विभक्त किया है—

१—नगरवासी ब्राह्मण जो वेदो एव उनके छहो अङ्गो मे निष्णात थे एव यज्ञ यागादि आन्हिक कर्म, सध्या, जप, हवन, अतिथि देव पूजा और वलिवैश्वदेव करते हुए सत्यरत, सद्गुणो से युक्त, महात्मा एव सदाचारी थे, तथा जो प्राचीन महर्षियो की प्रतीमूर्ती होते थे—

"तामग्निमद्‌भिर्गुणवद्‌भिरावृता ।
द्विजोत्तमैर्वेदषडङ्गपारगे ।
सहस्रदै सत्यरतैर्महात्मभि:
महर्षिकल्पै ऋषिभिश्च केवलै ।"[3]

२—वन वासी ब्राह्मण जो कन्द, मूल, फल आदि के द्वारा निर्वाह करते हुए नदी के किनारे आश्रमो मे रहकर तपश्चर्या मे निरत रहते थे। वनवास के काल मे राम इन वैखानस मार्ग का अनुसरण करने वाले ऋषियो के सम्पर्क मे आये थे।

१—महाभारत—शातिपर्व, ७६,१३
२—महाभारत—आदिपर्व, ७६, ६७.
३—रामायण—बालकाण्ड, ५, २३.

३-अनासक्त रहकर वेदान्त का अध्ययन करने वाले सांख्य और योग के चिन्तन में लीन तथा ब्रह्मतेज से ओत प्रोत थे ब्रह्मवादी ब्राह्मण हठयोग की विविध प्रक्रियाओं में दत्त चित्त रहते थे —

"सर्वे ब्राह्म्या श्रिया जुष्टा दृढयोगा समाहिता.।
शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ।"[1]

४—शस्त्रोपजीवी ब्राह्मण, जो क्षत्रियों की भांति युद्ध विद्या में निपुण थे तथा युद्ध विद्या की दीक्षा देना उनकी आजीविका थी। धनुर्वेद के आचार्य सुधन्वा एवं द्रोणाचार्य इस कोटि के ब्राह्मण माने जा सकते हैं—

"इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम्।
सुधन्वानमुपाध्याय कच्चित्त्वं तात मन्यसे।"[2]

५—श्रम जीवी ब्राह्मण, जो वैश्यों की तरह हल और कुदाली चलाकर कृषि एवं गोपालन के द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। किन्तु ब्राह्मणों के लिए यह कार्य हेय समझा गया है —

"तत्रासीत् पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विज ।
उञ्छ वृत्तिर्वने नित्य फाल कुद्दाल लाङ्गली।"[3]

ब्राह्मणों की सम्पत्ति का अपहरण करने वाले व्यक्ति को दण्डनीय समझा जाता है। मातृ गृह से लौटने पर भरत ने राम के विषय में यह शङ्का की थी कि कहीं राम ने किसी ब्राह्मण का धन तो नहीं हर लिया था—

"कच्चिन्न ब्राह्मण धन हृत रामेण कस्यचित्।
कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासित ।"[4]

राजाओं ने वयोवृद्ध विद्वान् ब्राह्मणों के प्रति अपनी प्रगाढ भक्ति एवं श्रद्धा प्रगट करके उनके गौरव को प्रगट किया है। ब्राह्मणों को वेदों की प्रतिमूर्ती के रूप में स्वीकार किया गया है।

---

१. रामायण—अरण्यकाण्ड, ६, ६। द्रष्टव्य—वही-बालकाण्ड, १२,४-५.
२ वही—अयोध्याकाण्ड, १००, १४.
३. वही—अयोध्याकाण्ड, ३२, ३०.
४. वही-अयोध्याकाण्ड७२,४४-५ द्रष्टव्य-मनसापि हि देवस्व ब्रह्मस्वच हरे तु यः।
निरयान्निरयं चैव पतत्येव नराधमः।"
रामायण—उत्तरकाण्ड (प्रक्षिप्त ११ सर्ग) ४८-४९

"वेदा ब्राह्मणरूपेण गायत्री सर्वरक्षिणी ।
ओंकारो ऽथ वषट्कारः सर्वे राममनुव्रता ।"[1]

वसिष्ठ के वचनो के अनुसार ब्राह्मणो का क्षमा ही बल है—

"क्षत्रियाणा बल तेजो ब्राह्मणाना क्षमा बलम् ।"[2]

ब्राह्मण बल हीन होते हुए भी अपने तेज से अत्यन्त बलिष्ठ होता है। सत् अथवा असत् आचरण करते हुए ब्राह्मण का कदापि तिरस्कार नही करना चाहिये—

"दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयास स्वतेजसा ।
ब्राह्मणो नावमन्तव्य सदसद् वा समाचरन् ।"[3]

क्षत्रिय

ब्राह्मणो का कर्तव्य जहा प्रजा के नैतिक एव आध्यात्मिक उत्थान मे योग देना है, वहा देश को बाह्य और आन्तरिक सघर्षों से बचाना क्षत्रियो का सर्वोपरि कर्तव्य है। राम के अनुसार क्षत्रियो के धनुष धारण करने का यही एकमात्र प्रयोजन है कि पृथ्वी पर दु.खी प्राणियो का हाहाकार न हो—

"क्षत्रियेर्धार्यते चापो नार्त. शब्दो भवेदिति ।"[4]

धर्म के अनुसार प्रजा की रक्षा करने मे तत्पर क्षत्रिय को अपनी प्रजा से कर के रूप मे 'बलिषड्भाग ग्रहण करने का अधिकार माना गया है।

ब्राह्मणो की पूजा करना क्षत्रिय का धर्म है। उन्हे देवताओ के भी देवता कहा गया है—

१—रामायण—उत्तरकाण्ड, १०६, ८.
२—महाभारत—आदिपर्व, १७५, २६.
३—महाभारत—आदिपर्व, १८८, १३.
४—रामायण—अरण्य काण्ड, १०, ३.

"ब्राह्मणा हि महात्मानो देवानामपि देवता ।
तान् पूजयस्व सतत दानेन परिचर्यया ।"[1]

ब्राह्मणों के प्रसन्न रहने से व्यक्ति की सुख एवं समृद्धि में अभिवृद्धि होती है इसके विपरीत आचरण करने पर वह क्षण में ही पराभव को प्राप्त हो जाता है—

ब्राह्मणा य प्रशमन्ति पुरुष: स प्रवर्धते ।
ब्राह्मणैर्य पराकृष्ट. पराभूयात् क्षणाद्धि स. ।[2]

क्षत्रिय और ब्राह्मण के पारस्परिक सघर्ष में ब्रह्म तेज की ही विजय की ओर सकेत किया गया है ।

विश्वामित्र का क्षत्रियोचित शौर्य वसिष्ठ को आतङ्कित करने में असफल रहा तो अन्त में उन्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पडा कि क्षत्रिय का पाशविक बल ब्राह्मण के आध्यात्मिक तेज के समक्ष तुच्छ होता है—

"धिग्बल क्षत्रियबल ब्रह्म तेजो बल बलम् ।"[3]

ब्राह्मण का कर्म भिक्षार्जन है, क्षत्रिय का प्रजा परिपालन, वैश्य का धनार्जन तथा शूद्र का कर्म सब वर्णों की परिचर्या करना है ।[4] स्पष्टत क्षत्रिय का प्रमुख कर्म तो नाश से प्रजा की रक्षा करना तथा भुज बल से जीवित रहना है । कृषि कर्म अथवा भिक्षा के द्वारा जीवन निर्वाह करना क्षत्रिय के लिए गर्हणीय एवं हेय है ।

१—महाभारत—अनुशासन पर्व, ३५, २१–२२.

२—वही—३३, २०.

३—रामायण–बालकाण्ड, ५६. २३.
तुलनीय धिग्बल क्षत्रिय बल ब्रह्मतेजो बल बलम् ।
बलाबल विनिश्चित्य तप एव पर बलम् ।"
महाभारतआदिपर्व, १७५,४५–४६.

४—"ब्राह्मणः प्रचरेद्भैक्ष क्षत्रिय परिपालयेत् ।
वैश्यो धनार्जन कुर्याच्छूद्रः परिचरेच्च तान् ।"
महाभारत—उद्योग पर्व, १३२, ३०.

"भैक्ष विप्रतिषिद्ध ते कृपि नैवोपपद्यते ।

क्षत्रियो ऽसि क्षतात् त्राता बाहुवीर्योपजीविता ।"[1]

व्यास के अनुसार ब्राह्मणो को मन्त्र बल से, एव क्षत्रियो को शस्त्र-अस्त्र एव बाहु बल से प्रजा की रक्षा करनी चाहिये । इन दोनो की पारस्परिक मैत्री से सुख और समृद्धि की निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है —

"तपो मन्त्र बल नित्य ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम् ।

अस्त्रबाहुबल नित्य क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ।

ताभ्या सम्भूय कर्तव्यं प्रजाना परिपालनम् ।"[2]

ब्राह्मण एवं क्षत्रिय परस्पर पोषण करते हुए एक दूसरे के पूरक माने जाते है। ब्राह्मण धर्म की वृद्धि के द्वारा तथा क्षत्रिय भय से आक्रान्त लोगो की रक्षा के द्वारा एक दूसरे की सहायता करते हुए समाज का हित सम्पन्न करते हैं—

"मया त्वमाप्या· शरण भयेषु, वय त्वमाप्यास्महि धर्म वृद्धयै ।

क्षात्र द्विजत्व च परस्परार्थं, शङ्का कृथा मा प्रहिणु स्व सूनुम् ।"[3]

क्षत्रिय धर्म का प्रतिपादन करते हुए व्यास ने कहा है कि क्षत्रिय दान दे, पर दान ग्रहण न करे, यज्ञ का अनुष्ठान करे, पर यज्ञ नही करावे, वेदो का अध्ययन करे पर अध्यापन कार्य से विरत रहे एव सर्वभाव से प्रजा का परित्राण करता रहे —

"दद्यात् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ।

नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।"[4]

युद्ध भूमि से विमुख होकर भागने वाले क्षत्रिय को निन्दित माना गया है।

१—महाभारत-उद्योगपर्व, १३२, ३१.

२—वही—शान्ति पर्व, ७४, १४-१५.

३—भट्टी काव्य-१, २१.

४—महाभारत—शान्ति पर्व, ६०, १३-१४,

"अविक्षतेन देहेन समरात् यो निवर्तते ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशसन्ति पुराविदः ।"[1]

उत्तम क्षत्रिय के गुणों का प्रतिपादन करते हुए विदुर ने कहा है कि जो क्षत्रिय वेदो का अध्ययन, अग्नि होत्र, यज्ञो का विधिपूर्वक अनुष्ठान प्रजापालन आदि करता हुआ गाय एव ब्राह्मणो की रक्षा के लिए युद्ध मे शस्त्राघात द्वारा पवित्र अन्तरात्मा को धारण करता हुआ प्राणो का परित्याग करता है वह स्वर्ग का अधिकारी होता है—

"अधीत्य वेदान्परिसस्तीर्य चाग्नी
निष्ट्वा यज्ञै. पालयित्वा प्रजाश्च ।
गो ब्राह्मणार्थे शस्त्रपूतान्तरात्मा
हत: सग्रामे क्षत्रिय. स्वर्गमेति ।"[2]

वैश्य

ब्राह्मण एव क्षत्रिय के समान ही वैश्य का भी समाज मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । जिस प्रकार शरीर का भाग जंघाओ पर आश्रित रहता है उसी प्रकार समाज के भरण पोषण का भार वैश्यो का वहन करना पडता है । समाज के आर्थिक विकास का उत्तरदायित्व इसी वर्ग पर रहता है । कृषि प्रधान भारत के कृषि एवं पशु पालन के महत्त्व पूर्ण साधन होने के कारण उनको वैश्यो के प्रमुख कर्तव्यो मे स्थान दिया गया है । इस प्रकार उनमे त्याग वृत्ति एव निस्स्वार्थ भावना का होना परमावश्यक है ।

वैश्य मे दक्षता सर्वोत्कृष्ट गुण माना गया है । दाक्ष्य के आधार पर ही वह समस्त समाज का भरण पोषण करने मे समर्थ हो सकता है—

ब्राह्मणे वेद मग्र्यं तु क्षत्रिये तेजमुत्तमम् ।
दाक्ष्य वैश्ये च शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम् ।"[4]

१—महाभारत—शान्तिपर्व, ६०, १६.
२—वही-उद्योग पर्व, ४०, २६.
३—वही—सौप्तिक पर्व, ३, १९.

वैश्यो के कर्तव्य, साराश मे, इस प्रकार माने गये हैं—वेद आदि का अध्ययन करना, यज्ञ करना, व्यापार करना, कृषि करना, पशुरक्षा करना, दान देना, ब्राह्मणो, क्षत्रियो तथा आश्रितो को यथावसर यथोचित धन देकर त्रेताग्नि द्वारा पवित्र धूम की गन्ध से जीवन यापन करना आदि—

"वैश्योधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनै काले सविभज्याश्रितांश्च ।[1]
त्रेतापूत धूम्रमाघ्राय पुण्य
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ।"[2]

दान देना, अध्ययन करना, यज्ञ का अनुष्ठान एव परम शुचिता से धन का अर्जन करना वैश्य का कर्म माना जाता है। इसके अतिरिक्त उसे पिता के समान समस्त आश्रित पशुओ का पालन करना चाहिये।

"दानमध्ययन यज्ञ. शोचेन धनसञ्चय ।
पितृवत् पालयेत् वैश्यो युक्त. सर्वान् पशूनिह।[3]"

शूद्र

शूद्रो को समाज-पुरुष के पैरो से उत्पन्न हुआ बताया गया है। शरीर मे पैरो का जो स्थान है वही समाज मे शूद्रो का स्थान है। समाज की सेवा का समस्त भार इन्ही पर आश्रित रहता है। शूद्र के भरण पोषण का भार उसके स्वामी पर रहता है। छत्र, वेष्टन, पादुका, धारण न करने योग्य पुराने वस्त्र आदि शूद्र को देने का विधान है—

"अवश्य भरणीयो हि वर्णाना शूद्र उच्यते
छत्र वेष्टनमौशीरमुपानद् व्यजनानि च ।
यात यामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे ।
अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभि ।"[4]

१—महाभारत—उद्योग पर्व, ४०, २७
२—वही—शान्ति पर्व, ६०, २१–२२.
३—वही—६०, ३२–३३.

ब्रह्मा जी ने दास कर्म करने के निमित्त ही शूद्र को उत्पन्न किया इसीलिए तीनो वर्णो की क्रमशः सेवा करना ही उसका सर्वोपरि कर्तव्य है।

प्रजापतिर्हि वर्णाना दासं शूद्रमकल्पयत्।
तस्माच्छूद्रस्य वर्णाना परिचर्या विधीयते।"[1]

विदुर के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य को क्रमश· न्याय पूर्वक आदर देता हुआ शूद्र उनके प्रसन्न होने पर व्यथा रहित तथा पाप से मुक्त होकर मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग के सुखो का उपभोग करता है।

"ब्रह्मक्षत्र वैश्य वर्ण च शूद्र
क्रमेणैतान्नयायत पूजयान·।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप
स्त्यक्त्वा देह स्वर्गसुखानि भुक्ते।"[2]

शूद्रो को यज्ञ यागादि के अनुष्ठान, वेदाध्ययन एव तपश्चर्या आदि करने का अधिकार नही है। इसका सकेत लङ्का मे विलाप करती हुई सीता के कथन से प्राप्त होता है कि वह अनार्य रावण को अपना अनुराग वैसे ही अर्पित नही कर सकती, जैसे ब्राह्मण शूद्र को मन्त्र ज्ञान नही दे सकता।

"भाव न चास्याहमनुप्रदातु-
मल द्विजो मन्त्रमिवाद्विजाय।"[3]

रामायण के उत्तरकाण्ड मे सशरीर स्वर्ग प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाले शूद्र मुनि शम्बूक को राम ने वध के योग्य समझा।[4] दूसरे स्थान पर रामायण मे ही वर्ण यवस्था से वहिष्कृत शवरी के आश्रम मे जाकर राम ने उसे 'तपोधना' कहकर उसका सम्मान किया। इससे स्पष्ट है कि धीरे धीरे शूद्रो की सामाजिक स्थिति उत्तरोत्तर पतनोन्मुख होती गयी।

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व, ६०, २८.

२. वही—उद्योगपर्व, ४०, २८.

३. रामायण—सुन्दरकाण्ड. २८,५.

४. वही—उत्तर काण्ड,७६,१

राजनीतिक स्थिति के सुव्यवस्थित हो जाने से वर्ण विभाग की प्रवृत्ति मे क्रमश अधिकाधिक रूढि मूलकता का समावेश न केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थों की रक्षा की सहज प्रवृत्ति के कारण प्रत्युत, समाज के लिए अनेक प्रकार की सुविधा के कारण भी नितान्त स्वाभाविक है।

वर्ण व्यवस्था के अनेक लाभ भी दृष्टिगोचर होते हैं।

१ अनेक वर्गों एव सकुचित अर्थ मे जाति मे बँटी हुई जनता को अङ्गाङ्गीभाव मे आबद्ध कर केवल चार वर्णों मे ही वर्गीकृत करना।

२. इस वर्ण व्यवस्था के प्रमुखतः आजीविका मूलक होने के कारण, जनता मे आर्थिक सघर्ष एव प्रतिस्पर्धा को अवसर न देना।

३. राष्ट्र की रक्षा एव उन्नति के लिए आवश्यक वर्गों मे विशेषज्ञता की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना।

इस प्रकार एक सुखी चातुर्वर्ण्य समाज की स्थापना कर एक दूसरे को परस्पर अङ्ग ङ्गी के रूप मे राष्ट्रीयता के एक सूत्र मे आबद्ध करना भारतीय प्राचीन मनीषियो एव सस्कृत काव्य का प्रमुख लक्ष्य रहा है। मूलत कर्म के आधार पर प्रतिष्ठित होने के कारण वर्ण व्यवस्था मे कठोरता का लेश मात्र भी नही था। वर्ण परिवर्तन की अनेक घटनाओ से प्राय: सभी परिचित हैं। ब्राह्मण को सात्विक वृत्ति का प्रतिरूप माना जाता है। आत्मानुशासन एव आत्मशुद्धि के दीर्घ एव कठोर प्रयोग के अनन्तर ही ब्राह्मणत्व पाना शक्य है।

एक सुखी चातुर्वर्ण्य समाज की स्थापना कर अपनी अपनी मर्यादा मे रहते हुए पूर्ण विकास को प्राप्त होना ही भारतीय सस्कृति का मूल आधार है।

आश्रम

वर्ण व्यवस्था के समान ही भारत मे आश्रम व्यवस्था का सुख एव समृद्धि मे अपूर्व योगदान रहा है। प्राचीन मनीषियो के अनुसार जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मानव जीवन अनवरत आत्मशिक्षण एव आत्मानुशासन का क्षेत्र है। इस आत्म-शिक्षण-मूलक जीवन यात्रा मे विश्राम स्थल के रूप मे चार आश्रमो का विधान किया है। वर्ण व्यवस्था के समान ही यह व्यवस्था भी मनुष्य को सच्चे अर्थ मे मनुष्य बनाकर समाज को अपने उद्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचाने मे अपूर्व योगदान करती है।

आश्रम जीवन एक विभाग के रूप निर्धारित समय के लिए व्यक्ति को प्रशिक्षित कर उसे अपने आगामी जीवन के लिए प्रस्तुत करता है।

प्रत्येक द्विज से यह अपेक्षा की जाती है कि वह आश्रम व्यवस्था के अनुसार अपना जीवन सञ्चालित करे। आश्रम व्यवस्था के अनुसार न चलने वाले व्यक्ति को गर्हा का विषय माना गया है।

राम के वनवास की आलोचना करते हुए भरत ने कहा कि राम की आयु के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम त्यागकर वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना असामयिक एव अनुपयुक्त है—

"चतुर्णामाश्रमाणा हि गार्हस्थ्य श्रेष्ठमाश्रमम्।
आहुर्धर्मज्ञा[1] धर्मज्ञास्तं कथ त्यक्तु महंसि।"

ब्रह्मचर्याश्रम

यज्ञोपवीत सस्कार के अनन्तर ही बालक गुरुकुल मे जाकर ब्रह्मचर्याश्रम मे प्रवेश करता है। इस समय मे विद्यार्थी ब्रह्मचारी रहकर कठोर एव अनुशासनमय जीवन व्यतीत करता है। ब्रह्मचर्य शब्द ही इस आश्रम के महत्त्व का द्योतक है। इस आश्रम मे रहकर ब्रह्मचारी अपनी विभिन्न शक्तियो के विकास का पाठ पढता है। तपोवन की शुद्ध वायु, फल फूल एव कदमूलका पौष्टिक एव सात्विक भोजन, नैतिक एव नियमित जीवन आदि से गुरुकुल के स्वच्छ वातावरण मे पुष्ट शरीर मे वृद्धि एव आत्मा का पूर्ण विकास किया जाना नितान्त स्वाभाविक है।

ब्रह्मचारी के आदर्श आचार का प्रतिपादन सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र के समक्ष किया है। जिसके अनुसार शिष्य का प्रथम कर्तव्य है कि वह गुरु का श्रद्धापूर्वक अभिवादन करे। पवित्र एव पूर्ण सावधान होकर स्वाध्याय की अभिलाषा करे। न मान करे और न रोप से कभी आविष्ट ही हो।

"गुरु शिष्यो नित्यमभिवादयीत,
स्वाध्यायमिच्छेच्छुचिरप्रमत्त.।

---

१. रामायण–अयोध्या काण्ड १०६, २२-२३.

मान न कुर्यान्नादधीत रोष-
मेष प्रथमो ब्रह्मचर्यस्य पाद.।[1]

प्राण अथवा धन के द्वारा भी मन, वचन, एवं कर्म से गुरु के अनुकूल एव प्रिय आचरण करना शिष्य का कर्तव्य है—

"आचार्यस्य प्रिय कुर्यात् प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा द्वितीयः पाद उच्यते ।[2]

गुरु के समान ही गुरुपत्नी एव गुरुपुत्र का आदर एवं सम्मान करना चाहिये ।

समा गुरौ यथा वृत्ति गुरु पन्न्या तथा चरेत् ।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पादउच्यते ।[3]

शिष्य (ब्रह्मचारो) से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने धर्म मे निरत रहता हुआ अपनो इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करे, सदा सत्य एव धर्म का अनुपालन करता हुआ गुरु के प्रिय एव हित कार्य मे तत्पर रहे तथा गुरु की आज्ञा पाकर अन्न की निन्दा न करता हुआ भिक्षा के द्वारा प्राप्त हविष्यान्न का भोजन करे—

"स्वधर्मनिरतो विद्वान सर्वेन्द्रिय यतोपुनिः ।
गुरोः प्रियहिते युक्तः सत्य धर्मपर शुचिः ।
गुरुणा समनुज्ञातो भुञ्जीतान्नमकुत्सयन् ।
हविष्यभैक्ष्य भुक्चापि स्थानासन विहारवान् ।[4]

---

१. महाभारत-उद्योगपर्व, ४४, १०.

२. वही-४४, १२.

३. वही— ४४, १३.

४. वही—आश्वमेधिक पर्व, ४६, २—३.

सावधान होकर पवित्रता के साथ साय प्रात. अग्नि मे हवन करे तथा बिल्व अथवा पलाश का दण्ड धारण करे। नित्य मूज की मेखला, जटा, एवं यज्ञोपवोत धारण करता हुआ प्रतिदिन स्नान करके अपना स्वाध्याय करता रहे तथा अपने व्रत का पालन करता हुआ लोभ से मुक्त रहे—

"द्विकालमग्नि जुहवानः शुचिर्भूत्वा समाहित: ।
धारयीत सदा दण्ड बैल्व पालाशमेव वा ।
मेखला च भवेन्मौञ्जी जटी नित्योदकस्तथा ।
यज्ञोपवीती स्वाध्यायी अलुब्धो नियतव्रत: ।"[1]

गुरु के भोजन करने से पूर्व भोजन न करे, जलपान करने से पूर्व जल ग्रहण न करे, बैठने से पूर्व न तथा गुरु के शयन से पूर्व कभी भी शयन न करे ।

'नाभूक्तवति चाश्नीयादपीतवति नौ पिवेत् ।
ना तिष्ठति तथासीत नासुप्ते प्रस्वपेत च ।"[2]

इसके अतिरिक्त वह सेवक के समान समस्त कार्य करे तथा सभी कर्मों मे निष्णात हो—

"किंकरः सर्वकारी स्यात् सर्वकर्मसु कोविद· ।"[3]

गुरु के बुलाने पर अध्ययन करने वाला, गुरु के नि.शेष कार्यों को करने वाला, गुरु से पहले उठने तथा गुरु के पश्चात् सोने वाला कोमल, दान्त, धैर्यशील, सावधान होकर काम करने वाला एव स्वाध्याय मे निरत ब्रह्मचारी आदर्श ब्रह्मचारी कहा जाता है—

"आहूताध्यायी गुरुकर्मस्वचोद्यः पूर्वोत्थायी चरम चोपशायी ।
मृदुर्दान्तोधृतिमानप्रमत्तः, स्वाध्याय शील: सिध्यति ब्रह्मचारी ।"[4]

---

१. महाभारत— आश्वमेधिकपर्व ४६, ४—६
२. वही—शान्तिपर्व, २४२, २१.
३. वही—शान्तिपर्व, २४२, १८.
४. वही—आदिपर्व ६१, २.

इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम मे श्रम और तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए एव आचार्य के स्नेह पर आधारित अनुशासन मे रहते हुए दत्तचित्त होकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्योपार्जन करने का उच्च आदर्श भारतीय वाङ्मय की अपूर्व देन है। गुरु शिष्य के सम्बन्ध मे पिता पुत्र के स्नेहमय सम्बन्ध से भी कही अधिक घनिष्ठता एव स्नेह संकुलता का सकेत प्राप्त होता है।

सहस्रो वर्षों तक भारतवर्ष में ब्रह्मचर्य के इस महान् आदेश का निरन्तर अनुसरण किया जाता रहा है एव उसी के परिणाम स्वरूप भारतवर्ष के अद्वितीय एव अमूल्य, प्राचीनतम एव अति विशाल वाङ्मय का सृजन हुआ, इससे सभी विद्वद् वर्ग पूर्णतया परिचित है। समानता एव सौहार्दपूर्ण आश्रम के वातावरण मे धनी एव निर्धन अथवा उच्च एव अधम के भाव का परित्याग कर यहाँ मानव प्रेम की दीक्षा को प्राप्त करता है।

वेदाध्ययन के अनन्तर ब्रह्मचारी गुरु से आज्ञा लेकर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करता है। ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थ जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। गृहस्थ जीवन के त्याग, तपस्या एव श्रम से युक्त कर्तव्यो के निर्वाह करने की शिक्षा दीक्षा उसे ब्रह्मचर्य आश्रम मे ही उपलब्ध हो जाती है।

गृहस्थाश्रम

भारतीय विद्वान् मनीषियो ने गृहस्थाश्रम को ही सर्वोपरि महत्त्व दिया है। समस्त धर्म शास्त्रो मे इसी आश्रम का जो गुण गान किया है उसका मुख्य कारण यह है कि गृहस्थ ही अन्य आश्रमो की आधार शिला है। वैयक्तिक और सामाजिक सर्वविध उत्तरदायित्वो का निर्वाह करने में तथा समाज के कल्याण मे यही सबसे अधिक सहायता करता है। महर्षि वाल्मीकि ने गृहस्थाश्रम की महाप्रशस्ति के रूप मे रामायण की रचन कर गृहस्थ धर्म को गौरवान्वित किया है।

लौकिक दृष्टि से यह आश्रम अधिक महत्व पूर्ण समझा जाता है, क्योकि अन्य तीनो आश्रमो-ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एव सन्यास का अस्तित्व एव उदर पूर्ति एव निर्वाह गृहस्थ पर ही निर्भर रहता है। बाल्य काल मे तीनो प्रकार के ऋणो को चुकाने का जो सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है उसे मूर्त स्वरूप देने का अवसर मानव जीवन के इसी विभाग मे उपस्थित होता है। आदर्श जीवन एव नैतिकता की ओर भारतीयो का सदा से ही अधिक

अभिनिवेश रहा है। त्याग भावना के साथ द्रव्य का अर्जन करते हुए यज्ञ यागादि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करते हुए तथा समाज का दायित्व पूर्णतया निभाते हुए यह जीवन मानव के उत्तरोत्तर विकास एव सुख शान्ति की उपलब्धि मे पूर्ण योगदान करता है।

गृहस्थ के कर्तव्यों का निरूपण करते हुए भीष्म पितामह ने कहा है कि त्याग और तपस्या का जीवन बिताते हुए व्रतोपवास निरत होकर व्यक्ति को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये।

"त्यागस्य चापि सम्पत्ति. शिष्यते तप उत्तमम्।
सदोपवासी च भवेत् ब्रह्मचारी तथैव च।"[1]

मास भक्षण का परित्याग करते हुए गृहस्थी दान देकर सदा वेद आदि के अध्ययन मे तत्पर रहे, ऋत का अनुसरण करते हुए सदा अपने जीवन यापन मे नियमित रहे एव ब्राह्मणो को भोजन कराके तथा देवताओं एव पितरो को यथाविधि बलि एव निवापोदक आदि देकर भोजन करे। इसके अतिरिक्त अतिथियो एव भृत्यो को भोजन कराये विना स्वय भोजन न करे।

"अमासाशी सदा च स्यात् पवित्र च सदा पठेत्।
ऋतवादी सदा च स्यान्नियतश्च सदा भवेत्।
विघसाशी कथं च स्यात् सदा चैवातिथिप्रियः।
अमृताशी सदा च स्यात् पवित्री च सदा भवेत्।"[2]

"ऋतौ भार्या मुपेयात्" के अनुसार ऋतुकाल मे ही भार्या के साथ समागम करने वाला मनुष्य ब्रह्मचारी की कोटि मे रखा जाता —

"भार्या गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति चैव ह।
ऋतवादी सदा च स्यात् दानशीलस्तु मानवः।"[3]

---

१. महाभारत—अनुशासन पर्व, ९३, ५.

२. वही—९३,८-९.

३. वही—९३,११.

अतिथि एवं मृत्यो को भोजन कराकर स्वयं भोजन करने वाला व्यक्ति केवल अमृत का ही भोग करता है।

"भृत्यातिथिषु यो मुड्क्ते मुक्तवत्सु नरः सदा।
अमृत केवल भुड्क्ते इति विद्धि युधिष्ठिर।"[1]

पितृ ऋण से मुक्ति पाने के लिए समान, गुण, शील एव वयवाली कुलवती कन्या से विवाह करके सन्तति प्राप्त करना गृहस्थ का सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। ब्राह्मणो के लिए ब्राह्म विवाह श्रेष्ठ माना गया है। ब्राह्मणो का स्वयम्बर मे वरण करने का अधिकार नही

"न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरण प्रति।
स्वयम्बर. क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुति.।"[2]

क्षत्रियो के लिए स्वयम्बर के अतिरिक्त बल पूर्वक कन्या के हरण का भी विधान है। सुभद्रा के प्रति आकृष्ट अर्जुन से कृष्ण ने कहा कि विद्वान् लोगो के अनुसार विवाह के लिए वीरो के द्वारा कन्या हरण भी श्रेष्ठ माना जाता है—

"प्रसह्य हरण चापि क्षत्रियाणा प्रशस्यते।
विवाह हेतुः शूरणामिति धर्मविदो विदु।"[3]

इसके अतिरिक्त क्षत्रियो के लिए गान्धर्व विवाह को भी श्रेष्ठ कहा गया है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु है, गति है, मित्र है, पिता है अत· स्वय ही अपना दान करके गान्धर्व विवाह का विधान एकान्त मे प्रणय से प्रतिपादित किया गया है—

"आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः।
आत्मनैवात्मनो दान कर्तुमर्हसि धर्मत.।"[4]

यही कारण था कि शकुन्तला के गान्धर्व विवाह पर महर्षि कण्व रोषाविष्ट नही हुए तथा स्वय ने ही यह निर्णय दिया कि क्षत्रियो के लिए गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ है।

१. महाभारत—अनुशासन पर्व, ९३, १३.

२. महाभारत—आदिपर्व, १८९, ७.

३. वही—२१९, २२.

४. वही—७३, ७.

'क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाहः श्रेष्ठ उच्यते ।
सकामायाः सकामेन निर्मन्त्रो रहसि स्मृतः ।''[1]

पुरुष के प्रबल आकर्षण के कारण कामातुर रमणियो के द्वारा ऋतुदान की याचना करने पर उसे ऋतुदान देना प्रत्येक मानव का कर्तव्य कहा गया है । इसके विरुद्ध आचरण करने वाले व्यक्ति को भ्रूण हत्या के पातक का भागी बताया है

''भ्रूणहेत्युच्यते ब्रह्मन्स इह ब्रह्मवादिभिः ।[2]

वानप्रस्थ

इस प्रकार दारैषणा, वित्तैषणा एव लोकैषणा आदि का जीवन विताकर गृहस्थी वानप्रस्थ आश्रम मे प्रवेश करता है । ये तीनो प्रकार की अभिलाषाएँ मनुष्य को माया मोह मे आवद्ध किये रहती है । गृहस्थाश्रम मे सभी प्रकार की अभिलाषाओ एवं आकाक्षाओ की पूर्ति कर जीवन के तृतीय विभाग मे पदार्पण किया जाता है । सासारिक तृष्णाओ एव वासनाओ का परित्याग कर तथा पुत्र को अपने गृहस्थ का भार सौपकर इन्द्रियो का नियमन करता हुआ मानव वन मे निवास करता है । कालिदास ने स्पष्ट कहा है कि पहले पृथ्वी की रक्षा के निमित्त आनन्द दायक भवनो मे निवास करके वार्धक्य मे यति का व्रत धारण करते हुए वृक्ष-मूल मे निवास कर आत्म ज्ञान की प्राप्ति मे तत्पर हो जाना ही मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य है ।

''भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुशन्ति ये निवासम् ।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति येषाम् ।''[3]

महर्षि व्यास ने अपने मन्तव्य को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि जब जब गृहस्थ स्वय को निर्बल एव जरा वैक्लव्य आदि दोषो से अभिभूत अनुभव करे एव उसके पुत्र के भी पुत्र हो जाय, तब वह वन का आश्रय ग्रहण करे । आश्रम मे निवास करते हुए अग्नि होत्र द्वारा देवताओ को प्रसन्न करना वानप्रस्थ के आन्हिक कर्तव्यो में गिना

---

१. महाभारत—आदिपर्व—७३, २७.

२. वही—८३, ३३.

३. अभिज्ञान शाकुन्तलम्—७, २०.

जाता है। इसके अतिरिक्त अप्रमादी होकर अल्प मात्रा मे भोजन करते हुए पञ्च महा-यज्ञो मे हवि आदि के द्वारा नित्य हवन करते रहना भी उस जीवन का अभिन्न अङ्ग है।

'गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्य वनमेव तदा श्रयेत्।
नियतो नियताहार षष्ठभुक्तो ऽप्रमत्तवान्।
हवींषि संप्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु।" [1]

वानप्रस्थ से यह अपेक्षा की जाती है कि वह दूसरे के धन को न ग्रहण करे तथा एक बार किसी वस्तु का भोग करके पुन· उसे पाने की इच्छा न करे। सबप्राणियो जड एव चेतन मे सम भाव से व्यवहार करे तथा किसी से न उद्विग्न हो और न किसी को उद्विग्न करे।[2]

मन, वाणी एव नेत्र आदि इन्द्रिय से कभी भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे उसे दुराचरण नहीं करना चाहिये। कच्छप के अङ्गो के समान अपनी इन्द्रियो को सकुचित करके सर्व तत्त्वार्थ ज्ञाता होकर निस्पृह के समान आचरण करना उसकी शोभा है—

"नचक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेत्क्वचित्।
न प्रत्यक्ष परीक्ष वा किञ्चित् दुष्ट समाचरेत्।
इन्द्रियाण्युपसहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश।
क्षीणेन्द्रियमनोबुद्धि निरीह· सर्वतत्त्ववित्।"[3]

निर्लिप्त के समान व्यवहार करने वाला वानप्रस्थ लाभ से प्रसन्न न हो तथा हानि से उदासीन अथवा शोक ग्रस्त न हो एव प्राण यात्रा से अधिक अन्न की याचना न करे।

---

१. महाभारत—शान्ति पर्व, २४४, ४—७.

२. वही—आश्वमेधिक पर्व, ४६, ३५-४१.

३. वही—४६, ४३—४४

"लाभेन च न हृष्येत नालाभे विमना भवेत् ।
नातिभिक्षा भिक्षेत केवल प्राणयात्रिक: ।"[1]

इसके अतिरिक्त वह अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, सरलता, क्रोधराहित्य, अनसूया, इन्द्रिय निग्रह एव छल कपट राहित्य—इन आठ व्रतो के पालन मे तत्पर रहे—

अहिंसा ब्रह्मचर्य चसत्यमार्जवमेव च ।
अक्रोधश्चानसूयाच दमो नित्यमपैशुनम् ।
अष्टस्वेतेषु युक्त स्यात् व्रतेषु नियतेन्द्रिय ।"[2]

वानप्रस्थ के आदर्श आचरण का सम्यक् निरूपण महाभारत मे उपलब्ध होता है, जिसके अनुसार जितेन्द्रिय, सबसे मित्रभाव रखने वाला, क्षमाशील, शिर के केशो एव डाढी मूछ को धारण करने वाला, अग्निहोत्र करता हुआ, स्वाध्याय निरत, सत्यधर्म परायण, पवित्र देह वाला, सदा चतुर, वन मे नित्य रहने वाला, नगर मे न जाने वाला, समाहित, नियमो को दृढता से पालन करने वाला वानप्रस्थ स्वग को जीत लेता है ।

"दान्तो मैत्र: क्षमायुक्त केशान् श्मश्रु च धारयन् ।
जुहुवन्स्वाध्याय शीलश्च सत्य धर्म परायण: ।
शुचि देह: सदादक्षो वन नित्य: समाहित ।
एव युक्तो जयेत्स्वर्गं वानप्रस्थो जितेन्द्रिय: ।"[3]

वान प्रस्थ के वेश एव व्यवहार का निरूपण करते हुए आगे कहा गया है कि बिना सिले वस्त्र अथवा वृक्ष की छाल पहनने वाले, सिंह आदि वन्य पशुओ का चर्म ओढने बिछाने वाले वानप्रस्थो को धर्म एव विधि के अनुसार यात्रा करनी चाहिये । स्त्री सम्बन्धो से रहित एव सब पापो से मुक्त क्षमा शील, दमन शील, क्रोध पर विजय पाने वाला धर्म रूप होकर हिंसा न करता हुआ एव धर्म मे मन को नित्य रत रखने वाला वानप्रस्थ धर्म को प्राप्त करता है ।

---

१. महाभारत—आश्वमेधिक पर्व, ४६, २०.

२. वही—४६, २९—३०.

३. वही—४६, १५—१६.

"चीरवल्कल सवीतेमृगचर्म निवासिभिः ।
विमुक्तादार सयोगै विमुक्ता. सर्वसकरै ।
विमुक्ता सर्वपापैश्च चरन्ति मुनयो वने ।

क्षान्तो दान्तो जितक्रोधी धर्मभूतो विहिंसक ।
धर्मे रतमना नित्य नरो धर्मेण युज्यते ।"[1]

तीनो वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय एव वैश्य को वानप्रस्थ आश्रम मे प्रविष्ट होने का नीतिकारो का आदेश है। वन मे सुलभ फल, मूल, कन्द एव वायु, जल आदि ही उनका भोजन होता है —

"फल मूलानिलभुजा मुनीना वसता वने ।
वानप्रस्थं द्विजातीना त्रयाणामुपदिश्यते ।"[2]

राज्य कार्य से निवृत्त होकर अन्त मे राजा का आश्रम वन ही होता है ।
"राजर्षीणा च सर्वेषामन्ते वनमाश्रम: ।"[3]

अग्नि होत्र को आगे कर वल्कल वस्त्र एवं व्याघ्र चर्म को धारण कर वन्धुओ से आवृत होकर राजा ध्रतराष्ट्र वानप्रस्थ के लिए निकल पडा—

"अग्नि होत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिन सवृत ।

वधूजनवृतो राजा निर्ययो भवनात्तत: ।"[4]

धृत राष्ट्र को गान्धारी सहित वन को जाते हुए देखकर कुन्ती ने भी सास ससुर के चरणो की सेवा करते हुए गान्धारी के साथ तापसी शोभा भूषा सहित वन मे निवास करने के लिए आग्रह किया था ।

---

१. महाभारत—अनुशासन पर्व, १४२ अध्याय, १२, १६, ३२.

२. वही—आश्वमेधिक पर्व, १४, ४२—४३.

३. वही—आश्रमवासि पर्व, ४, ५.

४. वही—१५, ३.

"श्वश्रू श्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने वने ।
गान्धारी सहिता वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी ।"[1]

जीवन के चतुर्थ चरण को यापन करने के लिए आश्रम का जीवन अत्यन्त स्वास्थ्यपूर्ण एवं मानसिक शान्ति के लिए अत्यन्त उपयुक्त होता है । सभी काम्य कर्मों का त्याग करने वाला सन्यासी कहा जाता है । काव्य ग्रन्थो मे अनेक स्थानो पर सन्यासी शब्द का प्रयोग न होकर भिक्षु और परिव्राजक का प्रयोग उपलब्ध होता है । वाल्मीकि ने सीता के समक्ष उपस्थित होने वाले रावण का सन्यासी के रूप मे चित्रण किया है । शरीर स्वच्छ, काषाय वस्त्र पहने हुए, मस्तक पर शिखा, हाथ मे छाता एव पैरो मे जूते पहने हुए तथा अपने वाये कन्धे पर डडा रखकर उसमें कमण्डलु लटकाए हुए सन्यासी के रूप मे रावण उपस्थित हुआ था—

"श्लक्ष्णकाषायसवीत: शिखी छत्री उपानही ।
वामे चासे ऽ वसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू ।"[2]

सन्यासी अपने शरीर स्थित अग्नि होत्र-शरीर की अग्नि को कम करके अपने मुख मे हवन करता है तथा गृहस्थो की भिक्षान्न की हवियो से जीवन निर्वाह करता हुआ संसार मे अपने परिपक्व अनुभवो का उपदेश देकर समाज को सन्मार्ग पर अग्रसर करता है—

"कृत्वाग्निहोत्र स्वशरीर सस्थ ।
शारीरमग्निं स्वमुखे जुहोति ।
विप्रस्तु भैक्ष्योपगतै हंविभि ।
श्चिताग्नीना स व्रजते हि शोकम् ।[3]

सन्यासी के लिए महर्षिगण से सेवित कमण्डलु एव दक्षिण हाथ मे दण्ड शोभा प्रदान करता है ।

---

१. महाभारत—आश्रमवासी पर्व—१६, १६.

२. रामायण—अरण्य काण्ड, ४६, ३.

३. महाभारत—शान्ति पर्व, १५२, ५.

'कमण्डलुश्चाप्यमु' त महर्षिगण सेवित:।
तस्य दक्षिणतो भाति दण्डो गच्छन् श्रिया वृत ।"[1]

सन्यासी के लिए आचार सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित किये गये है जिनके अनुसार वह हवन, भोजन, पाक आदि से रहित, भिक्षार्थ नगर मे गमनशील, अन्न धन का सचय न करने वाला, मुनिभाव से शान्त चित्त होकर अल्प भोजी, कपाल, खप्पर, कमण्डलु का उपयोग करने वाला, वृक्ष मूल निवास एव गेरुए वस्त्र का सेवन करने वाला, किसी पर निर्भर न रहने वाला, जन समूह से सर्प की तरह भीत होने वाला उत्तम वस्त्रो, सुखो एव स्त्रियो से भय करने वाला सन्यासी उत्तम कहा जाता है—

"अनग्निरनिकेतश्च ग्राममन्नाथमाश्रयेत् ।
अश्वस्तन विधातास्यान्मुनिर्भाव समाहित. ।
लव्याशी नियाताहारः सकृदन्ननिषेविता ।
कपाल वृक्षमूलानि कुचैलमसहायता ।
अहेरिव गणाद्भीतः सौहित्यान्नरकादिव ।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्त देवा ब्राह्मण विदुः ।"[2]

इसके अतिरिक्त अपमान से क्रोध न करने वाला एव मान से हर्षित न होने वाला सब प्राणियो को अभय देने वाला, जीवन की प्रशसा एव मरण की निन्दा से मुक्त एव स्वामी की आज्ञा की सेवक के समान काल की प्रतीक्षा करने वाला ब्रह्मज्ञानी सन्यासी कहा जाता है—

न क्रुध्येत प्रहृष्येत मानितो ऽ मानितश्च य. ।
सर्व भूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मण विदु ।
नाभिनन्देत मरण नाभिनन्देत जीवितम् ।
कालमेव प्रतीक्षेत निदेश भृतको यथा ।"[3]

---

१. महाभारत—वनपर्व, २३१, ४२.
२. वही—शान्ति पर्व, २४५ अध्याय, ५, ७, १३.
३. वही—२४५ अध्याय, १४—१५.

आत्म ज्ञान की प्राप्ति सन्यासी का प्रमुख लक्ष्य होता है। कच्छप के अङ्ग सकोच के समान सन्यासी को अपनी इन्द्रियाँ मन से सयत करनी चाहिये। अन्धकार पूर्ण घर जैसे दीपक से प्रकाशित होता है उसी प्रकार बुद्धि-दीपक से आत्मा का दर्शन हो सकता है।

"प्रसार्येह यथाङ्गानि कूर्मः सहरते पुनः।
तथेन्द्रियाणि मनसा सयन्तव्यानि भिक्षुणा।
तम. परिगत वेश्म यथा दीपेन दृश्यते।
तथा बुद्धि प्रदीपेन शक्य आत्मा निरीक्षितुम्।"[1]

योगाभ्यास मे अभ्यस्त सुलभा नाम की पृथ्वी पर विचरण करने वाली सन्यासिनी का उल्लेख प्राप्त होता है—

"अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्ममनुष्ठिता।
महीमनुचचारैका सुलभानाम भिक्षुकी।"[2]

आर्य ऋषियो द्वारा आयोजित यह आश्रम व्यवस्था उनकी वर्ण व्यवस्था की ही पूरक है। दोनो व्यवस्थाए व्यक्ति और समाज के जीवन और उसके सगठन से सम्बन्धित है। अन्तर केवल इतना ही है कि वर्ण व्यवस्था समाज मे रहने वाले मनुष्य को सामाजिकता के अधिकारो, कर्तव्यो की शिक्षा देकर पूर्ण सामाजिक बनाती है तो दूसरी आश्रम व्यवस्था उसके आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर सकेत करती हुई उसके जीवन को सुशासित, सुव्यवस्थित एव सुनियन्त्रित बनाने की दिशा मे सतत प्रयत्नशील रहती है।

भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि वह उदार वैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर अवलम्बित थी जिसमे मानव के हित को ध्यान मे रखकर उसके मन, बुद्धि, आत्मा आदि के विकास की पूरी व्यवस्था की गई थी। इस व्यवस्था का चरम लक्ष्य आत्मा का सर्वतोमुखी विकास था।

१. महाभारत—शान्तिपर्व, ३२६, ३९—४०.

२. वही—शान्तिपर्व ३२६, ३९—४०.

वर्णाश्रम व्यवस्था ने धनी, निर्धन, विद्वान्, मूर्ख, सभी को समाज के अङ्ग बताकर विश्व बन्धुत्व की भावना का उदय किया एव पारस्परिक साहाय्य एव सौहार्द के निनाद से विश्व के समक्ष एक अपूर्व आदर्श प्रस्तुन किया। यही कारण है कि भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था मे वर्ग सघर्ष, ईर्ष्या, स्वार्थ साधन, रक्त-शोषण एव वैमनस्य का अट्टहास दृष्टि-गोचर नही होता।

मित्रता

यह सम भाव ही मित्रता की आधार शिला है। मित्रता का सर्वोपरि उद्देश्य पारस्परिक आदान प्रदान एव साहाय्य भावना है। त्याग एव श्रम मूलक आश्रम-व्यवस्था मे दीक्षित मानव सम-भाव के सहारे मित्रता का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत कर सकता है।

समान व्यक्तियो मे ही मित्रता का निर्वाह हो सकता है। विषम स्वभाव के व्यक्तियो मे मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध चिर काल तक स्थिर नही रह सकते—

"साम्याद्धि सख्य भवति वैषम्यान्नोपपद्यते।
न सख्यमजर लोके विद्यते जातु कस्यचित्।"[1]

नीतिकारो के अनुसार सामान्यतः वैषम्य होने पर मित्रता विचलित जाती है। विद्वान् का मूर्ख मित्र नही हो सकता, शूर का मित्र कायर नही हो सकता, महारथी रथहीन का मित्र नही होता, एव राजा की मित्रता भी धनहीन तथा शक्तिहीन व्यक्ति से नही हो सकती। जिनमे समृद्धि एव ज्ञान मे समानता है उन्ही की मित्रता दृढ और अमर बनी रहती है—

"नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा।
ना राजा पार्थिवस्यापि सखि पूर्वं किमिष्यते।
ययोरेव सम वित्त ययोरेव सम श्रुतम्।
तयोर्विवाहः सख्यञ्च नतु पुष्ट विपुष्टयोः।"[2]

ऐसी अवस्था मे उनकी मित्रता समय बीतने पर कम पड जाती है तथा पहले का सौहार्द धीरे धीरे नष्ट हो जाता है।

---

१. महाभारत—आदिपर्व, १३१, ६७

२. वही—आदिपर्व, १३१, १०.

"सौहृदान्यपि जीर्यन्ते कालेन परिजीर्यतः ।"[1]

राम और सुग्रीव की मित्रता का आधार सम-भावना है। दोनो ही पत्नी-वियोग से दुःखी थे। परस्पर साहाय्य ही मित्रता का फल है—

"उपकारफलं मित्रमपकारो ऽ रिलक्षणम् ।"[2]

अग्नि की साक्षी मित्र बनने का उल्लेख है। तदनन्तर स्त्री, पुत्र, पुर, राष्ट्र, भोग एव आच्छादन सभी वस्तुओ का समान रूप मे भोग किया जा सकता है।

"त्वया सह चिर सख्य सुस्निग्ध पावकाग्रतः ।
दारा. पुत्रा. पुर राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम् ।"[3]

कालिदास के अनुसार परस्पर मिलने एव दो चार मधुर बातें करने से मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो जाता है—

"सम्बन्धमाभाषण पूर्वमाहु वृ॑त्त. सनौ सङ्गतयोर्वनान्ते ।
तद्भूतनाथानुग! नार्हसि त्व सम्बन्धिनो मे प्रणय विहन्तुम् ।"[4]

मित्र ही उत्तम गति कहा जाता है। धनी हो अथवा निर्धन, सुखी हो अथवा दुःखी, निर्दोष हो अथवा दोषयुक्त, मित्र-स्नेह के कारण ही धन, सुख एव प्राणो का भी त्याग किया जा सकता हैं—

"आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखित सुखितोऽपि वा ।
निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गतिः ।
धन त्यागः सुखत्यागो देहत्यागो पि वा पुन. ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम् ।"[5]

---

१. महाभारत—आदिपर्व—१३१ ,६.

२ रामायण—किष्किन्धाकाण्ड, ८,२१.

३. वही—उत्तर काण्ड, ३४, ४०—४१.

४. रघुवश—२, ५८ । तुलनीय—कुमार सम्भव, ५, ३९.

५. रामायण—किष्किन्धा काण्ड, ८, ८—९.

हनुमान् ने सुग्रीव को परामर्श दिया कि मित्रो का सग्रह हितकारक है। जो मित्रो के साथ साधु व्यवहार करता है, उसका प्रताप एव कीर्ति निरन्तर बढती रहती है—

"यो हि मित्रेषु कालज्ञः सतत साधु वर्तते।
तस्य राज्यं च कीर्तिश्च प्रतापश्चाभिवर्धते।"[1]

विदुर के अनुसार जिन पुरुषो मे चित्त से चित्त, गुप्त विचार से गुप्त विचार तथा बुद्धि से बुद्धि मिल जाती है उनकी मित्रता कभी क्षीणनही होती—

"ययोश्चित्तेन वा चित्त निभृत निभृतेन वा।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति।"[2]

कृतज्ञ, धर्मात्मा, सत्य निष्ठ, उदार दृढ स्नेह वाला तथा विपत्ति मे भी साथ न छोडने वाला मित्र सभी को अभीष्ट होता है—

"कृतज्ञं धार्मिक सत्यमक्षुद्र दृढभक्तिकम्।
जितेन्द्रिय स्थित स्थितया मित्रमत्यागि चेष्यते।"[3]

उपकार करने वाले मित्र के आपत्ति मे पडने पर उसकी रक्षा करना मित्र का परम कर्तव्य है—

"त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः।[4]

तुच्छ मित्र से भी यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रथम सुकृत को ध्यान मे रख कर आश्रय के लिए घर पर आये हुए उपकारी मित्र से विमुख न हो।

---

१. रामायण—किष्किन्धाकाण्ड—२६, १०—११.

२. महाभारत—उद्योग पर्व, ३६, ४८—४६.

३. वही—उद्योगपर्व ३६, ५१—५२,

४. मुद्राराक्षस—१, २५.

"न क्षुद्रोपि प्रथम सुकृतापेक्षया सश्रयाय ।
प्राप्ते मित्रे भवति विमुख॰ किम्पुनर्यस्तथोच्चैः ।"[1]

सहायक सम्पन्न व्यक्ति ही विघ्नयुक्त कार्य को अनायास ही सम्पन्न कर लेता है। नेत्रो के वर्तमान रहते हुए भी दीपक की सहायता से ही अन्धकार मे किसी पदार्थ को देखा जा सकता है।

"अर्थं सप्रतिवन्ध प्रभुरधिगन्तु सहायवानेव ।
दृश्य तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरिव ।"[2]

कालिदास की मान्यता है कि मित्र के चयन मे पूर्ण सावधानी से काम लेना चाहिये। बलवान् मित्र गर्व से अभिभूत होकर अपने छोटे मित्र को भुला देते है तथा निम्न वर्ग के मित्र कोई लाभ नही पहु चा सकते अत समान वर्ग के लोगो को ही मित्र बनाना चाहिये।

"हीनान्यनुपकर्त्तॄणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यत ।"[3]

समृद्धि की अवस्था मे बिना बुलाये ही सहायक बने आते हैं परन्तु आपत्काल मे अपने मित्र भी पराये हो जाते हैं।

"को जनस्य फलस्थस्य नस्यादभिमुखो जन. ।
जनीभवति भूयिष्ठ स्वजनो ऽ पि विपर्यये ।"[4]

केवल बुद्धि बल से ही मित्र कार्य सिद्ध नही किया जा सकता; मित्र के स्नेह एव सौहार्द से ही अर्थसिद्धि सम्भव है।

"नहि बुद्धिगुणैनैव सुहृदामर्थदर्शनम् ।
कार्यसिद्धिपथ॰ सूक्ष्मः स्नेहेनाप्युपलभ्यते ।"[5]

---

१. मेघदूत—१, १७.
२. मालविकाग्निमित्र—१, ९.
३. रघुवंश—१७, ५८.
४. बुद्ध चरित—६, ९.
५. विक्रमाङ्क देव चरित—४, ६.

अश्वघोष के अनुसार मूर्ख मित्र की अपेक्षा विद्वान् शत्रु भी अच्छा होता है ।

"वर मनुष्यस्य विचक्षणो रिपु—
र्नमित्रमप्राज्ञमयोगपेशलम् ।
सुहृद्ब्रुवेण ह्यविपश्चिता त्वया ।
कृत. कुलस्यास्य महानुपप्लव ।"[1]

मित्रता के अभाव तथा व्यक्ति को हानि पहुँचाने की भावना को ही शत्रुता कहा जाता है । शत्रु प्रतिक्षण अपकार करके अपनी दुर्भावना को प्रगट करता रहता हैं। वह अपने शत्रु को पद-पद पर क्षुब्ध करता रहता है । भीम कहता है कि धृतराष्ट्र के पुत्र, जो पद-पद पर शत्रुता का व्यवहार करते हैं यदि युधिष्ठिर निषेध न करे तो उनकी रक्षा कौन कर सकता है—

"धृतराष्ट्रस्य तनयान्कृतवैरान्पदे पदे ।
राजा न निरोद्धास्यात्क: क्षमेत तवानुजः ।"[2]

मरणान्त शत्रुता मानी गयी है । राम एव रावण की मरणपर्यन्त शत्रुता रही परन्तु मृत्यु के अनन्तर राम ने विभीषण से रावण के दाह-सस्कार आदि मृत कार्य करने का आग्रह किया ।

"मरणान्तानि वैराणि निवृत नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य सस्कारो ममाप्येष यथा तव ।"[3]

वेग से स्तब्ध एव परास्त होकर शरण मे आये हुए शत्रु को प्राणो की भिक्षा देना सबसे श्रेष्ठ उपाय हैं ।

"सस्तम्भयित्वा तरसा जित शरणमागतम् ।
यो रिपुं योजयेत्प्राणै: कल्याण किं नु सोर्हति ।"[4]

---

१. बुद्ध चरित—८, ३५.
२. वेणी सहार— १, ९.
३. रामायण—युद्धकाण्ड, ११२, २६.
४. महाभारत—आदि पर्व, १७०, ४२.

नीति कुशल व्यक्ति की दक्षता इसी मे है कि वह शत्रु को मित्र के समान मधुर व्यवहार से सन्तुष्ट रखे तथा स्वयं उससे नित्य सर्पयुक्त घर के समान भयभीत रहकर साव-धान रहे—

"शत्रुञ्च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत् ।
स नित्यश्चोद्विजेत्तस्माद् गृहात्सर्पयुतादिव ।"[1]

बन्धु

जाति के व्यक्तियो का व्यवहार भी शत्रुओ के समान ही माना जाता है। ये लोग अपने बन्धुओ के सकट मे प्रसन्न होते हैं—

"जानामि शील ज्ञातीना सर्वलोकेषु राक्षस !
हृष्यन्ति व्यसनेष्वेते ज्ञातीना ज्ञातय सदा ।"[2]

शत्रु शरीर पर प्रहार करता है परन्तु बन्धु हृदय पर प्रहार करता है । यही कारण हैं कि स्वजन को शत्रु से भी अधिक अविश्वसनीय कहा जाता है—

"शरीरे ऽ रि: प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा ।
कस्य स्वजनशब्दो मे लज्जामुत्पादयति ।"[3]

महर्षि जाबालि ने भी राम से यही कहा था कि कोई किसी का बन्धु नही है तथा किसी से किसी का कोई कार्य सिद्ध नही होता । मनुष्य अकेला ही उत्पन्न होता है तथा वह अकेला ही नष्ट हो जाता है—

"क. कस्य पुरुषो बन्धु : किं कार्य कस्य केनचित् ।
यदेको जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ।"[4]

विदुर के अनुसार गुण हीन बन्धुओ की भी रक्षा करना चाहिये ।
"विगुणाह्यपि सरक्ष्या ज्ञातयो भरतर्षभ ।

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व, १४, १५.
२. रामायण—युद्ध काण्ड, १६, ३.
३. प्रतिमा नाटक—१, १२.
४. रामायण—अयोध्या काण्ड, १०८ ,३.

किंपुनर्गुणवन्तस्ते त्वत्प्रसादाभिकाङ्क्षिण ।"[1]

बान्धवो के साथ सहभोज, वार्तालाप तथा पारस्परिक प्रेम करना चाहिये बान्धव ही इस ससार से उद्धार करते है और बान्धव ही डुबाते भी हैं। सदाचारी उद्धार करने वाले होते हैं तथा दुराचारी पतन के गर्त मे गिरा देते है—

"सम्भोजन सङ्कथन सम्प्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभि. सह कार्याणि न विरोधः कदाचन ।
ज्ञातयस्तारयन्तीह ज्ञातयो मज्जयन्ति च ।
सुवृत्तास्तारयन्तीह दुर्वृत्ता मज्जयन्ति च ।"[2]

गुणवान् शत्रु की अपेक्षा गुणहीन अपना बन्धु श्रेयस्कर माना गया है। बन्धु बन्धु ही है तथा शत्रु शत्रु ही है।

"गुणवान्वा परजन स्वजनो निर्गुणोऽपि वा ।
निर्गुण स्वजन. श्रेयान् य· परः पर एव स. ।"[3]

जो व्यक्ति अपने बन्धु जनो को छोडकर शत्रुपक्ष मे चला जाता है वह अपने बन्धुओ के नष्ट होने पर शत्रुओ के द्वारा मारा जाता है।

"य· स्वपक्ष परित्यज्य परपक्ष निषेवते ।
स स्वपक्षे क्षय प्राप्ते पश्चात्तैरेव हन्यते ।"[4]

भारतीयो का तो यह आदर्श रहा है कि वे शत्रुओ के भी अतिथि रूप मे आने पर उनका हृदय से सत्कार करते हैं।

---

१. महाभारत—उद्योग पर्व, ३९, २०.

२. महाभारत—उद्योग पर्व, ३९, २४—२५.

३. रामायण—युद्ध काण्ड, ८७, १५

४. वही—युद्धकाण्ड ८७, १६.

"अरावप्युचित कार्यमातिथ्य गृहमागते ।
छेतुमप्यागते छाया नोपसंहरते द्रूमः ।"[1]

अतिथि सत्कार

सामाजिक शिष्टाचार मे अतिथि सत्कार को सर्व प्रमुख स्थान दिया है । आगमन पर "स्वागतम्" आदि सत्कारक गौरव पूर्ण पदो का प्रयोग अतिथि के माहात्म्य का प्रतिपादक है । अतिथि के आने पर पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्क, तथा अनुरूप आसनप्रदान आदि प्रारम्भिक औपचारिकता के अनन्तर अतिथि से आज्ञा पाकर आसन ग्रहण करने के पश्चात् कुशल क्षेम प्रश्न आदि भारतीय शिष्टाचार का मूल आधार है ।

धर्मज्ञो से अपेक्षित होता है कि वे अतिथि का अवश्य सत्कार करे चाहे वह सामान्य व्यक्ति ही क्यो न हो ।

"अतिथि· किल पूजार्हों प्राकृतोऽपि विजानता ।
धर्म जिज्ञासमानेन किंपुन र्यादृशो भवान् ।"[1]

वनवासी ऋषि मुनियो के लिए भी अतिथि सत्कार एक अनुपेक्षणीय कर्तव्य माना गया है । अगस्त्य ने राम से कहा कि जो तपस्वी अतिथि का स्वागत नही करता, उसे परलोक मे दु:साक्षी (झूठे गवाह) की तरह अपने ही शरीर का मास खाना पडता है ।

"दु.साक्षीव परेलोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ।"[2]

अतिथि सत्कार को यज्ञ की कोटि मे रखा गया है इसीलिए आन्हिक अनिवार्य कृत्य—'पञ्च महायज्ञो' मे इसको प्रमुख स्थान दिया गया है ।

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व, १४६, ५.

२. स्वागत ते महा बाहो—·रामायण—अयोध्या काण्ड, ५०, ३८.

३. रामायण—सुन्दर कांण्ड, १, ११६—२०

४. वही—अरण्य काण्ड, १२. ३०.

अतिथि की अभ्यर्थना करना भारत की सभ्यता के अरुणोदय काल से ही एक शिष्ट आचार रहा है। "तैत्तिरीय उपनिषद्' मे 'अतिथिदेवो भव' कहकर अतिथि के सम्मान पूर्ण स्थान की ओर सकेत किया है।

अपने समक्ष अतिथि रूप मे उपस्थित रावण को देखकर सीता शाप के भय से वार्तालाप करना अपना कर्तव्य समझती है—

"ब्राह्मणश्चातिथिश्चैव अनुक्तो हि शपेत माम्।
इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत्।

महात्मा पुरुषो का अतिथि रूप मे घर पर आना पुण्य का ही फल माना जाता है। नारद जी को घर पर आया हुआ देखकर कृष्ण ने अर्घ्य आदि सामग्रियो से उनकी पूजा की—

"तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपूरुषः
सपर्यया साधु सपर्यपूजयत्।"
गृहानुपेतु प्रणयादभीप्सवो।
भवन्ति ना पुण्यकृता मनीषिणः।"[2]

अतिथि के आने पर गृहस्थ का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह उसका आगे जाकर स्वागत सत्कार करे। अतिथियो का सत्कार करने वाले राजा स्वर्ण—पात्रो के अभाव मे मृत्तिका के पात्रो मे अर्घ्य आदि लेकर अतिथि का स्वागत करते हैं।

"स मृण्मये वीत हिरण्मयत्वा—
त्पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशील:।
श्रुतप्रकाश यशसा प्रकाशः
प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः।"[3]

---

१ वही—४७, २.
२. शिशुपाल वध—१, १४.
१. रघुवश—५, २.

अतिथि को आया देखकर अपना सर्वस्व अर्पित करने के लिए सन्नद्ध गृहस्थ अतिथि के आगमन को अपने भाग्य का प्रकर्ष एव सत्कर्मों के फल का उदय समझते रहे हैं—

"ऐते वयममी दारा. कन्येय कुलजीवितम् ।
ब्रूत येनात्र व कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ।"[1]

शिष्ट आचार का प्रतिपादन करते हुए श्री हर्ष ने कहा है कि अतिथियो को प्रणाम करके अपनी चूडामणि की कान्ति को पाद्य बनाना चाहिये, मधुपर्क से उत्पन्न हुई तृप्ति की विधि प्रिय वचनो की पक्ति की रस धारा से करनी चाहिये, शील से अपनी आत्मा को तृण बनाना चाहिये, अपना आसन छोडकर अतिथि को देना चाहिये, हर्ष के अश्रुओ से पाद्य के लिए जल देना चाहिए, तथा मीठे वचनो से कुशल प्रश्न पूछने चाहिये—

"स्वात्मापि शीलेन तृण विधेय,
देया विहायासन भूर्निजापि ।
आनन्द वाष्पैरपि कल्प्यमम्भ ,
पृच्छा विधेया मधुमिर्वचोभि ।"[3]

आश्रम मे प्रतिदिन किये जाने वाले सत्कार को देखकर, छाया से मार्ग के श्रम को हरने वाले एव अत्यन्त मधुर फलो से युक्त पुत्रो के समान आश्रम के वृक्षो ने अतिथि सत्कार का विधान सीख लिया—

"छाया विनीताध्वपरिश्रमेषु भूयिष्ठ सम्भाव्यफलेष्वमीषु ।
तस्यातिथीनामधुना सपर्या स्थिता सुपुत्रेष्विव पादपेषु ।"[3]

बाल्मीकि की धारणा है कि अमृत की प्राप्ति से, जल हीन प्रदेश मे वर्षा से, नि.सन्तान को पुत्र प्राप्ति से, नष्ट-सम्पत्ति को अपूर्वलाभ से तथा उत्सव के अवसर जो प्रसन्नता होती है, वही अतिथि के आगमन से भी होती है ।

---

१. कुमार सम्भव—६, ६३.
२. नैषध चरित—८, २१.
३. रघुवश—१३, ४६ , तुलनीय—नागानन्द—१. १२.

"यथामृतस्य सम्प्राप्तिः यथा वर्षमनूदके ।
यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै ।
प्रणष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षो महोदय, ।
तथैवागमन मन्ये स्वागत ते महामुने ।"[1]

भिक्षा के लिए घर पर आया हुआ अतिथि यदि निराश होकर लौट जाता है तो वह अपना पाप उस गृहस्थ को सौपकर उसका पुण्य ले जाता है—

"अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स तस्मै दुष्कृत दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ।"[2]

इसके विपरीत सत्कार पाकर अतिथि जिस गृहस्थ के घर से जाता है वह मनीषियो के द्वारा श्लाघनीय धर्म को प्राप्त करता है । गृहस्थ का यही व्रत होना चाहिये कि धन, स्त्री तथा प्राण भी अतिथि को समर्पित करने के लिए वह प्रस्तुत रहे—

"अतिथि पूजितो यस्य गृहस्थस्य तु गच्छति ।
नान्यत्तस्मात्परो धर्म सम्प्राप्तातिथिपूजनम् ।"
प्राणाहि मम दाराश्च यच्चान्यद्विद्यते वसु ।
अतिथिभ्यो मया देयमिति मे व्रतमाहितम् ।"[3]

अतिथियो का आतिथ्य करते समय यह ध्यान रखा जाना न्याय संगत है कि उन्हे उनके पद एव गौरव के अनुसार ही सम्मान प्राप्त हो ।

उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारत मे अतिथि सत्कार को सर्वोत्कृष्ट महत्त्व दिया जाता रहा है । प्राण पण से भी अतिथि का स्वागत सत्कार करना भारतीय जीवन का अभिन्न अङ्ग है । भारत के मनीषियो ने अतिथि सत्कार का आदर्श जीवन-सर्वस्व का परित्याग करके भी प्रतिष्ठित किया है ।

---

१. रामायण—बालकाण्ड, १८, ५०—५१.

२. महाभारत—शान्ति पर्व, १९१, १२.

३ वही—अनुशासन पर्व, २, ७०—७१.

परोपकार

अतिथि सत्कार के समान ही परोपकार का भी अनुपम महत्त्व विद्वानो के द्वारा स्वीकृत किया गया है। अपने प्राण देकर भी दूसरो का उपकार करना भारतीयो ने सदा से ही अपना प्रथम कर्तव्य समझा है। फल आने से वृक्ष झुक जाते है, नव जल के सचार से मेघ नीचे तक लटक जाते हैं, परोपकार शील सत्पुरुष भी समृद्धि को पाकर निरभिमान रहते हैं—

"भवन्ति नम्रास्तरव फलागमै:
नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घना ।
अनुद्धता. सत्पुरुषा. समृद्धिभि:
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।"[1]

परोपकार को सदैव पावन कर्म माना जाता है। कमल के विकसित करने वाले, दिशाओ को प्रकाश से परिपूर्ण करने वाले, अपनी किरणो से समस्त ससार के आनन्दित करने वाले सतत परोपकार निरत केवल एक सूर्य ही श्लाघनीय माने गये हैं—

"निद्रामुद्रावबन्धव्यतिकरमनिश पद्म कोशादपास्यत् ,
आशापूरैककर्मप्रवण निजकर प्राणिताशेषविश्व ।
दृष्ट सिद्धै प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैरस्तमप्येष गच्छत् ।
एक श्लाघ्यो विवस्वान्परहित करणायैव यस्य प्रयास ।"[2]

परोपकार शील व्यक्ति का यह अनुपम आदर्श है कि वह अपने प्राण देकर दूसरे की रक्षा करने से प्राप्त पुण्य के द्वारा जन्म-जन्म मे अपने प्राण देने की कामना करता है—

"सरक्षता पन्नगमेप पुण्य मयार्जित यत्स्वशरीरदानात् ।
भवे भवे तेन ममैवमेव भूयात्परोपकाराय शरीरलाभ. ।"[3]

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल—५, १२.

२. नागानन्द, ३, १८.

३. नागानन्द, ४ २६.

अपने शगीर से दूसरे की बुभुक्षा को शान्त करने की इच्छा करने वाला परोपकारी अपना मांस नोंच कर खाने वाले से उसकी भक्षण विरति का कारण जानने के लिए उत्सुक है। अपने शरीर के मांस को खाने का उसका आग्रह परोपकार निष्ठा की चरम परिणति है—

"शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मासमस्ति ।
तृप्ति न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्व विरतो गरुत्मन् ।"[1]

अपना जीवन देकर भी ससार का कल्याण करने वाले व्यक्ति पर देवी की अपार कृपा इसी तथ्य को पुष्ट करती है कि भारतीय समाज मे परोपकार का अत्यधिक महत्त्व पूर्ण स्थान रहा है तथा ऐसे व्यक्ति का समाज मे पूर्ण आदर एव प्रतिष्ठा होती रही है।

"निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणः ।
परितुष्टास्मि ते वत्स जीव जीमूतवाहन ।"[2]

परोपकार-निरत पुरुष अत्यन्त दयालुता के कारण याचको की प्रार्थना को कभी निष्फल नही करते, जो परार्थ के लिए अपने स्वार्थ का कभी विचार नही करते तथा सदैव पर दु ख से दु.खी रहा करते हैं ऐसे सत्पुरुष ससार की अनुपम रचना होते हैं—

"यैरत्यन्त दयापरै न विहिता वन्ध्यार्थिना प्रार्थना ।
यै. कारुण्य परिग्रहान्न गणित. स्वार्थ. परार्थं प्रति ।
ये नित्य पर दु ख दु.खित धियस्ते साधवो ऽस्तगता ।
मात, सहर वाष्प वेगमधुना कस्याग्रतो रुद्यते ।"[3]

साधुता

साधुता मानव का एक महान् गुण माना गया है। जो मनुष्य आत्मा के प्रति निरपेक्ष रहकर सदैव पर हित निरत रहते हैं और जिनके कर्तव्य सब व्यक्तियों के लिए

१. नागानन्द—५, १६.
२. वही—५ ३४.
३. वही—४, १०.

आदर्श उपस्थित कर सकते है, वे साधु की श्रेणी मे परिगणित किये जाते हैं। वे मन, कर्म एव वचन से पवित्रता एव एकरूपता को स्वीकार करके सभी को प्रसन्न करने के लिए सचेष्ट रहते हैं।

उज्ज्वल यश से समस्त दिग्भागो को व्याप्त करने वाले, धर्म, विलासो एव वल-समृद्धि के उदय स्थान, अपरिमित महासत्त्व मे युक्त एव मङ्गल वस्तुओं के चिन्ह स्वरूप साधु इस ससार मे विरले ही होते हैं।

"व्यतिकरितदिगन्ता. श्वेतमानैर्यशोभि.,
सुकृत विलासिताना स्थानमूर्जस्वलानाम्।
अगणित महिमान केदन मङ्गलाना,
कथमिव भुवनेऽस्मिन्स्तादृशा सम्भवन्ति।"[1]

सत्पुरुषो का व्यवहार चिताकर्षक होता है तथा नम्रता से परिपूर्ण वचनो का प्रयोग करके वे सम्पर्क मे आने वाले व्यक्तियो के मन को हठात् मुग्ध कर लेते हैं। सज्जनो का सम्पर्क बडे पुण्य से होता है। स्वभाव से माङ्गलिक एव परिचय मे अनिन्दित तथा मिलन से पूव अथवा पीछे प्रेम का उल्लङ्घन नहीं करने वाला निश्छल एव विशुद्ध—सत्पुरुषो का व्यवहार सर्वोपरि है।

"प्रियप्रायावृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः।
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचय.।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसम्।
रहस्य साधूनामनुपधि विशुद्ध विजयते।"[2]

सत्पुरुष के दर्शन अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। उनके आते ही वैर स्वतः हो शान्त हो जाता है, अतिशय सुख से गाढ अनुराग फैल जाता है, दर्प कही चला जाता है एव नम्रता सहसा विनीत कर देती है। पवित्र स्थानो की तरह महापुरुषो का भी कोई बहुमूल्य उत्कर्ष होता है।

---

१. मालती माधव—२, ९.

२. उत्तर रामचरित—२, २.

"विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनः ।
तदौद्धत्य क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम् ।
झटित्यस्मिन्दृष्टे किमिति परवानस्मि यदि वा ।
महार्घस्तीर्थानाभिव हि महता कोऽप्यतिशय ।"[1]

लोकश्रेष्ठ महापुरुषो के चरित्र वज्र से भी कठोर एव पुष्प से भी कोमल होने से अलौकिक एव अविज्ञेय होते है।

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणा चेतासि को हि विज्ञातुमर्हति ।"[1]

शास्त्रो मे निष्ठा, स्वाभाविक ज्ञान, प्रगल्भता, गुणो के अभ्यास से सम्पन्न वाणी, कार्य मे उचित समय का अनुसरण एव प्रतिभा की नवीनता-महापुरुष के ये गुण कार्यसिद्धि के साधक माने जाते है—

'शास्त्रेप्रतिष्ठा सहजश्च बोध,
प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी ।
कालानुरोध प्रतिभानवत्व—
मेते गुणा कामदुघा क्रियासु ।'[2]

साधु पुरुष, जो एक बार स्वीकार कर लेते है, उसका वे अन्त तक पालन करना अपना कर्तव्य समझते हैं।

मन्द बुद्धि पुरुष विघ्न भय से कार्य का आरम्भ ही नही करते। मध्यम श्रेणी के व्यक्ति कार्य मे विघ्न आजाने पर उसे बीच मे ही छोड देते है किन्तु उत्तम पुरुष प्रारम्भ किये हुए कार्य मे बार बार विघ्न आने पर भी उसे अन्त तक पूरा करने के लिए कटिबद्ध रहते है।

---

१. उत्तर रामचरित—६, ११.
२. उत्तर रामचरित—२, ७.
३. मालती माधव—३, ११.

"प्रारम्यते नखलु विघ्न भयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्न विहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नै पुन. पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति।"[1]

उन्नति मे हर्षोद्रेक का न होना तथा विपत्ति मे विकृति से मुक्त रहना ही महा पुरुष का चिन्ह है । राज्य नाश के कारण भी राम के मन की शान्ति एव शरीर की कान्ति दूर नही हुई—

"न चास्य महती लक्ष्मी राज्य नाशो ऽपकर्षति।
न वन गन्तुकामस्य लक्ष्यते चित्तविक्रिया।"[2]

जिस विमाता कैकेयी ने राम को राज्य से भ्रष्ट कर दिया एव दीर्घ काल के लिए वन के कष्टो को भोगने के लिए घर से निर्वासित कर दिया ऐसी माता के प्रति भरत के क्षुब्ध होने पर दिया गया राम का उपदेश साधुता की चरम अवस्थिति है। राम का आग्रह है कि माता ने जो कुछ किया उसे भूल जाओ एव उसकी पूर्ण सेवा करो—

"कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिद कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्य वर्तितव्यं च मातृवत्।"[3]

यज्ञ के द्वारा आश्रित वेदज्ञो को अपना धन समर्पित कर देने वाला, त्याग पूर्वक राज्य का भोग करने वाला, जल की वर्षा करने वाले मेघ के समान याचको पर दारिद्रय नाशक धन की वर्षा करने वाला साधु पुरुष श्रेष्ठ माना जाता है।

"राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा
कृत्वाध्वराज्योपमयेव राज्यम्।
भुङ्क्ते श्रिय श्रोत्रियसात्कृतश्री:
पूर्व त्वहो शेषमशेषमन्त्यम्।"[4]

---

१. मुद्राराक्षस—२, १८, द्रष्टव्य—शिशुपाल वध—२, ७९.
२. रामायण—अयोध्याकाण्ड, १९, ३२—३३.
३. वही—अयोध्या काण्ड, ११२, १९.
४. नैषध चरित—३, २४.

पर्वत मे उच्चता है पर अगाधता नही है, समुद्र मे अगाधता है पर उच्चता नही है, पर मनस्वी पुरुष मे अलङ्घनीय होने के कारण उच्चता एव गाम्भीर्य दोनो ही विद्यमान हैं—

"तुड्गत्वमितरा नाद्रौ नेद सिन्धावगाधता ।
अलङ्घनीयता हेतुरुभय तन्मनस्विनि ।"[1]

सज्जन अपनी उपकारिता फल के परिणाम से सूचित करते हैं, वचन से नही ।

"ब्रुवते हि फलेन साधवो नतु कण्ठेन निजोपयोगिताम् ।"[2]

महापुरुष के ससर्ग से मूर्ख भी विद्वान् बन जाता है—

"मन्दोऽप्यमन्दतामेति ससर्गेण विपश्चित ।
पङ्कच्छिद फलस्येव निकषेणाविल पयः ।"[3]

साधु पुरुषो की चित्त वृत्ति सशयात्मक वस्तुओ मे अकर्तव्य एव कर्तव्य की निर्णायिका कही जाती है—

"असशय क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मन. ।
सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्त: करणप्रवृतय. ।"[4]

महर्षि व्यास के अनुसार साधु पुरुष वही है, जो करणीय कार्यों मे ही प्रवृत्त होता है, असफलता से जो उद्विग्न नही होता एव सिद्धि प्राप्ति से जो उल्लसित नही होता ।

---

१. शिशुपाल वध—२, ४८.

२. नेषध चरित—२, ४८.

३. मालविकाग्निमित्र—१, १.

४. अभिज्ञान शाकुन्तल—१, २०.

"य एव कृतबुद्धिः स कर्मस्वेव प्रवर्तते ।
नासिद्धौ व्यथते तस्य न सिद्धौ हर्षमश्नुते ।"[1]

संस्कृत काव्यो मे साधु समागम की बडी प्रशसा की है। मूर्खो का ससर्ग मोह जाल का कारण होता है तथा साधु समागम धर्म का उदय स्थान कहा जाता है। अतः विद्वद्गण, वृद्ध, पुरुष, सुन्दर स्वभाव वाले तपस्वियो एव शमपरायण सज्जनो को साधु समागम करना चाहिये।

"मोहजालस्य योनिर्हि मूढैरेव समागम ।
अहन्यहनि धर्मस्य योनि, साधु समागम ।
तस्मात् प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च सुस्वभावैस्तपस्विभि, ।
सद्भिश्च सह ससर्ग. कार्यः शम परायणै ।"[2]

नीच व्यक्तियो के साथ सम्पर्क करने से बुद्धि का अपकर्ष होता है , मध्यम श्रेणी के पुरुषो के साथ रहने से मध्यत्व आता है तथा उत्तम पुरुषो के साथ ससर्ग करने से बुद्धि का उत्कर्ष होता है।

"बुद्धिश्च हीयते पुसा नीचै. सह समागमात् ।
मध्यमैर्मध्यतां याति श्रेष्ठता याति चोत्तमैः ।"[3]

सज्जनो का संग किसी सुकृत के परिणाम स्वरूप ही होता है। वृक्ष की छाया, जल तथा तपश्चर्या के उपयुक्त भक्ष्य सामग्री फल मूल आदि वह भी स्वतन्त्र हैं।

"यथेच्छ भोग्य वो वनमिदमय मे सुदिवसः ।
सतां सद्भि सङ्ग कथमपि हि पुण्येन भवति ।
तरुच्छाया तोय यदपि तपसां योग्यमशन ।
फल वा मूल वा तदपि न पराधीनमिह व. ।"[4]

---

१. महाभारत—उद्योग पर्व, ७७, १२.
२ वही—वन पर्व १, २६.
३. महाभारत—वन पर्व, १, ३०
४. उत्तर राम चरित—२, १.

यदि सज्जन स्वभाव से ही परोपकार निरत ही दृष्टिगोचर होते हैं तो असज्जनो के लिए दूसरे व्यक्ति की उन्नति महान् हृदय रोग की जननी होती है।

"उपकारपर: स्वभावत. सतत सर्वजनस्य सज्जन ।
असतामनिश तथाप्यहो गुरुहृद्रोगकरी तदुन्नति: ।"[1]

साधु आचरण मानव का गुण है तो असदाचरण दुर्जनो का निसर्गसिद्ध अधिकार है। असत् पुरुष जन्म से ही दुष्टता के अवतार के रूप मे उदित होते हैं। सत्पुरुषो से उनकी निसर्ग सिद्ध शत्रुता होती है, गुणो से उन्हे अनुराग नही होता तथा वे किसी व्यक्ति से भी स्नेह का आदान प्रदान नही कर सकते।

गुणो से द्वेष करने वाला, किसी से स्नेह न करने वाला एव महापुरुषो से शत्रुता करने वाला नीच पुरुष बुद्धिमान होते हुए भी अन्त मे नाश कोप्राप्त होता है—

"द्वेष्टि प्रायो गुणेभ्योयत् न स्निह्यति कस्यचित् ।
वैरायते महद्भिश्च शीर्यते बुद्धिमानपि ।"[4]

दूसरो की उन्नति मे विषण्ण होना दुर्जन का स्वभाव होता है। तपस्वी एवं निरपराध सत्पुरुष को पीडा पहुँचाना उनका धर्म है।

"पर वृद्धिषु बद्धमत्सराणा
किमिव ह्यस्ति दुरात्मनामलध्यम् ।"[3]

पर स्त्री एव परकीय भोगो का अपहरण कर सत्पुरुषो को पीडित करना ही अनार्यों का धर्म है।

"परस्त्रीभोगहरण धर्म एव नराशिनाम् ।"[२]

दुर्जन को शान्त करने का उपाय उसका अपकार करना होता है। वह अभ्यर्थना आदि उपकारो द्वारा कभी भी सत्पथ पर नही लाया जा सकता। दुष्ट की यही प्रतिक्रिया है कि या तो उसे दण्ड के द्वारा त्रस्त कर दिया जाय अथवा उसका दूर से ही परित्याग कर दिया जाय।

१. शिशुपाल वध—१६, २२.
२. भट्टी काव्य—१८, ६.
३. किरातार्जुनीय—१३, ७
४. भट्टी काव्य—६, १२२.

"खलस्य कण्टकस्यैव द्विविधैव प्रतिक्रिया ।
उपानहाद्वक्त्रभङ्गो दूरतोपि विवर्जनम् ।"[1]

विदुर ने विनाशोन्मुख दुर्जन के विविध लक्षणों का प्रतिपादन किया है । ब्राह्मणों से द्वेष करना, उनसे विरोध करना, उनके धन का अपहरण करना उन्हें, मारने की इच्छा करना, उनकी निन्दा से प्रसन्न होना, उनके गुणानुवाद से ईर्ष्या करना, कार्यों मे उनका स्मरण नही करना तथा माँगने पर द्वेष निकालना आदि दुराचरणों से बुद्धिमान् पुरुष को सदैव दूर रहना चाहिये—

"ब्राह्मणान् प्रथम द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ।
ब्राह्मण स्वानि चादत्ते ब्राह्मणाश्च जिघासति ।
रमते निन्दया चैषा प्रशसा नाभिनन्दति ।
नैनान् स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।"[2]

गुणों मे अदोषदर्शिता, सरलता, पवित्रता, सन्तोष मधुर भाषण, शान्ति, सत्यता, स्थिरता, आत्म ज्ञान, सहन शक्ति, धर्म परायणता, परिमित भाषण तथा दानशीलता आदि गुणों का असत्पुरुषों मे नितान्त अभाव देखा जाता है—

"अनसूयार्जव शौचं सन्तोष. प्रियवादिता ।
दम सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ।
आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता
वाक् चैव गुप्ता दान्च नैतान्यन्त्येषु भारत ।

विल्हण के अनुसार पर गुणासहिष्णुता दुर्जनो का स्वभाव होता है । दुर्जनो का इसमे कोई दोष नही समझना चाहिये —

"न दुर्जनानामिह कोपि दोषस्तेषा स्वभावो हि गुणासहिष्णु' ।
द्वेष्यैव केषामपि चन्द्रखण्डविपाण्डुरा पुण्ड्रक शर्करापि ।"[4]

---

१ तुलनीय—कुमार सम्भव—२, ४०
२. महाभारत—उद्योग पर्व, ३३, ९३—९५.
३ महाभारत—उद्योग पर्व, ३४, ७२—७३.
४. विक्रमाङ्कदेव चरित—१, २०.

जिस प्रकार केलि कानन मे प्रवेश करके भी ऊट कण्टक जालको ही प्राप्त करना चाहता है उसी प्रकार कर्ण को आनन्द देने वाले अमृत तुल्य सूक्ति रस को छोडकर दुर्जन का दोष दृष्टि मे ही प्रयास रहता है ।

"कर्णामृत सूक्ति रस विमुच्य दोषे प्रयत्न· सुमहान् खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवन प्रविश्य क्रमेलक· कण्टकजालमेव ।"[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत काव्यो मे दुष्ट आचरण की पर्याप्त गर्हा की गयी है ।

मानव की निसर्ग सिद्ध प्रवृत्तियो का दमनकर उनके स्थान पर सात्त्विक एव हित कारिणी वृत्तियो को प्रोत्साहन देने वाले अनेक उपदेशो से भारतीय वाङ्मय पूर्णत परि-व्याप्त है ।

शिक्षा

शिक्षा के विषय पर नीति सम्बन्धी अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं । शिक्षा, शिक्षक एव शिक्षार्थी से सम्बन्धित अनेक दृष्टिकोण सस्कृत काव्यो मे अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ।

किसी का स्वय का ज्ञान विशिष्ट होता है, और किसी को अध्यापन कला मे दक्षता प्राप्त होती है । परन्तु जिन शिक्षको मे इन दोनो गुणो का समुचित सामञ्जस्य हो, वे ही श्रेष्ठ शिक्षक कहे जाते हैं—

"शिलष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसस्था ।
सक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता ।
यस्योभय साधु स शिक्षकाणा,
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव ।"[2]

---

१. विक्रमाङ्कदेव चरित—१, २६.

२. मालविकाग्नि मित्र—१ १६.

अध्यापन कार्य अध्ययन करने वाले पर अधिक निर्भर रहता है। पण्डितगण उसी शिक्षा को निर्दोष कहते हैं, जो विद्वत् समाज रूपी अग्नि मे सुवर्ण के समान उज्ज्वल रहे।

"उपदेश विदुः शुद्ध सन्तस्तमुपदेशिन ।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चमिवाग्निषु ।"[2]

मेघ का जल, जिस प्रकार, समुद्र की शुक्ति मे प्रविष्ट होकर मौक्तिक का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार उत्तम पात्र मे रखी गयी शिक्षा अपना उत्कर्ष प्रगट करती है—

"पात्रविशेषे न्यस्त गुणान्तर व्रजति शिल्पमाधातु ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलता पयोदस्य ।"[3]

जिस प्रकार योग्य पुरुष को दी गयी कन्या शोभा पाती है उसी प्रकार सुपात्र शिष्य को प्रदान की गयी विद्या पूर्णत फलवती होती है—

"सुशिष्य परिदत्त व विद्या अशोचनीयापि सवृत्ता ।"[4]

अध्यापक के दूषणो का प्रतिपादन करते हुए कालिदास ने स्पष्ट किया है कि जो स्वय को लब्ध प्रतिष्ठ समझकर विवाद मे डरता हुआ दूसरो के द्वारा की गयी निन्दा को सहन करता है तथा जिसका शास्त्र ज्ञान केवल जीविकोपार्जन के लिए है, वह ज्ञान को वेचने वाला वणिक् के समान है—

"लब्धास्पदोऽस्मीति विवाद भीरो—
स्तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम् ।
यस्यागमः केवल जीविकायै,
त ज्ञान पण्य वणिज वदन्ति ।"[5]

---

१. मालविकाग्निमित्र—२, ६.
२. वही—१, ६.
३. अभिज्ञान शाकुन्तल—४ अक
४. मालविकाग्निमित्र—१ १७

गुरु बुद्धिमान एव मन्द बुद्धि दोनो प्रकार के छात्रो को विद्या प्रदान करता है, उन दोनो को बोध मे न सामर्थ्य देता है और न उसे नष्ट ही करता है। ऐसा होने पर भी फल मे महदनन्तर दृष्टिगोचर होता है। हीरक आदि निर्मल मणि प्रतिबिम्ब ग्राहकता से युक्त है। पर इसके विपरीत मिट्टी आदि पदार्थ बिम्ब ग्रहण करने मे असमर्थ होते हैं। छात्रो के बुद्धि भेद से ज्ञान के आदान मे भी अन्तर पड जाता है।

"वितरति गुरु प्राज्ञे विद्या तथैव यथा जडे।
नतुखलु तयोर्ज्ञानि शक्ति करोत्यपहन्ति वा।
भवति च पुन भूयान् भेद· फल प्रति तद्यथा।
प्रभवति शुचि बिम्बग्राहे मणि ने मृदाञ्च।"[1]

उचित काय को करता हुआ शिष्य गुरु के द्वारा निवारण नही किया जाता। उचित पथ से भ्रष्ट होने की दिशा मे गुरु का अकुश उसे मार्ग पर ले जाता है। विनीत शिष्य सदैव स्वतन्त्रता का भोग करता है।

"इह विचरन् साध्वी शिष्य. क्रियां न निवार्यते।
त्यजति यदा मार्गं मोहात्त गुरुरङ्कुशः।
विनयरुचयस्तस्मात्सन्त: सदैव निरङ्कुशा।
परतरमत· स्वातन्त्र्येभ्यो कथ हि पराङ् मुखा:।"[2]

प्राचीन विद्वानो ने सदैव स्वस्थ तन मे स्वस्थ मन का आग्रह किया है। बाल विद्यार्थी को गुरु अपने आश्रम मे रखकर निजी देखरेख मे उसके मानसिक गुणो को विकसित करता हुआ उसके हृदय और मस्तिष्क को उन्नत बनाना अपना कर्तव्य समझता है। शिष्य के चारित्रिक विकास के लिए गुरु का व्यक्तित्व आदर्श भूत होता है।

समाज एव शिष्य वर्ग दोनो के लिए गुरु को गौरव पूर्ण स्थान देना भारतीय

---

१ उत्तर रामचरित—२, ४.

२. मुद्राराक्षस—३, ६.

परम्परा रही है। श्रेष्ठ विद्या प्रदान करने के कारण पिता एव अग्रज के समान गुरु का भी पितरो मे परिगणन होता रहा है—

"ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्या प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिन: ।"[1]

वसिष्ठ ने आचार्य को पिता माता से भी उत्कृष्ट पद दिया है। माता पिता तो केवल जन्म के कारण है परन्तु गुरु प्रज्ञा रूपी चक्षु प्रदान करता है—

"पिता ह्येन जनयति पुरुष पुरुषर्षभ ।
प्रज्ञा ददाति चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते ।"[2]

क्षुद्र जाति के लोगो को अध्यापन करना उचित नही माना जाता। सम्यक् ज्ञान प्राप्ति के अभाव मे वह दोष गुरु का ही समझा जाता है।

"उपदेशो न कर्तव्यो जाति हीनस्य कस्यचित् ।
उपदेशे महान् दोष उपाध्यायस्य भाष्यते ।"[3]

प्रिय सत्य वचन

आचार्यो के अन्य गुणो मे विद्वता पर विशेष अभिनिवेश रहा है। अहङ्कार मे परिप्लुत वाणी की गर्हा एव सुमधुर तर्क युक्त वाणी की सभी समुचित श्लाघा करते हैं। सत्य और प्रिय वाणी मानसिक अभिलाषाओ का पूर्ण करती है, अलक्ष्मी को दूर कर प्रसिद्धि का प्रसार करती है। शत्रुओ का नाश करने वाली सूनृत वाणी को दोष शून्य, कठोरता रहित, एव कल्याण को उत्पन्न करने वाली कामधेनु के तुल्य कहा गया है—

"काम दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मी कीर्ति सूते दुष्कृत या हिनस्ति ।
शुद्धा शान्ता मातर मङ्गलाना धेनु धीरा. सूनृता वाचमाहु. ।"[4]

---

१. रामायण—किष्किन्धाकाण्ड, १८, १३.
२. रामायण—अयोध्याकाण्ड, १११, ३.
३ महाभारत—अनुशासन पर्व, १०, ४.
४. उत्तर रामचरित—५, ३१

ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ब्राह्मणो की ये सूनृत उक्तियाँ संशयास्पद नही होती। इनकी वाणी मे मङ्गल कारिणी सिद्धि नित्य निहित रहती है तथा यह असत्यता से सदा विरहित रहती है—

"आविर्भूतज्योतिषा ब्राह्मणाना ये व्याहारास्तेषु मा सशयो भूत्।
भद्राह्येषा वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता नैते वाच विप्लुतार्था वदन्ति।"[1]

हितकर एव प्रिय वचन दुर्लभ कहा गया है। जिस प्रकार औषध का स्वादिष्ट एवं रोगनिवारक होना दुर्लभ होता है उसी प्रकार प्रिय हित वचन बडे पुण्य से प्राप्त होता है—

"अप्रिय हित स्निग्धमस्निग्ध महित प्रियम्।
दुर्लभ तु प्रिय, हित स्वादु पथ्यमिवौषधम्।"[2]

प्रिय कहना चाहिये पर व्यर्थ नही, सत्य कहना चाहिये पर अप्रिय नही। प्रिय असत्य अथवा कठोर सत्य तो लज्जा से स्वय को भी नही कहना चाहिये—

"सान्त्व बभाषे नच नार्थवद्यज् जजल्पतत्त्व नच विप्रिय तत्।
सान्त्व ह्यतत्त्व परुष च तत्त्व ह्रियाशकन्नात्मन एव वक्तुम्।"[3]

विद्वत्समुदाय मे श्रेष्ठ कहे जाने वाले वे पुरुष हैं, जो हृदङ्गत भाव को वाणी मे प्रतिष्ठित करते हैं, पर उनमे भी वे सवश्रेष्ठ कहे जाते है, जो अत्यन्त कुशलता से निगूढार्थ को व्यक्त करते है।

---

१. उत्तर रामचरित—४. १८.

२ सौन्दर नन्द—११, १६; द्रष्टव्य—
सुलभा. पुरुषा राजन सतत प्रियवादिनः
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः। रामायण—युद्धकाण्ड, १६, २०—२१.

३. बुद्ध चरित—२, ३८.

"भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चिता मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित्प्रकाशताम् ।"१

निगूढार्थ को व्यक्त करने वाली सूनृत वाणी को धारण करने वाले विद्वद्गण जिस राजा के पास नही होते उनके यश की वृद्धि सम्भव नही। ससार मे कितने ही व्यक्ति उत्पन्न हुए पर उनके कोई नाम भी नही जानता—

"पृथ्वीपतेः सन्ति न यस्य पार्श्वे कवीश्वरास्तस्य कुतो यशांसि ।
भूपा कियन्तो न बभूवुरुर्व्यां जानाति नामापि न कोपि तेषाम् ।"२

विल्हण कवि की सम्मति मे राम की कीर्ति के प्रसार एव रावण के यश के सहार का कारण आदि कवि वाल्मीकि ही है।

"लङ्कापते सकुचित यशोयत् यत्कीतिपात्र रघुराज पुत्रः ।
स सर्व एवादिकवे प्रभावो न कोपनीया कवय· क्षितीन्द्रैः ।"३

बुद्धि

इन विद्वानो को अपनी बुद्धिमता पर विश्वास होता है। विशाखदत्त ने बुद्धि को सो सेनाओ से भी अधिक माना है।

कवि का आग्रह है कि सहायक चाहे उसे छोड दें किन्तु बुद्धिवल से जगली हाथी के समान समस्त कार्य जात को अपने अनुकूल वनाया जा सकता है।

"ये याता किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गाता एव ते ।
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने काम प्रकामोद्यताः ।
एका केवलमेव साधनविधो सेना शतेभ्योऽधिका ।
नन्दोन्मूलन दृष्टवीर्य महिमा बुद्धिस्तु मागान्मम ।"४

विदुर ने पण्डित का लक्षण सुन्दर प्रकार से प्रतिपादित किया है।

---

१. किरातार्जुनीय—१४, ४.
२. विक्रमाङ्कदेव चरित—१, २६.
३ वही—१, २७.
४. मुद्राराक्षस—१, २६

जो व्यक्ति किसी विषय को शीघ्र समझ लेता है पर उसे देर तक सुनता रहता है, समझकर बिना आसक्ति के उसमे प्रवृत्त होता है तथा बिना पूछे दूसरे के कार्य मे हस्तक्षेप नही करता, वही पण्डित कहलाता है।

"क्षिप्र विजानाति चिर शृणोति विज्ञायचार्थ भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थ तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य।[2]

नीर-क्षीर-विवेक करने वाले हस के समान प्राज्ञ पुरुष उक्ति प्रत्युक्ति प्रस्तुत करने वाले व्यक्तियो के शुभ अथवा अशुभ वचनो मे से गुण युक्त वाक्य को ही ग्रहण करताहै—

"प्राज्ञस्तु जल्पता पुंसा श्रुत्वा वाच· शुभाशुभाः।
गुणवद्वाक्यमादते हस क्षीरभिवाम्भसः।"[3]

जिसकी वाणी प्रतिरुद्ध नही होती, जिसकी बातें विचित्र होती हैं जो तर्क करने मे निपुण एव प्रतिभाशाली होता है, जो ग्रन्थ का अर्थ शीघ्र कर डालता है, जिसकी- विद्या बुद्धि का अनुसरण करती है, तथा बुद्धि विद्या का अनुगमन करती है और जो शिष्ट पुरुषो की मर्यादा का कभी उल्लघन नही करता वही पण्डित कहलाने का अधिकारी है।

"प्रवृत्तावाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान्।
आशुग्रन्थस्य वक्ता च य स पण्डित उच्यते।
श्रुत प्रज्ञानुग यस्य प्रज्ञाचैव श्रुतानुगा।
असम्भिन्नार्थमर्याद पण्डिताख्या लभेत स।"[1]

सभी लोग स्वय को सर्वोपरि बुद्धिमान् समझते है, सभी को अपनी आत्मा बहु मत है तथा वे अपनी ही अपनी प्रशसा करते हैं।

---

१. महाभारत—उद्योग पर्व, ३३, २२.

२. वही—आदिपर्व, ७४, ६१.

"सर्वो हिमन्यते लोक आत्मान बुद्धिमत्तरम् ।
सर्वस्यात्मा वहुमत: सर्वात्मान प्रशसति ।"[1]

अपनी बुद्धि के अनुसार पूर्ण विवेक के साथ जो अपना विचार निश्चित कर उनके अनुसार ही कार्यारम्भ करता है, वह उस कार्य मे अवश्य सिद्धि को प्राप्त करता है ।

"निश्चित्य तु यथाप्रज्ञ या मति साधु पश्यति ।
तथा प्रकुरुते भाव सा तस्योद्योगकारिका ।"[2]

सुख दु ख

पण्डित का यह स्वभाव है कि वह सुख से प्रसन्न एव दु ख से विषण्ण कदापि नही होता । सुख-दु ख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि एव जीवन मरण—ये सभी एक दूसरे के बाद आते ही रहते हैं, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को हर्ष तथा शोक नही करना चाहिये—

"सुख च दु ख च भवाभवौ च लाभालाभौ मरण जीवितञ्च ।
पर्यायश. सर्वमेते स्पृशन्ति तस्माद्धीरो न च हृष्येन्नशोचेत् ।"[3]

सुख और दु ख चिर स्थायी नही रहते । सुख का अनुसरण दु:ख करता है तथा दु ख का स्थान सुख ग्रहण करता है । मनुष्यो मे सुख और दु ख चक्र के समान निरन्तर भ्रमण शील रहते हैं ।

सुखस्यानन्तर दु ख दु खस्यानन्तरं सुखम् ।
सुख दु खे मनुष्याणा चक्रवत् परिवर्तत: ।"[4]

सासारिक विपयो की अभिलाषा एव उनकी लिप्सा जो व्याकुलता उत्पन्न होती है, उसी का नाम दु.ख कहा जाता है । दु ख का विनाश ही सुख है । सुख के भोग के अनन्तर पुन. सुख प्राप्ति की कामना दु.ख को जन्म देती है । शरीर ही सुख और दु.ख दोनो का आधार है । यह सुख और दु ख का युग्म शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और

---

१. महाभारत—सौप्तिक पर्व, ३ ४.
२. वही—वही, ३, १४.
३. वही—उद्योग पर्व, ३६, ४७.
४. वही—शान्ति पर्व १७४, १९

जीवन के साथ ही साथ इसका रहना बताया गया है। पुरुष अपने शरीर से जैसे जैसे कर्म करता है उन्ही के अनुसार वह उनका फल भोगता है। इसी प्रकार वह प्रारब्ध से दु ख और सुख का भागी बनता है।

"शरीरमेवायतन सुखस्य दु:खस्य चाप्यायतन शरीरम् ।
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म तेनैव देही समुपाश्नुतेतत् ।"[1]

भाग्य के आनुकूल्य से ही मनुष्य सुख की उपलब्धि करता है। न हितैषी मित्र अथवा बुद्धिमान् व्यक्ति ही इसमे सहायक हो सकता है और न शत्रु ही दु ख देने मे समर्थ होता है।[2] ज्ञानवान् तथा मात्सर्य रहित व्यक्तियो को दु ख कभी कष्ट नही पहुँचा सकता। मूर्ख व्यक्ति ही सुख और दु ख से प्रभावित होता है विद्वान् नही।

"बुद्धिमन्ते कृतप्रज्ञ शुश्रूषुमनसूयकम् ।
दान्तं जितेन्द्रिय चापि शोको न स्पृशते नरम् ।"[3]

दु ख हो अथवा सुख हो, प्रिय हो अथवा अप्रिय, जो कुछ प्राप्त हो उसे प्रसन्न हृदय से ग्रहण करना चाहिये—

"सुख वा यदि वा दु ख प्रिय वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्त प्राप्तमुपासीत हृदये नापराजित: ।"[4]

दु ख के अनन्तर आने वाला सुख सदा आनन्ददायक होता है। गाढान्धकार मे दीप दर्शन के समान दु ख के अनुभव के अनन्तर सुख प्रीतिकारक होता है। किन्तु सुखानुभूति के अनन्तर दु ख भोगने वाला व्यक्ति वस्तुत: मृतक के समान है, वह केवल शरीर मात्र को धारण करता है।

---

१. महाभारत—शान्ति पर्व—१७४, २१.

२. वही—१७४—२६.

३. वही—१७४, ४१; द्रष्टव्य—वही—स्त्रीपर्व, २, २२.

४. वही—१७४, ३६.

"सुख हि दु'खान्यनुभूय शोभते,
घनान्धकारेष्विव दीप दर्शनम् ।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रता,
स्थित शरीरेण मृतः स जीवति ।"[1]

पुण्य से सुख की प्राप्ति होती है तथा पाप कर्म से दुःख भोगना पडता है । प्रिय व्यक्ति का सयोग सुख देने वाला है तथा उसी का वियोग दुःख दायक हो जाता है । प्रिय व्यक्ति कुछ न करता हुआ भी सामीप्य मात्र से उत्पन्न होने वाले सुखो से दु खो का नाश कर देता है—

"अकिञ्चिदपि कुर्वाण सौख्यैदुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्य यो हि यस्य प्रियो जन. ।"[2]

प्रिया का अति मनोहर आनन देखकर सुख की अनुभूति नितान्त स्वाभाविक है । नेत्रो को सुख देने वाली आह्लादक चन्द्रमा की पहली रेखा के समान परिपक्व विम्बफल की शोभा को धारण करने वाले मुख की पहली रेखा मन मे सुख का अभिषिञ्च करती है।

"अक्लिष्ट विम्बशोभाधरस्य नयनोत्सवस्य शशिन इव ।
दयितामुखस्य सुखयति रेखापि प्रथमदृष्टेयम् ।"[3]

एकान्तत सुख अथवा केवल दु.ख किसी को प्राप्त नही हो सकता । चक्र की नेमि की तरह भाग्य दशा कभी उन्नति प्रदान करती है तो कभी अवनति के गर्त मे गिरा देतीहै—

"कस्यात्यन्त सुखमुपनत दु.खमेकान्ततो वा ।
नीचैर्गच्छत्युपरि च द शा चक्रनेमि क्रमेण ।"[4]

---

१. चारुदत्त—१, ३. तथा मृच्छकटिक—१, १०, तुलनीय—विक्रमोर्वशीय—३, २१
२. उत्तर रामचरित—२, १६,
३. नागानन्द—२, ८.
४. मेघदूत—२, ४६.

स्वस्थ रहना, कर्जदार न होना, परदेश का वास न होना, भले लोगो का साथ, अपने भरोसे जीवन का निर्वाह, एव निर्भय होकर रहना- ये सभी ससार मे सुख कहे जाते हैं—

आरोग्यमानृण्य मविप्रवास· सद्भिर्मनुष्यै सह सम्प्रयोगः ।
स्व प्रत्ययावृत्तिरभीतवास षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ।"[1]

विदुर के अनुसार वह व्यक्ति सदा सुखी रहता है, जो व्यर्थ घर से दूर निवास, पापियो से मेल, परादाराभिगमन, पाखण्ड, चौर्य, पिशुनता, तथा मदिरा पान नहीं करता—

"अनर्थकं विप्रवास गृहेभ्य पापै· सन्धि परदाराभिमर्शम् ।
दम्भ स्तैन्य पैशुन मद्यपान न सेवते यश्च सुखी सदैव ।"[2]

दु ख

दु ख ही सुख की परिणति है। सग्रह का अन्त नाश है, उन्नति का परिणाम पतन, सयोग वियोग मे परिणत होता है तथा जीवन का अन्त मृत्यु है ।

"सर्वे क्षयान्ता निचया पतनान्ता समुच्छ्रया· ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ।"[3]

ईर्ष्या करने वाला, घृणाशील, असन्तुष्ट रहने वाला, क्रोध करने वाला, सदा शङ्कितरहने वाला तथा दूसरे के भाग्य पर निर्वाह करने वाला सदैव दु ख का भागी होता है।

"ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्ट क्रोधनो नित्य शकित:
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदु खिता ।"[4]

---

१. महाभारत—उद्योग पर्व, ३३, ८६.

२. वही—३३. १०८.

३. रामायण—अयोध्याकाण्ड. १०५, १६ तथा महाभारत—शान्ति पर्व, २७, ३१.

४. महाभारत—उद्योग पर्व, ३३, ६०

अप्रिय व्यक्तियो का समागम, प्रिय व्यक्तियो का वियोग एव असत्पुरुषो का सहवास सदैव दु:खप्रद कहे जाते हैं—

"अप्रियैः सह सवास प्रियैश्चापि विनाभव' ।
असम्द्भि: सम्प्रयोगश्च तद् दु ख चिरजीविनाम् ।"[1]

पुत्र, स्त्री, बन्धु एव मित्रों का विनाश एव पराधीनता से अधिक कोई दु ख नही होता—

"पुत्र दार विनाशोऽत्र ज्ञातीना सुहृदामपि ।
परेष्वायत्तता कृच्छ्र किन्नु दु खतर तत' ।"[2]

ससार यात्रा मे अश्रु विमोचन के द्वारा मनुष्य बान्धवो के ऋण से मुक्त हो जाता है तथा काल के बीतने पर उस दु ख को वह भूलता चला जाता है—

"दु ख त्युक्तु वद्धमूलोऽनुराग: स्मृत्वा स्मृत्वा याति दु:ख नवत्वम् ।
यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह वाष्प प्राप्तानृण्या यातिबुद्धि' प्रसादम् ।"[3]

वियोग जन्य दु ख पहाड के समान भारी एव असह्य प्रतीत होता है । दूसरे व्यक्तियो मे विभक्त कर देने पर वह दु.ख अधिक दु ख प्रद न होकर सह्य हो जाता है ।

"आवेदय ममात्मीयं पुत्र दु ख सुदु सहम् ।
मयि सक्रान्तमेतत्ते येन सह्य भविष्यति ।"[3]

सुख एव सयोग की अवस्था मे जो वस्तु आनन्ददायक प्रतीत होती है वही दु ख अथवा वियोग की दशा मे घाव पर नमक छिडकने के समान हो जाती है ।

---

१ महाभारत—उद्योगपर्व, ३३ २८,—२९.

१. महाभारत—वनपर्व १९३, १८.

३. स्वप्न वासवदत्त—४, ६.

४ नागानन्द—५, १०

"य एष मे जनः पूर्वमासीन्मूर्तो महोत्सव॰।
क्षते क्षारमिवासह्य जात तस्यैव दर्शनम् ।"[1]

कुटुम्बियो के वध जन्य दु:ख का आवेग अत्यन्त असह्य होता है। दु॰ख की अवस्थिति अन्त करण मे होती है पर जब अपमान की ज्वाला से अन्त॰करण ही भस्म हो गया तो द ुख अथवा सुख की प्रतीति ही सम्भवनही—

"प्रत्यक्ष हतबन्धूनामेतत्परिभवाग्निना ।
हृदय दह्यते ऽ त्यर्थं कुतो द ुख कुतो व्यथा ।"[2]

परन्तु भारतीय आदर्श तो यह रहा है कि समस्त ससार का कल्याण हो, सारे प्राणी दूसरो के हित मे सदा सलग्न रहे, काम क्रोध आदि समस्त दोष समूह नष्ट हो तथा सभी व्यक्ति सुखपूर्वक रहे।

"शिवमस्तु सर्व जगता परहितनिरता भवन्तु भूत गणा॰।
दोषा प्रयान्तु नाश सर्वत्र सुखी भवतु लोक ।"[3]

कर्त्तव्य

कर्तव्य परायण व्यक्ति सुख और द ुख से विचलित नही होते। सामाजिक प्राणी होने कारण मानव का कुछ कर्तव्य अवश्य होता है। सामाजिक बन्धन का आधार यही आदान प्रदान है। प्राण परित्याग करके भी मनुष्य को अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। कर्तव्य मे व्यापृत होने पर कर्तव्य के समक्ष अन्य सम्बन्ध सभी गौण हो जाते हैं।

"जानामि चारुदत वसन्तसेना च सुष्ठु जानामि ।
प्राप्ते च राजकार्ये पितरमप्यह न जानामि ।"[4]

कर्तव्य परायण मित्र के प्रति कर्तव्यनिष्ठ होना मानव मात्र का प्रमुख कर्तव्य है।

---

१. उत्तर राम चरित—४, ७.
२. वेणी सहार—४, ११.
३. नागानन्द—५, ४१.
४. मृच्छ कटिक—६, १५.

मामुद्दिश्य त्यजत्प्राणान् केनचिन्न निवारित: ।
तत्कृते त्यजते वाष्प किं मे दीनस्य वार्यते ।"[1]

कर्तव्य के समक्ष पाणि-ग्रहण की, पिता माता की, अग्नि की एव जीवन सर्वस्व की भी अपेक्षा नही की जाती । राम ने प्रजा-पालन के निमित्त माता, श्वशुर, पत्नी के पातिव्रत्य एव गर्भस्थित सन्तति की भी उपेक्षा की—

"न प्रमाणीकृत. पाणि: बाल्ये बालेन पीडित, ।
नाह न जनको नाग्निर्न तु वृत्ति र्न सन्तति ।[2]

राजा के कर्तव्य का प्रतिपादन स्वय नायक के मुख से करवा कर श्रीहर्ष ने कर्तव्य निष्ठा की ओर सकेत किया है । प्रजा वर्ग को न्याय के अनुकूल मार्ग पर लगाना, सत्पुरुषो को सुखपूर्वक स्थापित करना, बन्धुजनो को उन्नत कर अपने समकक्ष बनाना, राज्य की पूर्णत रक्षा की व्यवस्था करना तथा मनोरथ से भी अधिक फल देने वाले कल्प वृक्ष कोभी याचको को दे डालना आदि ही राजा के उत्कृष्ट कर्तव्य माने जा सकते हैं—

"न्याय्ये वर्त्मनि योजिता प्रकृतय. सन्त सुख स्थापिता. ।
नीतो बन्धुजनस्तथात्मसमतां राज्ये च रक्षा कृता ।
दत्तो दत्तमनोरथाधिकफल कल्पद्रुमो ऽ प्यर्थिने ।
कि कर्तव्यमत' पर कथय वा यत्ते स्थित चेतसि ।"[3]

प्राणि हिंसा से अनुतप्त गरुड को दिया गया कर्तव्य का उपदेश आदर्श रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है । प्राणि हिंसा के पाप से मुक्त होने का इससे उत्तम कौन सा प्रकार हो सकता है । भविष्य मे स्वय को प्राणि मात्र की हिंसा से विरत करना, पहले किये हुए कार्यों के लिए अनुताप करना, समस्त प्राणि वर्ग को अभय दान देकर यत्न से पुण्य का सचय करना आदि पाप के नाशक एव पुण्य प्रवाह के सर्जन करने वाले माने जा सकते हैं ।

---

१. वेणी सहार—५, १७.

२. उत्तर रामचरित—७, ५.

३. नागानन्द—१, ८.

'नित्य प्राणाभिघाता त्प्रति विरम कुरु प्राक्कृते चानुताप,
यत्नात्पुण्यप्रवाह ममुपचिनु दिशन् सर्व सत्त्वेष्वभीतिम् ।
मग्न येनात्र नैन फलति परिमित प्राणिहिंसात्तमेतत् ।
दुर्गाधापारवारे लवणपलमिव क्षिप्तमन्त ह्रदस्य ।"[1]
पुण्य के प्रवाह मे निमग्न पाप एव अकार्य अपना अस्तित्व खो देता है ।

कर्तव्य एव अकर्तव्य के अन्तर्द्वन्द्व को भट्ट नारायण ने अत्यन्त चारुता से व्यक्त किया है । मित्र के द्वारा किये हुए उपकार को भूलकर तपोवन मे जाना भी उचित प्रतीत नही होता क्योकि उससे वैर भाव से युक्त मन शान्त नही होगा, जीवन त्यागकर स्वामी का अनुसरण करना भी अनुचित है क्योकि शत्रु वध किये बिना आत्म हत्या तो स्त्रियो का आधार है, अत सर्व प्रथम कृतज्ञता का अनुस्मरण करते हुए मित्र की मुक्ति कराना ही प्रमुख कर्तव्य है ।

"किं गच्छामि तपोवन न तपसा शाम्येत्सवैरं मन ।
किं भर्तृननुयामि जीवति रिपौ स्त्रीणामियं योग्यता ।
किं वा खड्गसख पताम्परिकुले नैतच्च युक्त भवेत् ।
चेतश्चन्दन दास मोक्षरमस रुन्ध्या त्कृतघ्नन्न चेत् ।"[2]

कर्तव्य पालन मे गुरु लघु का ध्यान अवश्य रखना चाहिये । समस्त कुल का पालन करना मनुष्य का कर्तव्य है । एक की रक्षा के लिए अनेको को मृत्यु मुख मे फेंक देना उचित नही । एक प्राणी की रक्षा के लिए अपने प्राण देकर स्वय को, माता पित ।को एव नव विवाहिता सहचरी को, परिणामत. समस्त कुल को नष्ट करना समुचित कर्तव्य नही । कर्तव्य पालन प्रत्येक व्यक्ति के प्रति समान रूप से होना चाहिये-

"आत्मीय पर इत्यय खलु कुत, सत्य कृपाया. क्रमः ।
किं रक्षामि बहून् किमेकमिति ते जाता न चिन्ता कथम् ।
तार्क्ष्याद् त्रातुमहि स्वजीवित परित्याग त्वया कुर्वता ।
येनात्मा पितरो वधूरिति हत नि.शेषमेतत्कुलम् ।"[3]

---

१. नागानन्द—५, २५.
२. मुद्राराक्षस—५, २५.
३. नागानन्द—५, २१.

कर्तव्य पालन न करने पर महान् पश्चात्ताप का अनुभव करना पडता है। उसी मनुष्य का जीवन सफल है, जो यश का अर्जन करता है और स्वामी की आज्ञा का पालन करता है–

"नाहित्राणात् कीर्तिरेका मयाप्ता,
नापि श्लाघ्या स्वामिनो ऽ नुष्ठिताज्ञा ।
दत्वात्मान रक्षितो ऽ न्येन शोच्यो,
हा धिक् कष्टं वञ्चितो वञ्चितो ऽ स्मि ।"[1]

भृत्य

स्वामी की आज्ञा को श्लाघनीय एव अवश्य पालनीय माना जाता है। स्वामी का सेवक के शरीर पर अधिकार होता है, परन्तु उसके चरित्र पर नही ।[2] वेतन भोगी होने के कारण सेवा करना उसका परम धर्म होता है। दास होना कष्ट कर नही होता, परन्तु दु ख इससे होता है कि दास भाव के कारण भृत्य विश्वास का पात्र भी नही रहता। क्रीत-दास का समाज मे कोई सम्मान नही होता—

"हन्त ईदृशो दासभाव यत्सत्य कमपि न प्रत्याययति ।"[3]

पूर्वजन्म के पापकृत्यो के कारण ही मनुष्य को दासता स्वीकार करनी पडती है। भाग्य दोष ही मनुष्य को सेवा वृत्ति के लिए बाध्य करते है। पाप का चयन कभी भी अपेक्षित नही होता—

"येनास्मि गर्भदासो विनिर्मितो भागधेयदोषैः ।
अधिक न क्रीणिष्यामि तेनाकार्यं परिहरामि ।"[4]

कुछ सेवक समृद्धि काल मे ही स्वामी सेवा करते हैं, परन्तु सच्चे सेवक वे ही हैं, जो निस्स्वार्थ भावना से स्वामी के हित-सम्पादन के हेतु प्राण पण से चेष्टा करते हैं।

---

१. नागानन्द—५, ८.
२. "प्रभवति भट्टकः शरीरस्य न पुनश्चारित्र्यस्य"—मृच्छकटिक—८ अ क ।
३. मृच्छकटिक—८ अ क ।
४. वही—८, २५.

राज्यारूढ स्वामी की सेवा धन के कारण की जाती हैं, विपत्ति की दशा मे स्वामी का साथ देने वाले उसके पुन प्रतिष्ठित होने की आशा मे उसकी सेवा करते हैं परन्तु जो स्वामी के नष्ट होने पर भी पूर्व-कृत उपकारो का स्मरण कर निस्स्वार्थ भक्ति से कार्यसिद्धि मे सलग्न रहते हैं, वे पुरुष श्रेष्ठ समझे जाते हैं।

"ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमय लोकोऽर्थत: सेवते।
ते गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाशया।
भर्तुर्ये विलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन नि सङ्गया।
भक्त्या कार्यधुरं वहन्ति वहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशा:।'"[1]

सूर्य के उदयगिरि से उदित होने पर उपवन के वृक्ष उसके प्रति अनुराग प्रगट करते हैं, उसी के अस्ताचल चूडावलम्बी होने पर वे वृक्ष उससे पराङ्मुख हो जाते हैं। प्राय: स्वामी के गतवैभव होने पर सेवक वर्ग उसका परित्याग कर देते हैं—

"आविर्भूतानुरागा क्षणमुदयगिरेरुज्जिहानस्य भानो.।
पर्णच्छायै, पुरस्तादुपवनतरवो दूरमाश्वे व गत्वा।
एते तस्मिन्निवृत्ता. पुनरपरगिरिप्रान्तपर्यस्तबिम्बे।
प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभव स्वामिन सेवमाना।"[2]

धन के लोभ से स्वामी का प्रवञ्चन करना भृत्य का महान् दूषण मानाजाता है कुलीनता, लज्जा, यश तया मान का परित्याग कर धनवान् को अपना शरीर बेचकर उसकी आज्ञा का पालन करता हुआ पराधीन सेवक हित एव अहित का विचार कदापि नही कर सकता—

"कुले लज्जायाञ्च स्वयशसि माने च विमुख:।
शरीर विक्रीय क्षणमपि लोभाद्धनवति।
तदाज्ञा कुर्वाणो हितमहितमित्येतदधुना।
विचारातिक्रान्त. किमपि परतन्त्रो विमृशति।"[3]

---

१ मुद्राराक्षस—१, १३
२. वही—४, २१.
३. वही—५, ४.

बुद्धिशीलता, पराक्रम, एव स्वामि भक्ति सेवक के उत्कृष्ट गुण माने जाते हैं। भक्ति युक्त परन्तु बुद्धि एव साहस से शून्य सेवक से कोई प्रयोजन नही, बुद्धि एव साहस से ओत प्रोत परन्तु भक्ति हीन सेवक भी अर्थ सिद्धि मे सफल नही हो सकता। जिन भृत्यो मे बुद्धि, पराक्रम एव भक्ति तीनो गुण विद्यमान रहते हैं, वे ही स्वामी के समृद्धि एव विपत्ति काल मे श्रेष्ठ सेवक हैं शेष सेवक तो स्त्री के समान पालनीय एव पोषणीय मात्र हैं—

"अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन क ।
प्रज्ञाविक्रमशालिनोपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात्फलम् ।
प्रज्ञाविक्रमभक्तय समुदिता येषा गुणा भूतये ।
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च ।"[1]

विशाखदत्त ने स्वामी के नष्ट होने पर भी उसके प्रति अनन्य भक्ति से ओत-प्रोत भृत्य को विश्व के स्वामिभक्तो मे सर्वश्रेष्ठ एव श्लाघनीय पद प्रदान किया है—

"अ.नीणभक्ति क्षीणेऽपिनन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन् ।
पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रामाणे परमे स्थित ।"[2]

विद्वान् पुरुष सेवा वृत्ति को लघुता प्रदान करने वाली "श्ववृत्ति" कहते हैं यह यथार्थ है। सेवक को कुत्ते के समान उदर पूर्ती के हेतु ऊँचा मुख किये स्वामी की ओर देखना एव उससे याचना करना पडता है। राजा से, मन्त्रियो से, राजा के प्रिय व्यक्तियो से तथा राज भवन मे रहने वाले कृपापात्र विटो से भी सेवक को भयभीत रहना पडता है—

"भेतव्य नृपतेस्नत सचिवनो राज्ञस्ततो वल्लभात् ।
अन्येभ्यश्च वसन्ति येऽस्य भवने लब्धप्रसादा विटा ।
दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनै पिण्डार्थमायास्यत ।"
सेवां लाघवकारिणी कृतधिय स्थाने श्ववृत्तिं विदु. ।"[3]

दारिद्रय

---

१. मुद्राराक्षस—१, १४.

२. वही—?, २३.

३ मुद्राराक्षस—३, १४.

दरिद्रता सेवा वृत्ति का कारण है। धन का नितराम् अभाव दरिद्रता कहा जाता है। अभिशाप भूत यह दरिद्रता मानव का आदर सम्मान सब कुछ नष्ट कर देती है। दरिद्रता लज्जा की जननी है, यत्र तत्र उपहास के कारण सर्वथा लज्जा का आवरण ओढना पडता है, लज्जित होते रहने से आत्मा का तेज धीरे धीरे क्षीण होने लगता है। तेज रहित व्यक्ति का तिरस्कार स्वाभाविक है, परिभव निर्वेद का कारण होता है। परिणामत: सभी आपत्तियो का कारण निर्धनता ही है—

"दारिद्रयाद्ध्रियमति ह्री परिगत प्रभ्रश्यते तेजस: ।
निस्तेजा: परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।
निर्विण्ण: शुचमेति शोकपिहितो बुध्या परित्यज्यते ।
निर्बुद्धि क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम् ।"[1]

धन हीनता एक महापातक माना गया है। कोई भी व्यक्ति दरिद्र का सहयोग नही करता, कोई भी उसमे समुचित आदर से वार्तालाप नही करता, उत्सव के अवसर पर समृद्धिशाली व्यक्तियो के घर जाने पर वह तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है एव वस्त्र-हीन होने से लज्जा के कारण वह सम्पन्न व्यक्तियो के समक्ष भी नही जा पाता—

"सङ्ग नैव हि कश्चिदस्य कुरुते सम्भाषते नादरात् ।
सम्प्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिना मावज्ञमालोक्यते ।
दूरादेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया ।
मन्ये निर्धनता प्रकाममपर षष्ठ महापातकम् ।"[2]

धन के मद से मनुष्य मानवता को खो बैठता है। दरिद्रता के कारण बन्धुगण भी धनहीन व्यक्ति का परामर्श स्वीकार नही करते। अत्यन्त स्नेह शील मित्रवर्ग भी विमुख हो जाते हैं, आपत्तियाँ निरन्तर बढती रहती हैं, बल क्षीण हो जाता हैं और शील का भी ह्रास होने लगता है। दूसरो के द्वारा किये गये दुष्कार्य भी उसी के द्वारा किये समझे जाते हैं—

१. मृच्छकटिक—१, १४.

२. वही—१, ३७.

"दारिद्रयात्पुरुषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठिते ।
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृद स्फारीभवन्त्यापदः ।
सत्वं ह्रासमुपैति शीलशशिन कान्ति, परिम्लायते ।
पाप कर्म यत्परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते ।"

दरिद्रता एव मृत्यु इन दोनो मे से मृत्यु अधिक सुखकर, रुचिकर एव श्रेयस्कर कही गयी है। मृत्यु से मनुष्य को थोडे कष्ट का अनुभव करना पडता है किन्तु दरिद्रता के कारण मानव आजीवन अत्यन्त दु ख का भागी होता है।

"दारिद्रयान्मरणाद्वापि मरण मम रोचते न दारिद्रचम् ।
अल्पक्लेश मरण दारिद्र्यमनन्तक दु खम् ।"[2]

दरिद्र पुरुष शून्य आवासो एव पत्रो से भरे हुए जलहीन कूए के समान कहे जाते है, जो अपने मित्रो से मिलकर भी अपनी प्रसन्नता के प्रगट करने के समय को भी सफल नही बना सकते—

"शून्यैर्गृहै खलु समा पुरुषा दरिद्रा,
कूपैश्च तोयरहितैस्तरुभिश्च शीर्णै ।
यद्दृष्टपूर्वसङ्गम विस्मृतानां,
एव भवन्ति विफला: परितोषकाला: ।'[४]

दरिद्रता के परिणाम अत्यन्त भयङ्कर होते हैं। वह चिन्ता का घर है; रतिस्कार का कारण है, मित्रवर्ग से घृणा एव बन्धुवर्ग से वह द्वेष प्राप्त करता है; संसार से विरक्त होकर वन गमन की इच्छा होने लगती है, स्त्री भी तिरस्कार करती है, एव हृदय मे शोक की अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, जो न जलाती ही है पर निरन्तर सन्ताप देती रहती है—

"निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपर,
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजन विद्वेषकरणम् ।

१, मृच्छकटिक—१, ३६.
२. वही—१, ११.
३. वही—५, ४२.

वन गन्तु बुद्धिर्भवति च कलत्रात्परिभवो,
हृदिस्थ· शोकाग्निर्न दहति सन्तापयति च ।"[1]

धन-नाश चिन्ता का कारण हो, ऐसा नही, धन तो भाग्य क्रम से आने जाने वाले रहते हैं। किन्तु खेद का कारण तो यह है कि धन के नष्ट होने पर मनुष्य उसके प्रति सौहार्द से भी विमुख हो जाते हैं—

"सत्य न विभवनाशकृतास्ति चिन्ता,
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
एतातु मा दहति नष्ट धनाश्रयस्य,
यत्सौहृदादपि ज शिथिलीभवन्ति ।"[2]

दरिद्र की दशा विषहीन सर्प के समान निर्बल हो जाती है। बिना पाँखो के पक्षी, बिना हरे भरे पत्तो के वृक्ष, बिना जल के सरोवर एव बिना विष के सर्प के समान दरिद्र व्यक्ति की शोचनीय अवस्था हो जाती है। गौरव एव सम्मान से निर्मुक्त वह अपना अस्तित्व ही खो बैठता है—

"पक्षविकलश्च पक्षी शुष्कश्च तरु: सरश्च जलहीनम्।
सर्पश्चोद्धृतदष्ट्रस्तुल्य लोके दरिद्रस्य ।"[3]

धन से वियुक्त पुरुष का ससार मे जीवित रहना निरर्थक कहा गया है। दरिद्र के प्रतिकार करने मे असमर्थ होने के कारण उसका क्रोध एव प्रसन्नता सदैव निष्फल रहते हैं—

"धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किञ्जीवितेनादित एव तावत्।
यस्य प्रतीकार निरर्थकत्वात्कोपप्रसादा विफलीभवन्ति ।"[4]

१, मृच्छकटिक—१, १५.

२. वही—१, १३.

३. वही—५, ४१.

चौर्य

धन हीन व्यक्ति मे सभी पापकृत्यो की सम्भावना की जाती है। परस्व का अपहरण एक महान् पातक है। चौर्य नीति का भास एव शूद्रक ने विशद विवेचन किया है। चौर्य को एक कला के रूप मे माना गया है। चोरी करने वाले की प्रशसा की जाय यही तो उसके कला-नैपुण्य की उत्कृष्टता है—

"अन्यासु भित्तिषु मया निशि पाटितासु,
क्षारक्षतासु विषमासु च कल्पनासु।
दृष्ट्वा प्रभातसमये प्रतिवेशिवर्गो,
दोषांश्च मे वदति कर्मणि कौशलञ्च।"[1]

चौर्य कर्म को चाहे विद्वद्वर्ग नीच कर्म कहे परन्तु सुप्तावस्था में इसकी अभिवृद्धि होती है। स्वाधीन रहकर सेवा न करते हुए थोडी निन्दा प्राप्त करना भी श्रेयस्कर है। इसके कारण किसी के समक्ष हाथ बांध कर याचना नहीं करनी पडती—

"काम नीचमिद वदन्तु विबुधा. सुप्तेषु यद्वर्धते।
विश्वस्तेषु हि वञ्चना परिभव. शौर्य न कार्कश्यता।
स्वाधीनता वचनीयतापि तु वर बद्धो न सेवाञ्जलि.।
मार्गश्चैष नरेन्द्रसौप्तिकवधे पूर्वं कृतो द्रौणिना।"[2]

चौर्य कर्म की उत्कृष्टता इस ही मे है कि थोडा परिश्रम करके ही विशेष लाभ प्राप्त किया जा सके। चौर्य कर्म की सुगमता एव सरलता की दृष्टि से कुछ सिद्धान्तो का अनुसरण करने से असफलता का सामना कभी नहीं करना पडता। निरन्तर पानी गिरने से कौन सी भित्ति क्षीण हो गयी है, जिसे तोडने मे शब्द न हो, भित्ति मे क्षार लग जाने से किस स्थान पर ईंटे कमजोर पड गयी हैं और कहाँ घर का भाग पुराना पड गया है आदि का सम्यक् ज्ञान चौर्य कर्म के लिए नितान्त अपेक्षित है—

---

१. मृच्छकटिक—३, १७.

२. चारुदत्त—३, ६.

"देशः को नु जलावसेकशिथिलश्छेदादशब्दो भवेत् ।
भित्तीना क्व नु दर्शितान्तरसुख. सन्धि करालो भवेत् ।
क्षार क्षीणतया च लोष्टककृश हर्म्यं क्व जीर्णं भवेत् ।
कुत्र स्त्रीजनदर्शन च न भवेत् स्वन्तश्च यत्नो भवेत् ।"[1]

गति मे बिल्ली के समान, भागने मे भेडिये के समान, घर के निरीक्षण मे बाज के समान, सोये हुए मनुष्य के पराक्रम को तोलने मे निद्रा के समान, रेंगने मे साँप के समान, शरीर के विविध रूप बनाने मे मायारूप, विभिन्न देश भाषाओ का ज्ञान प्राप्त करने मे सरस्वती के समान रात्रि मे दीपक के समान, सकट मे अन्धकार के समान, पृथ्वी पर वायु के समान और जल मे नाव के समान आचरण करने वाला चौर्य कर्म मे कभी असफल नही होता । चोर के विविध गुणो का परिगणन शूद्रक की विशेषता है—

"मार्जार प्लवने वृकोऽपसरणे श्येनो गृहालोचने ।
निद्रा सुप्तमनुष्यवीर्यतुलने ससर्पणे पन्नगः ।
मायावर्णं शरीर भेद करणे वाग् देश भाषान्तरे ।
दीपो रात्रिषु सङ्कटे च तिमिर वायु. स्थले नौ ले ।"[2]

सन्धि रचना चौर्यकर्म का प्रमुख आधार है । चौर्यकला-नेपुण्य इसी मे है कि सप के कचुक के समान अपने शरीर के आकार के अत्यन्त अनुरूप सन्धि का निर्माण करे, जिसके द्वारा अपने शरीर को सन्धि भाग से रगडता हुआ वह प्रवेश कर सके—

"कृत्वा शरीरपरिणाहसुखप्रवेश
शिक्षाबलेन च बलेन च कर्ममार्गम् ।
गच्छामि भूमिपरिसर्पणघृष्टपार्श्वो
निर्मुच्यमान इवजीर्णतनुर्भुजङ्गः ।"[3]

---

१. चारुदत्त—३, ८.

२ वही—३, ११., तुलनीय—मृच्छकटिक—३, २३.

३. मृच्छकटिक—३, १२.

चौर्य शास्त्र मे योग-रचना को विशेष महत्त्व दिया गया है। उसका लेप करने पर राजपुरुष चोर को नही देख सकते एवं शरीर पर फेंका गया शस्त्र भी कष्ट प्रद नही होता—

"अनया हि समालब्ध न मा द्रक्ष्यन्ति रक्षिण।
शस्त्रञ्च पतित गात्रे रुज नोत्पादयिष्यति।"[1]

सोये हुए व्यक्ति के सम्यक् परिज्ञान के बिना चोर अपने कार्य मे सफल नही हो सकता। सोये हुए व्यक्ति का श्वास प्रश्वास नि शङ्क एव स्पष्ट रूप मे यथाक्रम आता हो, नेत्र पूर्णतया निमीलित हो तथा मध्य मे चञ्चलता भी न हो। शरीर के जोड जोड से शिथिल शरीर शय्या की माप से भी अधिक फैला हुआ हो, तथा जो सामने दीपक को भी सहन करले, यह व्यक्ति गाढ निद्रा मे सोया हुआ होता है—

"नि श्वासोऽस्य न शङ्कित सुविशदस्तुल्यान्तर वर्तते।
दृष्टिर्गाढनिमीलिता न विकला नाभ्यन्तरे चञ्चला।
गात्र स्रस्तशरीरसन्धिशिथिल शय्याप्रमाणाधिक।
दीपञ्चापि न मर्षयेदभिमुख स्यालक्ष्यसुप्त यदि।"[2]

चोरी के माल का एक भाग भी यदि किसी व्यक्ति के पास उपलब्ध हो जाता है, तो उसे ही चोर समझा जाता है—

"हस प्रयच्छ मे कान्ता गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देय यदभियुज्यते।"[3]

चौर्य शास्त्र के आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित कुछ नियम होते हैं, जिनका अनुपालन चौर्य के आदर्श को प्रतिष्ठित करता है। इस अकार्य में भी नैतिकता का बन्धन चोरो को अकार्य से रोकता है। पुष्पित लता के समान आभूषणों से अलङ्कृत नारी के आभूषणो का अपहरण नही करना चाहिये। ब्राह्मण का धन एव यज्ञ के लिए निकाला

---

१ मृच्छकटिक—३, १८
२. वही—३, २१.
३ विक्रमोर्वशीय—४, १७.

हुआ स्वर्ण भी नही लेना चाहिये। धन पाने की इच्छा से धात्री के उत्सङ्ग मे खेलते हुए बालक को लेकर उसके आभूषण आदि नही ग्रहण करने चाहिये, इस प्रकार इन नियमो का पालन करते हुए चौर्य कर्म रत होने पर भी कर्तव्य एव अकर्तव्य की विवेचन शक्ति के द्वारा चोर अकार्य से दूर रह सकता —

"नो मुष्णाम्यबलां विभूषणवती फुल्लामिवाह् लताम्।
विप्रस्व न हरामि काञ्चनमथो यज्ञार्थमभ्युद्दतम्।
धात्र्युत्सङ्गगत हरामि न तथा बाल धनार्थी क्वचित्।
कार्याकार्यविचारिणी मम मतिश्चौर्येऽपि नित्यं स्थिता।"[1]

यश

नैतिकता का आश्रय लेकर चोरी करने वाले चोर की यशो दुन्दुभि सर्वत्र प्रसारित होती हैं। मनुष्य को मृत्यु से उतना भय नही, जितना कि अपयश स होने वाली मृत्यु से है। अपयश से मुक्त होने पर यदि मृत्यु का आलिङ्गन करना पडे तो वह मृत्यु कष्टदायिनी नही होती प्रत्युत उससे पुत्र जन्म का सुख मिल सकता है।

न भीतो मरणादस्मि केवल दूषित यश:।
विशुद्धस्य हि मे-मृत्यु: पुत्रजन्म समोभवेत्।"[2]

विद्वानो की धारणा है कि रणस्थल मे मृत्यु को प्राप्त करने से स्वर्ग की उपलब्धि होती है, विजय को प्राप्त करने से यश की प्राप्ति होती है। ये दोनो ही ससार मे श्लाघनीय एव अनुकरणीय माने जाते है। अत· युद्ध कभी निष्फल नही होता—

"हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वा तु लभते यश:।
उभ बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे।"[3]

---

१. मृच्छकटिक—४, ६.

२. वही—१०, २७.

३. कर्णभार—१, १२; द्रष्टव्य—महाभारत—भीष्मपर्व, २६, ३७.

जिम प्रकार रणभूमि मे युद्ध करते हुए विजय प्राप्त करने से यशः पताका अविच्छिन्न रूप से प्रवाह शील होती रहती हैं उसी प्रकार युद्धभूमि से पराङ्मुख होकर भागना भी यश को मलिन करता है। यदि रण के अतिरिक्त मृत्यु का कही भी भय नही हो तो युद्ध छोडकर भागना भी उचित है। परन्तु जब प्राणिमात्र को मृत्यु अवश्यम्भाविनी है तो व्यर्थ ही कीर्ति को कलङ्कित करना अहितकर है—

"यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो—
र्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथमरणमवश्यमेव जन्तोः,
किमिति मुधा मलिन यशःकुरुध्वे।"[1]

शरणागत की रक्षा करके यश का अर्जन करना भारतीय जनता की परम्परा रही है। राजा शिवि इसका ज्वलन्त उदाहरण है—

"शिवेरिव समुद्भूत शरणागतरक्षया।
निचीयते त्वया साधो यशोऽपि सुहृदा विना।"[2]

रणाङ्गण मे विजयेच्छु वीरप्रवरो को अपने अपूर्व साहस एवं पराक्रम के कारण यश की प्राप्ति अनायास ही हो जाती है। जिन वीरों को यश अभीष्ट हो वे मृत्यु का भय त्यागकर एव एकचित्त होकर शत्रु सेना पर प्रहार करते हैं तथा अपनी एव प्राणो की चिन्ता छोडकर युद्धभूमि मे पदार्पण करते हैं—

"प्राकार परितः शराशनधरैः क्षिप्र परिक्रम्यताम्।
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
त्यक्त्वा मृत्युभय प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले।
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्ट यश.।"[3]

---

१ वेणीसहार—३, ६.

२. मुद्राराक्षस—६, १८., तुलनीय—वही—७, ५.

३. वही—२, १४.

यश के कारण ही मनुष्य लक्ष्मी का आश्रय बन सकता है। जब तक उसका यश अविचल एव अविच्छिन्न रहता है तब तक धन धान्य समृद्धि एव शोभा उसका आश्रय नही छोडती।

"तावदाश्रीयते लक्ष्म्या यावदस्य स्थिर यश ।
पुरुषस्तावदेवासौ यावन्मानान्न हीयते ।"[1]

यशोधन का यश उसके शरीर एव इन्द्रियो से भी बढकर माना गया है। यशस्वी लोग किसी अन्य प्रकार से दूर न होने वाली अपकीर्ति को अपना सर्वस्व देकर भी दूर करना चाहते है।

"निश्चित्य चानन्यनिवृत्तिवाच्य त्यागेन पत्न्या. परिमाष्टुं मैच्छत् ।
अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि यशो गरीय. ।"[2]

शील

यश का मूल आधार चरित्र की उज्ज्वलता है। व्यवहार, समाज एव लोकनीति मे शील का अति विशिष्ट स्थान माना गया है। मूलत: शील का अर्थ आचरण एव व्यवहार तक ही सीमित था परन्तु क्रमश· यह सद् आचरण, सद् व्यवहार एव सत् प्रवृत्ति के लिए व्यवहृत होने लगा। "शील स्वभावे सद्वृत्ते" कहकर अमरकोष ने इस तथ्य को प्रमाणित किया हैं। "मनु" ने जिन धर्म के लक्षणो का उल्लेख किया है[3] उनमे शील को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। बौद्ध-धर्म-ग्रन्थो मे भी जिन शीलो की चर्चा की है वे सामान्य धर्म लक्षण के रूप मे सदाचरण के अन्तर्गत ही सर्वसामान्य के लिए ग्राह्य हो सकते हैं। नम्रता, सदाचार, मधुर-भाषिता, सरलता, आदि विविध गुण-गण-मण्डित आचरण को ही शील की सज्ञा दी जा सकती है, जिसके द्वारा व्यक्ति के प्रति समाज मे आदर एव श्रद्धा का भाव बढ जाता है।

कालिदास के अनुसार मृदुता अथवा कठोरता, बाल्य अथवा वार्धक्य अथवा किसी अन्य अवस्था विशेष के कारण किसी मनुष्य का समादर नही होता अपितु वृत्त की ही सदैव पूजा होती है। उसमे स्त्री अथवा पुरुष, जाति अथवा वश अपेक्षित नही होता। चरित्रबल ही महनीयता अथवा गौरव का कारण होता है।

---

१. किरातार्जुनीय—११, ६१.
२. रघुवंश—१४, ३५.
३. मनुस्मृति—२, १२ तथा वही ६, १२.

"तानगौरव भेदेन मुनीश्चापश्यदीश्वर ।
स्त्री पुमानित्यनास्थेषा वृत्तहि महित सताम् ।"[1]

चरित्र की रक्षा पूर्ण सावधानी के साथ करनी चाहिये, विशेषतः ब्राह्मण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। धन के नाश होने पर कुछ भी नष्ट नहीं होता पर चरित्र के नाश होने पर तो सर्वस्व नष्ट हो जाता है—

"वृत्त यत्नेन सरक्ष्य ब्राह्मणेन विशेषतः ।
अक्षीणवृतो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतोहत ।"[2]

चरित्रवान् पुरुष की प्रशसा सदा से होती आयी है। भारत मे यही नैतिकता का प्रमुख आधार रहा है। शील-सम्पन्न व्यक्ति ही श्लाघनीय एव प्रशसनीय होता है। जिस प्रकार अच्छे खेत मे भी कांटे के वृक्ष काटेदार ही रहते हैं उसी प्रकार मानव के चरित्र निर्माण पर अच्छे कुल का भी कोई विशेष प्रभाव नही पडता ।

"किं कुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम् ।
भवन्ति नितरा स्फीता सुक्षेत्रे कण्टकिद्रुमा ।"[3]

एक सूखे वृक्ष के कारण जिस प्रकार सारा फूलो एव फलो से लदा हुआ हरा भरा वन जलकर भस्म हो जाता है उसी प्रकार एक चरित्र-हीन व्यक्ति के कारण सारा कुल ही नष्ट हो जाता है—

"शुष्केणैकेन वृक्षेण वन पुष्पितपादपम् ।
कुल चारित्रहीनेन पुरुषेणैव दह्यते ।"[4]

महाकवि शूद्रक का विचार है कि आकृति चरित्र की दृष्टि से कभी वञ्चित नही करती। उन्नत नासिका एव विशाल नेत्रो वाला मुख तथा सुन्दर आकृति अपने समान चरित्र का परित्याग नही करत—

१. कुमार सम्भव—६, १२.
२. महाभारत—वनपर्व, ३१३, १०९.
३. मृच्छकटिक—८, २९.
२. पच रात्रम्—१, १२

"घोणोन्नत मुखमपाङ्ग विशालनेत्रम् ।
नैतद्धि भाजनमकारणदूषणानाम् ।
नागेषु गोषु तुरगेषु तथा नरेषु,
नह्याकृतिः सुसदृश विजहाति वृत्तम् ।"[1]

भारतीय परम्परा के अनुसार चरित्र बल पर विशेष अभिनिवेश रखा गया है। भिक्षा के द्वारा भी न्यास को लौटाना अथवा ऋण के रूप मे लिये गये धन को लौटाना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता है, इसके विपरीत असत्य बोलकर चरित्र को दूषित करना अत्यन्त गर्हणीय तथा असङ्ग है।

"भैक्ष्येणार्जयिष्यामि पुनर्न्यास प्रतिक्रियाम् ।
अनृतं नाभिधास्यामि चरित्रभ्रंशकारणम् ।"[2]

गुण

इसी प्रकार विविध गुणो के कारण मानव की यशः पताका प्रसरण शील होती रहती है। मानव मे निसर्गतः कुछ मूलभूत प्रवृत्तियाँ होती हैं। सत्प्रवृत्तियाँ मानव के अभ्युदय मे सहायता प्रदान करती हैं। सत् प्रवृत्तियो से आप्यायित पुरुष स्वतः ही 'स्व' एव 'पर' का भेद भाव छोडकर सृष्टि के हित के लिए अपना सर्वस्व समर्पण करने के हेतु प्रस्तुत रहता है। मनुष्य की ये प्रवृत्तियाँ ही गुण अन्तर्गत परिगणित की जाती है। यो तो गुण के अनेक अर्थ ह' परन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में गुण का व्यवहार उस अच्छाई के लिए किया जा रहा है, जिसके कारण कोई पदार्थ अथवा व्यक्ति औरो की अपेक्षा अच्छा माना जाता है। नीतिकारो के अनुसार गुणों के द्वारा संसार कोई वस्तु अप्राप्य नहीं है। विद्वद्वर्ग का यह मन्तव्य है कि गुणो के प्रकर्ष के कारण ही चन्द्रमा महादेव के मस्तक पर विराजमान रहता है—

"गुणेषु यत्नः पुरुषेण कार्यो न किञ्चिदप्राप्यतम गुणानाम् ।
गुणप्रकर्षादुडुपेन शम्भोरलङ्घ्यमुल्लङ्घित मुत्तमाङ्गम् ।"[3]

---

१. मृच्छकटिक—६, १६.
२. वही—२, २६.
३. वही—४, २२.

गुण की प्राप्ति के लिए मनुष्य को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये। गुणयुक्त दरिद्र पुरुष भी गुणहीन समृद्धिशाली व्यक्तियों से उत्कृष्ट माना जाता है—

"गुणेष्वेव हि कर्तव्यः प्रयत्नः पुरुषैः ;
गुणयुक्तो दरिद्रोऽपि नेश्वरैरगुणैः समः।"[1]

गुणयुक्त व्यक्ति के ही जीवन की सार्थकता है। अपने गुणरूपी फलों से विनम्र कल्पवृक्ष के समान दीनों का उद्धार करने वाला, सत्पुरुषों का बन्धु तुल्य, विद्वज्जनों का आदर्श रूप, सुन्दर चरित्र के निकष के समान, सत्कार करने वाला एवं किसी का अपमान न करने वाला तथा दया, दाक्षिण्य, उदारता आदि पुरुषोचित गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही श्लाघनीय है। शेष केवल जीते मात्र हैं—

"दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी।
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो।
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकं गुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये।"[2]

गुणवान् व्यक्ति चाहे शिशु हो चाहे वृद्ध, धनी हो चाहे निर्धन, उसके गुण ही पूजा के कारण होते हैं, स्त्रीत्व, पुंस्त्व, जटा अथवा कषाय वस्त्र आदि चिह्न विशेष एवं आयुविशेष उसका सम्मान नहीं बढ़ाते—

शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगताम्।
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु नच लिङ्गं न च वयः।"[3]

पुरुष के गुणों में सौन्दर्य, शालीनता, विद्वत्ता, पराक्रम, सहिष्णुता, विनयशीलता परोपकारिता, दानशीलता आदि का समावेश होता है—

"यद्विद्याधरराजवंशतिलकः प्राज्ञः सतां सम्मतो।
रूपेणाप्रतिमः पराक्रमधनो विद्वान् विनीतो युवा।

---

१ मृच्छकटिक—४, २२.
२. वही—१, ४८.
३. उत्तर रामचरित—४, ११.

यच्चासूनपि सन्त्यजेत्करुणया सत्त्वार्थमभ्युद्यत ।
तेनास्मै ददत स्वसारमतुला तुष्टिर्विषादश्च मे ।"[1]

मनुष्य की प्रतिष्ठा एव सम्मान उसके गुणो पर ही निर्भर रहता है। शास्त्रो मे शङ्कारहित ज्ञान एव स्वाभाविक गति, प्रगल्भता, गुणो के अभ्यास से सम्पन्न वाणी, कार्य के उचित समय का ज्ञान तथा उसका अनुसरण, प्रतिभा की नवीनता आदि गुणो से सम्पन्न पुरुष अपना मनोरथ पूर्ण करने मे समर्थ होता है—

"शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोध. प्रागल्म्यमभ्यस्तगुणा च वाणी ।
कालानुरोध प्रतिभा नवत्वमेते गुणा: कामदुधा: क्रियासु ।"[2]

अश्वघोष की धारणा है कि गुणहीनता का प्रतिपादन करने पर मनुष्य उस गुणहीन व्यक्ति से स्नेह करना बन्द कर देते है। निर्गुण व्यक्ति से प्रेम नही होता, एव स्नेह के अभाव मे उसके प्रति शोक का उदय भी नही होता —

"अपि नैर्गुण्यमस्माक वाच्य नरपतौ त्वया ।
नैर्गुण्यात्त्यजते स्नेह स्नेहत्यागान्न शोच्यते ।"[3]

गुणो को प्राप्त कर उनका त्याग कदापि नही करना चाहिये। गुण त्याग करने वाले व्यक्तिसे गुणहीन व्यक्ति को अच्छा कहा जाता है—

"वर कृतध्वस्तगुणादत्यन्तमगुण: पुमान् ।
प्रकृत्याह्यमणि· श्रेयान् नालङ्कारच्युतोपल ।[4]

बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रियदमन, अध्ययन, शूरता, मित भाषण, शक्ति के अनुसार दान देना तथा उपकार को मानना आदि गुण पुरुष की शोभा मे अभिवृद्धि करते है—

---

१. नागानन्द—२, १०.

२. मालतीमाधव—३, ११.

३. बुद्धचरित—६, २४.

४. किरातार्जुनीय—१५, १५.

"अष्टौ गुणा पुरुष दीपयन्ति प्रज्ञा च कौल्यञ्च दम' श्रुतञ्च ।
पराक्रमश्चावहुभाषिता च दान यथाशक्ति कृतज्ञता च ।"[1]

यथाशक्ति दान देने की महिमा का सस्कृत काव्यो मे पर्याप्त विवेचन किया गया है ।

दानशीलता

याचक को अपना धन ही नही अपितु जीवन भी तृण के समान देदेना भारतीय ोका आदर्श रहा है । दान सम्बन्धी विधि मे इसी कारण कुश के साथ जल देने का विधान है—

"अर्थिने तृणवद्धनमात्र किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्ध ।"[2]

मांगने पर याचक के समक्ष मौन धारण करना, अपशब्द कहकर उसका अनादर करना, अथवा असन्तोष प्रगट करना दानी के लिए कलङ्क के समान है । चन्द्रमा मे तो केवल शशक का चिह्न है कलङ्क नही—

"यापदृष्टिरपि या मुखमुद्रा याचमानमनुयाचनतुष्टि. ।
त्वादृगस्य सकल, सकलङ्कः शीतमासि शशक. परमङ्क ।[3]

दानशीलता की चरम अभिव्यक्ति के रूप मे कर्ण एव दधीचि के नाम चिरस्मरणीय रहे हैं । कर्ण ने अपने अभेद्य त्वचा एव कवच कुण्डलो तथा शिवि ने अपनी वज्रमय अस्थियो का दान देकर दान शीलता का आदर्श प्रतिष्ठित किया है—

"चर्म वर्म किल यस्य न भेद्य' यस्य वज्रमयस्थि न तो चेत
स्थायिनाविह कर्णदधीची तन्न धर्ममवधीरय धीर ।"[4]

---

१. महाभारत—उद्योगपर्व, ३३. ६६.
२. नैषधचरित—५, ८६.
३. वही—५, १२०.
४ नैषधचरित—५, १२६.

विना मांगे दयाविष्ट होकर दूसरे के हित के लिए जो अपने प्राणो का भी दान दे सकता है, वह राज्य के लिए प्राणियो की हिंसा करने की अनुमति कैसे दे सकता है—

"स्व शरीरमपि परार्थे य, खलु दद्यादयाचित' कृपया ।
राज्यस्य कृते स कथ प्राणिवधक्रौर्यमनुमन्ये ।"[1]

'मानव निसर्गत: दयालु कहा जाता है । दया का सञ्चार स्वत हृदय के अन्त-स्तल प्रादुर्भूत होना है ।

दयालुता

दया के पात्र व्यक्ति के करुण क्रन्दन एव विविध चेष्टाओ को देखकर दयाविष्ट होना सहज सिद्ध है । प्राचीन महामनीषियो ने दया को धर्म का मूलरूप स्वीकार किया है । विष्णु के समान समर्थ राजा दशरथ ने हरिण के शरीर को व्यवहित करके खडी हुई मृगी को देखकर दयार्द्र चित्त होने के कारण कान तक खैंचे हुए धनुष को उतार लिया—

"लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभाव:,
प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् ।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी,
बाण कृपाम दुमना: प्रति सडजहार ।"[2]

प्रिय पुत्र की होने वाली मृत्यु के कारण उत्तरोत्तर बढने वाली वृद्धामाता की विकलता को देखकर वज्र से कठोर व्यक्ति का हृदय भी दयार्द्र हो सकता है —

"अस्या: विलोक्य मन्ये पुत्र स्नेहेन विक्लवत्वमिदम् ।
अकरुण हृदय: करुणा कुर्वीत भुजङ्गशत्रुरपि ।"[3]

---

१. नागानन्द—३, १७.
२. रघुवश—९, ५७.
३. नागानन्द—४, १२.
४. नागानन्द—५, १६.

दया वीरता का यह चरम ग्रादर्श माना जा सकता है कि दया की प्रतिमूर्ति जीमूत वाहन प्राणान्तक कष्ट पाने पर भी ग्रपने धैर्य पर ग्रटल रहता है। इस चेष्टा से ग्राश्चर्य चकित होकर भक्षण से विरत होने वाले ग्रपने प्राणापहारक से वह भक्षण विरति का कारण पूछता है—

"शिरामुखै स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मासमस्ति ।
तृप्ति न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्व विरतो गरुत्मन् ।"[1]

निर्दयता की निन्दा सदैव की जाती है। दया की ग्रपेक्षा करने वाले व्यक्ति के प्रति कठोरता एव निर्ममता का भाव भारत मे चिरकाल से गर्हणीय एव घृणास्पद रहा है।

ग्रपने प्रिय पुत्र की रक्षा के लिए विविध प्रकार से विलाप कर ग्राँसू बहाती हुई, एव कातरता से ग्रपने चारो ग्रोर ग्रपने पुत्र के रक्षक को खोजती हुई विह्वल वृद्धा माता के ग्रङ्क मे बैठे हुए शिशु को खाने वाले निर्दय की दष्ट्रा ही नही प्रत्युत हृदय भी वज्र से बना हुग्रा प्रतीत होता है—

"मूढाया मुहुरश्रु सन्ततिमुच कृत्वा प्रलापान्बहून् ।
कस्त्राता तव पुत्रकेति कृपण दिक्षु क्षिपन्त्या दृशम् ।
ग्रङ्के मातुरवस्थित शिशुमिम त्यक्त्वा घृणामश्नत ।
यस्युर्नैव खगाधिपस्य हृदय वज्रेण मन्ये कृतम् ।"[2]

शरणागत रक्षण

दयाविष्ट होकर शरणागत व्यक्ति को जो शरण नही देता वह भी निन्दनीय होता है। भारतीय परम्परा के ग्रनुसार प्राण देकर भी शरणागत की रक्षा करना ग्रनुकरणीय कर्तव्य माना गया है। शरणागत को शरण न देने वाले व्यक्ति को जयलक्ष्मी छोड देती है, बन्धुगण एव मित्रवर्ग उसका परिहास करते हैं तथा वह सदा उपहास का पात्र बनता है—

---

१. नागानन्द—५, १६.
२. वही—४, ९.

"त्यजति किल त जयश्रीर्जहति च मित्राणि वन्धुवर्गश्च ।
भवति च सदोपहास्यो य खलु शरणागत त्यजति ।"[1]

शरणागत वात्सल्य का यही चरम आदर्श है कि वह शरण मे आये हुए व्यक्ति का त्याग करने की अपेक्षा प्राण का त्याग अधिक श्रेयस्कर समझता है—

"विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागत ।
अपि प्राणानह जह्या नतु त्वा शरणागतम् ।"[2]

विभीषण को शरण मे आया हुआ देखकर राम अपने शरणागत को अभय देने के सकल्प की घोषणा करते हैं—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभय सर्वभूतेभ्ये ददाम्येतद्व्रत ममग ।"[3]

अञ्जलि बाँधे दीनता के साथ शरण की याचना करते हुए शत्रु का भी वध नही करना चाहिये—

"बद्धाञ्जलिपुट दीन याचन्त शरणागतम्
न हन्यादानृशस्यार्थमपि शत्रु परन्तप ।
विनष्टः पश्यतो यस्यरक्षितुः शरणागत ।
आदाय सुकृत तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः ।"[4]

व्यास के अनुसार जो व्यक्ति डरे हुए एव शरण की अभिलाषा रखने वाले शत्रु को भीशरण नही देता उसके राज्य मे बीज बोने के समय बीज नही उगता, वर्षाकाल मे वहाँ वर्षा नही होती एव रक्षा की इच्छा करने पर उसे रक्षक भी नही मिलता ।

---

१. मृच्छकटिक—६, १८,

२. मृच्छकटिक—७, ६.

३. रामायण—युद्धकाण्ड, १८, ३३-३४.

४. वही—१८, २७—२८, ३०—३१.

"न तस्य बीज रोहति रोहकाले न तस्य वर्षं वर्षति वर्षकाले ।
भीत प्रपन्न प्रददाति शत्रवे न स त्रातार लभते त्राणमिच्छन् ।"[1]

शरणागत को अभय दान देने वाले व्यक्ति को उत्कृष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है। प्राण दान के समान कोई अन्य दान नही होता—

"अभयस्य हि यो दाता तस्यैव सुमहत् फलम्
न हि प्राणसम दान त्रिषु लोकेषु विद्यते ।"[2]

आपत्ति मे पडे हुए लोगो की रक्षा करना भारतीयो का सदा से संकल्प रहा है-

"अनुकारिणी पूर्वेषा युक्तरूपमिद त्वयि ।
आपन्नाभयसत्रेषु दीक्षिता. खलु पौरवा: ।"[3]

रक्षा शीलता

निराश्रित एव विपत्ति मे पडे हुए व्यक्ति को रक्षा करना मानव मात्र का परम धर्म है। ऐसे शरीर से कोई प्रयोजन नही जो बन्धुओ से त्यागे गये एव कण्ठगत प्राण वाले दु ख-ग्रस्त एव कातर व्यक्ति की रक्षा न कर सके।

"आर्तं कण्ठगतप्राणं परित्यक्त स्वबन्धुभि. ।
त्राये नैन यदि तत. क: शरीरेण मे गुण. ।"[4]

अपने आश्रित बन्धुओ की रक्षा करने को राजा के कर्तव्यो मे प्राथमिकता दी जाती है, परन्तु इसके विपरीत वह स्वय ही अपने आश्रित जनो को यदि शत्रु के पास भेज दे तो वह निन्दनीय एव नितान्त हेय माना जाता है—

---

१. महाभारत—उद्योग पर्व, १२, १६.

२. वही—शान्ति पर्व, ७३, २४.

३. अभिज्ञान शाकुन्तल—२, १६.

४. नागानन्द—४, ११.

"जिव्हासहस्रद्वितयस्य मध्ये नैकापि सा तास्य किमस्ति जिव्हा।
एकाहिरक्षार्थमहिद्विषेद्य दत्तो मयात्मेति यया ब्रवीति।[1]

व्यास की सम्मति मे सत्य से धर्म की, अभ्यास से विद्या की, शुचिता से सौन्दर्य की, सदाचार से कुल की, माप से अन्न की, फेरने से अश्व की, एव बार बार देखने से गाय की रक्षा होतीहै—

"सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्यायोगेन रक्ष्यते।
मृजया रक्ष्यते रूप कुल वृत्तेन रक्ष्यते।
मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रम।
अभीक्ष्ण दर्शन गाश्च स्त्रियो रक्ष्या. कुचैलत"[2]

क्षमा

रक्षा करने की भावना ही क्षमा शीलता को जन्म देती है। अपराधी को क्षमा करके उसे जीवन दान देना पुरुष का महाम् गुण माना गया है। गुणवानो का बल क्षमा होता हैं।

"तपोवल तापसाना ब्रह्म ब्रह्मविदां वलम्।
हिंसा वलमसाधूना क्षमा गुणवता बलम्।"[3]

क्षमा शील यतियो के लिए क्षमा सिद्धिकारिका होती है। इहलोक एवं परलोक, दोनो ही क्षमाशील व्यक्तियो के लिए ही हं।

क्षमा धर्म है, दान है, यज्ञ है, सत्य है, कीर्ति है, उत्कृष्ट पुण्य है, तीर्थ है और वही सर्वस्व है—

"क्षमाधर्म: क्षमा दानं क्षमा यज्ञ. क्षमा यश:।
क्षमा सत्य क्षमा शील क्षमा कीर्ति क्षमा परम्।

---

१. नागानन्द—४, ५.

२. महाभारत—उद्योगपर्व, ३४, ३९—४०.

३. वही—उद्योग पर्व—३९, ७०-७१.

क्षमा पुण्य क्षमा तीर्थं क्षमा सर्वमिति श्रुति· ।
क्षमावतामय लोक परश्चैव क्षमावताम् ।"[1]

सामान्य पुरुष कोई अपराध करके क्षमा याचना करता है परन्तु महा पुरुष बिना अपराध किये ही क्षमा याचका कर लेते हैं—

"आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाल मयासि तन्वि श्रमितातिवेलम् ।
सोऽह तदाग: परिमाष्टु'काम· किमीप्सितं ते विदधेऽभिधेहि ।"[2]

त्याग

क्षमा के समान ही त्याग का महत्त्व भी किसी प्रकार कम नही माना जाता। मनुष्य त्याग किये बिना सुख नही प्राप्त कर सकता, परमात्मा को प्राप्त नही कर सकता तथा निर्भयतापूर्वक सो नहीं सकता ।

"नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम् ।
नात्यक्त्वा चाभय· शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ।[3]

संसार मे ज्ञान के समान कोई नेत्र नही है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दु ख नहीं है एव त्याग के समान अन्य कोई सुख नही है—

" नास्ति विद्यासम चक्षुर्नास्ति सत्यसम तप· ।
नास्तिराग सम दुःखं नास्ति त्याग सम सुखम् ।"[4]

ससृति मे अकिञ्चनता ही सुख है, वही हितकारक है, कल्याण कारी एवं निरापद है। जो व्यक्ति सवस्व का परित्याग कर किसी भी वस्तु का सग्रह करने से नि:स्पृह रहता है वह सर्वत्र स्वैर गति से विचरण करता हुआ सुख का भोग करता है ।

---

१. महाभारत—(गोरखपुर-संस्करण)—विराट पर्व, १६, ५१.

२. नैषध चरित—३, ५२.

३. महाभारत—शान्ति पर्व, १७६, २२.

४. महाभारत—शान्ति पर्व १७५, ३५.

"अकिञ्चनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह ।
आकिञ्चन्य सुख लोके पथ्यं शिवमनामयम् ।"[1]

जो मनुष्य धन का त्याग कर अनासक्त भाव से रहता हुआ मन मे किसी भी प्रकार की कामना नही करता उस प. अग्नि अथवा अरिष्टकारी ग्रहो को प्रकोप नही हो सकता और न मृत्यु ही उसका कुछ बिगाड सकती है—

"नैवास्याग्नि र्न चारिष्टो न मृत्यु र्न च दस्यव ।
प्रभवन्ति धन त्यागाद्विमुक्तस्य निराशिषः ।"[2]

धैर्य

त्याग एव तपस्यामय जीवन यापन करने वाले महापुरुष सकट काल मे कदापि विचलित नही होते । आपत्ति काल मे अर्थ सकट मे, अथवा प्राणो का अन्त करने वाले भय मे अपनी बुद्धि से विचार कर काम करते हुए धैर्य सम्पन्न पुरुष कदापि दु.ख नहीं प्राप्त करते—

"व्यसने चार्थकृच्छ्रे वा भये वा जीवितान्तके ।
विमृशन् ये स्वया बुद्धया धृतिमान्नावसीदति ।"[3]

ऐसे पुरुष पर्वत के समान वायु के प्रचण्ड वेग को धैर्य से सहन कर निश्चल रहते हैं—

"त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नरर्षभा ।
आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायु वेगैरिवाचलाः ।"[4]

सन्तोष

मनुष्य मे सन्तोष की भावना मन की शान्ति को बढाती है । सन्तोष को प्राप्त करके शास्त्रज्ञ एव बुद्धिमान् व्यक्ति निर्द्वन्द्व होकर एकान्त का वास करते है—

---

१. महाभारत शान्तिपर्व—१७६, ८—८
२. वही—१७६, १२.
३ रामायण—किष्किन्धा काण्ड, ७, ६.
४. वही—अरण्य काण्ड, ६७, ७—८,

"सन्तोष परममास्थाय येन येतस्ततः ।
विविक्त सेवते वास निर्द्वन्द्वः शास्त्रवित् कृति ।"[1]

उत्साह शील व्यक्तियो को उत्कृष्ट महिमा से भी सन्तोष नही होता । पूर्ण चन्द्र के उदय की इच्छा करने वाला समुद्र ही इसका निदर्शन कहा जाता है—

"तृप्तियोग. परेणापि महिम्ना न महात्मनाम् ।
पूर्ण श्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णव ।"[2]

नीति कारो की ऐसी धारणा रही है कि थोडी भी सम्पत्ति से सन्तुष्ट होकर स्वय को कृत कृत्य समझने वाले मनुष्य की समृद्धि उत्तरोत्तर वृद्धिगत नही होती । स्वय विधाता कृत कृत्य होकर उसकी उन्नति नहीं करता है ।

"सम्पदा सुस्थिरम्मन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।
कृत कृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ।"[3]

कोमल कार्य करने वाला दूसरे की निन्दा करता है और वह भी अपने विरुद्ध आचरण करने वाले की निन्दा करता है परन्तु उन दोनों को अपने अपने कार्यों मे समान ही सन्तोष होता है—

"क्रमेलक निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलक कण्टकलम्पटस्तम् ।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजो, समाया मध्यस्थता नैकतगो पहासः ।"[4]

दृढता

सन्तोष से उदित होने वाली दृढता मनुष्य के चरित्र की आधार शिला है । भारतीय वीरो का अपने कर्तव्य के प्रति दृढविश्वास एव अटलता लोक विश्रुत है । जिस कार्य के लिए दृढ निश्चय किया जाता है, उसे सम्पन्न करना ही उसका श्रेष्ठ उत्तर है—

---

१. बुद्ध चरित—१२, ४७.
२. शिशुपालवध—२, ३१.
३. वही—२, ३२.
४. नैषध चरित—६, १०४.

"अप्यहं जीवित जह्यां त्वां च सीते स लक्ष्मणाम् ।
नतु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषत ।"[1]

प्रतिज्ञा करके उसे तोडना कदापि सम्भव नही। महर्षि वसिष्ठ आदि के अयोध्या लौटने का आग्रह करने पर राम सिंह गर्जन के साथ अपने वन गमन एव पिता के आज्ञा-पालन के प्रति अपने निश्चय की दृढता एव अटलता की घोषणा करते है—

"लक्ष्मी चन्द्रादपेयाद्वाहिमवान्वा हिम त्यजेत् ।
अतीयात्सागरो वेला न प्रतिज्ञा महंपितुः ।"[2]

चन्द्रमा चाहे अपनी प्रभा से पृथक् हो जाय, हिमालय चाहे हिम का परित्याग करदे, और समुद्र चाहे अपनी मर्यादा का उल्लघन करदे, पर प्रतिज्ञा करके उसे तोडना कदापि सम्भव नही।

दशरथ भी राम के विलाप मे अपने विचारो की दृढता का परिचय देते हैं। सूर्य के बिना ससार जीवित रह सकता है, बिना जल के अन्न हो सकता है, पर राम के बिना प्राण नही रह सकते।

"तिष्ठेल्लोको विना सूर्य सस्य वा सलिल विना ।
नतु राम विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।"[3]

उत्साह

चरित्र की यह दृढता ही उत्साह एव कर्तव्य निष्ठा की जननी है। उत्साह शील व्यक्ति उत्साह का आश्रय लेकर समाज के द्वारा की गयी अपकृति के प्रतिकार करने की चेष्टा करता है। उत्साह की सफलता का मूल मन्त्र है। वही परम सुख है, तथा वही मनुष्य को सर्वदा सब प्रकार के कार्यो मे प्रवृत्त करता है—

"अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेद परं सुखम् ।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तक ।"[4]

---

१. रामायण—अरण्य काण्ड, १०२, १६.
२. वही—अयोध्या-काण्ड, ११२, १८.
३. वही— ,, ,,
४. वही—सुन्दर काण्ड, १२, १०.

उत्साह मानव का सबसे बडा बल है। उत्साह मे ओत प्रोत व्यक्ति के लिए ससार मे कुछ भी वस्तु दुर्लभ नही होती। उन्हे किसी भी कठिन से कठिन कार्य मे भी निराशा का मुख नही देखना पडता तथा अन्त तक उनका साहस अक्षुण्ण रहता है-

"उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्पर बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम्।
उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु।
उत्साह मात्रमाश्रित्य प्ररिलप्स्याम जानकीम्।"[1]

समुद्र तट पर विचारो से घिरे हुए हनुमान को देखकर जाम्बवान् का उन्हे उत्सा-हित करना महान् कार्य सिद्धि का कारण होना है। वायु पुत्र हनुमान् जाम्बवान् से उत्साह का सदेश पाकर महार्णव को लाँघने मे सफलता प्राप्त करते है—

"त्व हि वायुसुतो वत्स प्लवने चापि तत्सम।
उतिष्ठ हरिशार्दूल लङ्घयस्व महार्णवम्।"[2]

मृदुता

उत्साह के साथ मृदुता भी मनुष्य को कार्य-सिद्धि के द्वार तक पहुँचाने मे सह-योग देती है। क्षमा से अन्तर्हित बल समस्त कार्यों की सिद्धि के लिए समर्थ हो सकता है-

प्रदोप : स्नेहमादत्ते दशयाभ्यन्तरस्यया।[3]
मृदु व्यवहित तेजो भोक्तु मर्था रस्यकल्पते।

मृदुता समाज के लिए उपयोगी होने के साथ साथ व्यक्ति के लिए भी आदर, शान्ति एव लाभ देने वाली है परन्तु साथ ही साथ यह कभी कभी कष्ट एव विषाद का कारण बनती है। अधिक कोमल व्यक्ति कभी कभी शीलवश दूसरे के द्वारा दु ख को प्राप्त करते हैं। यही कारण है कि अपराध समान होने पर भी मृदु अधिक दु,ख पाता है। यह कोमलता का ही परिणाम है कि राहु सूर्य को विलम्ब से तथा चन्द्रमा को शीघ्र ग्रसता है—

---

१ रामायण—किष्किन्धा काण्ड, १, १२२-४.

२. वही—६६, ३२-३८.

३. शिशुपालवध—२, ८५.

"तुल्येपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्त चिरेण यत्
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्न· स्फुटं फलम् ।"[1]

विश्वास

कोमल एव नम्र स्वभाव वाले व्यक्ति प्रायः सभी का विश्वास कर लेते हैं। परन्तु नीतिकारो के अनुसार अविश्वस्त मनुष्य पर कदाि वश्वास नही करना चाहिये; विश्वस्त मे भी अत्यधिक विश्वास उचित नही होता । उससे उत्पन्न भय अथवा सकट समूल नष्टकर देता है-

"न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नमपि मूल निकृन्तति ।"[2]

विदुर का मत है कि बुद्धिमान् पुरुष को स्त्रियो, राजाओ, सर्पों, अपना पठित पाठ स्वामी, शत्रु, भोगो तथा आयु मे कदापि विश्वास नही करना चाहिये-

"स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वास क प्राज्ञ कर्तुमर्हति ।"[3]

वश्वस्त मनुष्य का अहित कर उसके साथ विश्वासघात नहीं करना चाहिये। धर्मधन पुरुष पूर्णतया विश्वास युक्त शत्रुओ के वध को भी अत्यन्त निन्दनीय कहते हैं—

"न केवल प्राणि वधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मन· ।
विर्गर्हित धर्म धनै निवर्हण विशिष्य विश्वासजुषा ।"[4]

कृतज्ञता एवं कृतघ्नता

विश्वास के साथ साथ कृतज्ञता भी मनुष्य को श्लाघनीय स्थान प्रदान करती है । कृतघ्नता की गर्हा करना तथा उसे सर्वथा हेय मानना सस्कृत काव्यो का अपना दृष्टिकोण है । कृतघ्न को यश, समुचित स्थान एव सुख कदापि प्राप्त नही होता; उसके प्रति किसी की श्रद्धा नही होती तथा उसकी मुक्ति भी नही होती—

---

१ शिशुपाल वध, —२४, ६.
२. महाभारत—शान्ति पर्व १३६, २६.
३. वही—उद्योग पर्व, ३७, ५७.
४. नैषध चरित—१, १३१.

"कुत. कृतघ्नस्य यशः कुत. स्थानं कुत. सुखम् ।
अश्रद्धेय' कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृते ।"[1]

कृतघ्न एव विश्वासघात करने वाले व्यक्ति नरक के भागी होते है एवं उनकी कदापि मुक्ति नही होती—

"कृतघ्ना नरक यान्ति ये तु विश्वासघातिन ।
निष्कृति नैव पश्यामि कृतघ्नाना कथञ्चन ।"[2]

कृतघ्नो की इतनी निन्दा की जाती है कि उनके मरने पर मांस भक्षी पशु पक्षी भी उनका मास नही खाते—

'सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादा कृतघ्नान्नो पभुञ्जते ।'[3]

नीतिकारो ने इसीलिए यह विचार व्यक्त किया है कि पुरुष को मित्र से कदापि द्रोह नही करना चाहिये । मित्र की शुभ कामना करते हुए मनुष्य को सदैव कृतज्ञ रहना चाहिये—

"कृतज्ञेन सदा भाव्य मित्र कामेन चैव ह ।"[4]

मित भाषिता

अपनी इच्छा से असगत वचन वहुत सा कहा जा सकता है किन्तु कार्य सगति से पूर्णतया अन्वित वचन कहना अत्यन्त कठिन काय है—

"वव्हपि स्वेच्छया काम प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्वन्ध: प्रबन्धो दुरुदाहर. ।"[5]

---

१. महाभारत—शान्ति पर्व १७३, २०
२. महाभारत—अनुशासन पर्व, १२ अध्याय ।
३. वही—उद्योगपर्व, ३६, ४२ तुलनीय–रामायण–किष्किन्धाकाण्ड, ३०, ७३.
४. वही—शान्ति पर्व, १७३, २२.
५. शिशुपाल वध—२, ७३.

कुशल वक्ता अत्यन्त मृदु होने पर भी सघन तथा अनेक गुणो से युक्त रग बिरगी साडी के समान शब्द-वैचित्र्य युक्त वाणी का आश्रय लेते हैं—

"अदीयसीमपि घना मनल्प गुणभूषिताम् ।
प्रसारयन्ति कुशला चित्रा वाच पटीमिव ।"[1]

महापुरुष स्वभावत: मित भाषी होते है-

"विरराम महीयास. प्रकृत्या मितभाषिण: ।"[2]

इन सद् वृत्तियो के अतिरिक्त समाज मे ऐसी वृत्तियाँ भी दृष्टिपथ मे आती हैं, जिनका उपयोग नाश एव पतन का कारण होता है ।

काम

काम का वासनात्मक रूप अत्यन्त गर्हित एव घृणास्पद है । इसी के अन्तर्गत आसक्ति, विषयोपभोग की वासना, तृष्णा, अहंकार, दम्भ, दर्प, क्रोध, परनिन्दा आदि का समावेश होता है, जा आसुरी वृत्ति के परिचायक हैं । गीता मे इसे स्मृति-विभ्रम, बुद्धि नाश एव सर्व नाश करने वाला कहा गया है ।[3] यह काम धर्म का विरोधी है और इसी के कारण न भक्ति होती है और न ज्ञ न की प्राप्ति होती है । आसुरी प्रवृत्तियो को जन्म देने वाले मुख्यत काम, क्रोध एव लोभ—ये तीन मनोभाव गीता मे प्रतिपादित किये गये हैं ।

वासनात्मक काम के अतिरिक्त काव्यो मे सृजनात्मक काम की भी चर्चा यत्र तत्र उपलब्ध हा जाती है । सृष्टि के विकास का कार्य इसी पर आधारित रहता है । ऋग्वेद मे इस काम को मन का रेतम् कहा गया है । ऐतरेय ब्राह्मण मे यही प्रजापति की इच्छा का रूप कहा गया है । जिसके परिणाम स्वरूप वह एक से अनेक रूप ग्रहण करता है । भारतीय ग्रन्थो के आधार पर प्रवृत्ति मार्ग मे काम का सर्वोपरि स्थान माना गया है । यह काम मन की मूल प्रवृत्ति है तथा सृष्टि के आदि से ही इसका अस्तित्व स्वीकार किया गया है । गीता के अनुसार आसक्ति को काम का प्रवर्तक कहा गया है । आसक्ति

१. शिशुपालवध—२, ७४.
२. वही—२, १३.
३. श्रीमद् भगवद् गीता—१६ १६-२० तथा २, ६२-६३.
४ ऐतरेय ब्राह्मण—४, ४, २२.

एव वासना की प्रबलता के कारण रजोगुण की वृद्धि होती है और इसी के फलस्वरूप मन का सारा ज्ञान काम से आवृत हो जाता है। आसुरी प्रवृत्तियाँ अपनी तीव्रता के साथ मनुष्य के विवेक का नाश कर उसे कुपथ पर अग्रसर कर देती हैं।

इस प्रकार काम को भारतीय मनीषियो ने एक महापातक के रूप मे स्वीकार किया है। दूसरे के परिग्रह को स्वीकार करना मानव को नरक का भागी बनाता है। कामावेश के कारण कामिजन की मनोवृत्ति कुछ भिन्न सी हो जाती है तथा उसका विवेक लुप्त हो जाता है। उत्कण्ठा के कारण कामी पुरुष चेतन एव अवचेतन का ज्ञान खो देताहै—

"कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु।"[1]

असयत, अव्यवस्थित एव अनैतिक काम भावना को निन्दनीय एवं सर्वथा हेय माना गया है। कामना करती हुई स्त्री का समागम करने से प्रेम एवं सन्तोष की उपलब्धि होती है परन्तु इसके विरुद्ध अकामा से बल पूर्वक सगम करने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है—

"अकामा कामयमानस्य शरीरमुपतप्यते।
इच्छन्ती कामयमानस्य प्रीतिर्भवति शोभना।"[2]

स्पर्श करके दूषित करना तो दूर रहा, पर स्त्री की ओर दृष्टिपात करना भी पाप का लक्षण है। लङ्का मे सीता की अन्वेषणा करते हुए हनुमान् रावण की सोयी हुई स्त्रियो को देखकर अपन धर्म लोप की आशका करते हैं।

"परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम्।
इद खलु ममात्यर्थं धर्मलोप करिष्यति।"[3]

हनुमान् का चित्त राक्षस रमणियो के लावण्य से प्रभावित नही होता। चित्त मे कोई विकार भी उदित नही होता, परिणामत. इन्द्रियाँ भी मन का ही अनुसरण करती हैं-

---

१. मेघदूत—१, ५.

२. रामायण—सुन्दर काण्ड, २२, ४२-४३.

३. वही—११, ३९.

"नहि मे मनस किंचिदकृत्य मुपपधते ।
मनो हि हेतुः सर्वेषा मिन्द्रियाणाँ प्रवर्तते ।"[1]

हनुमान् अपने कर्तव्य के लिए स्त्रियो मे-सीता को खोजने का प्रयास कर रहे थे। स्त्रियो के अतिरिक्त कही अन्यत्र तो सीता का अन्वेषण हो भी नही सकता—

"स्त्रियो हि स्त्रीषु दृश्यन्ते सर्वथा परिमार्गणे ।
न शक्या प्रमदा नष्टा मृगीषु परिमार्गितुम् ।"[2]

परदाराभिमर्श के कारण मस्तक फट जाने का शाप रावण को प्राप्त हुआ था। अपने प्रेमी नल कूवर के पास अभिसार के लिए जाती हुई रम्भा के साथ बलात्कार करने के कारण ही रावण ब्रह्मा के द्वारा अभिशप्त हुआ—

"अद्य प्रभृति यामन्या बलान्नारी गमिष्यसि ।
तदा ते शतधा मूर्धा फलिष्यति न सशयः ।"[3]

नलकूवर नेभी अकामा केसाथ कामवश होकर बल पूर्वक सगम करने के अपराध मे रावण को मस्तक के सात भागो मे फट जाने का शाप दिया था। शाप के रूप मे पतिव्रता नारियो के आचरण की रक्षा एव रावण की दुष्प्रवृत्तियो के दमन के रूप मे नैतिकता की प्रतिष्ठा की गयी है।

"यदा ह्यकामा कामार्तो पर्षयिष्यति योषितम् ।
मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकलीभविता तदा ।"[4]

पति व्रता के अश्रुपात निरर्थक कदापि नही जाते। उनसे महान् अनर्थ की सम्भावना रहती है।

---

१. रामायण-सुन्दरकाण्ड-११, ४२-४३.

२. वही—सुन्दरकान्ड ११, ४२-४३.

३. वही—युद्ध काण्ड, १३, १४.

४. वही—उत्तर काण्ड, २६, ५६.

"पतिव्रतानां नाकस्मात्पतन्त्यश्रूणि भूतले ।"[1]

सीता इस तथ्य का उद्घाटन अत्यन्त तर्क पूर्ण एव युक्ति के आधार पर करती है कि जैसे रावण अपनी पत्नी की रक्षा करना अपना धर्म समझता है उसी प्रकार अन्य स्त्रियो की रक्षा करना भी उसका कर्तव्य है—

"यथा तव तथान्येषा दारा: रक्ष्या: निशाचर ।
आत्मानमुपमा कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम् ।"[2]

कामिनियो के ससर्ग जन्य पाप से कोई भी मुक्त नही हो सकता । ससार के समस्त व्रत नियम आदि को काम ने अभिभूत कर रखा है—

"कामिनीवर्गससर्गे नैक सक्रान्तपातक. ।
नाश्नाति स्नाति वा मोहात् कामक्षामव्रत जगत् ।"[3]

काम का अनुसरण करने वाला पुरुष काम के द्वारा ही विनष्ट हो जाता है । यह गाढान्धकार है और मनुष्यो के लिए नरक का द्वार है—

"कामानुसारी पुरुष. कामाननु विनश्यति ।
तमो ऽ प्रकाशो भूतानां नरकोऽय प्रदृश्यते ।"[4]

क्रोध

काम के समान ही क्रोध से अभिभूत होने पर विवेकिता नष्ट हो जाती है । काम के समान क्रोध को भी नरक का द्वार कहा गया है । मनोवैज्ञानिको का विचार है कि परिवेशगत बाधाओ एव व्यक्तिगत न्यूनताओ के कारण मानसिक एव शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्ती के अभाव मे क्रोध का उदय होता है। क्रोध एक अत्यन्त उग्रभाव के रूप मे स्वीकार किया गया है । धर्म एव व्यवहार दोनो ही दृष्टियो से क्रोध को गर्हणीय

---

1. रामायण—युद्ध काण्ड, १११, ६७.
2. वही—सुन्दर काण्ड—२१, ७—८.
3. नैषध चरित—१७, ४१.
4. महाभारत—उद्योग पर्व, ४२, १३–१४.

कहा हैं। उत्साह वीर-पुरुष का भूषण है पर क्रोध से अभिभूत होकर वह कर्तव्य का ज्ञान खोकर असदाचरण करना आरम्भ कर देता है। प्रलाप के कारण उसके वाक्यो मे प्रायः कोई संगति नही होती—

"कृतमनुमितं दृष्टं वा यैरिद गुरुपातकम्।
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः।
नरकरिपुणा सार्धं तेषा सभीम किरीटिना—
मिदमहमसृक् मेदोमासैः करोमि दिशा बलिम्।"[1]

जिन मनुष्य-पशुओ ने मर्यादा का उल्लंघन कर ब्रह्म हत्या रूप महापातक को स्वय सम्पन्न किया है अथवा उसके लिए अपनी अनुमति प्रदान की है अथवा शस्त्र सम्पन्न होते हुए भी मौन रहकर जिन्होंने इस हत्या को देखा है उनके प्रति क्रोध आना नितान्त स्वाभाविक है।

क्रोध के कारण केशो को अतिशय हिलाने वाला समस्त शरीर मे उत्पन्न कम्प प्रगट होता है, स्वभाव से ही रक्त कमल के समान दोनो नेत्र आरक्त हो जाते हैं भ्रमङ्ग से भयकर आकृति कलकयुक्त चन्द्रमा एव ऊपर मडराने वाले भौरो से कमल की कान्ति को धारण करती है—

"क्रोधेनोद्धत धूत कुन्तलभरः सर्वाङ्गजो वेपथुः।
किञ्चित्कोकनदस्य सदृशे नेत्रेस्वय रज्यत।
वत्ते कान्तिमिद च वक्त्रमनयो भङ्गेन भिन्न भ्रुवो,,
चन्द्रोस्यद्भ्टलाञ्छनस्य कमलस्योभ्द्रान्त भृगस्य च।"[2]

क्रोध के पात्र पर क्रोध का प्रभाव पड सके तभी क्रोध को सार्थक माना जाता है। क्रोध से रहित व्यक्ति के प्रसन्न अथवा अप्रसन्न होने से किसी के चित्त मे आदर अथवा भय उत्पन्न नही हो सकता।

"अवन्ध्य कोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षं शून्येन जनस्य जन्तुना न जात हार्देन न विद्विषादरः।"[3]

---

१. वेणी सहार—३, २४.

२. उत्तर राम चरित—५, ३६.

३. किरानार्जुनीय, १, ३३.

जो व्यक्ति यथावसर अपनी उग्रता एव मृदुता का अवलम्बन लेता है, वह सूय के समान अपने प्रताप से समग्र ससार को अपने वश मे कर सकता है—

"समवृत्ति रुपैतिमार्दव समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ।"[1]

अपना उदय चाहने वाले व्यक्ति के लिए यह अत्यन्त अपेक्षित है कि वह सर्व प्रथम क्रोध रूपी अज्ञान को नष्ट करे । अ शुमाली भी रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट किये विना उदितनहीं होता—

"अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिर रोषमय धिया पुरः ।
अविभिद्य निशाकृत तमः प्रभयानाशुमताप्युदीयते ।"[2]

व्यास के अनुसार क्रोध न करने वाला व्यक्ति सौ वर्षों तक निरन्तर यज्ञ करने वाले पुरुष की अपेक्षा अच्छा माना गया है ।

यो यजुदपरिश्रान्तो मासि मासि शत समा ।
"क्रुध्येयश्च सर्वस्य तयो रक्रोधनो ऽ विक ।"[3]

क्रोध के आवेश मे मनुष्य कौनसा पाप नही करता; क्रोध के कारण वह गुरुओ का भी वध कर सकता है तथा वह कठोर वाणी से सज्जनो को भी तिरस्कृत कर सकता है । क्रुद्ध होने पर मनुष्य को वाच्य अवाच्य का ज्ञान नही रहता । उसके लिए अकार्य एवं अवाच्य कुछ भी नहीं होता ।

"क्रुद्ध: पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।
क्रुद्ध: परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ।
वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित् ।
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्य विद्यते क्वचित् ।"[4]

---

१. किरातार्जुनीय—२, ३८.

२. वही—२, ३६.

३. महाभारत—आदिपर्व, ७९. ६.

४. रामायण—सुन्दर काण्ड, ५५, ५-६.

शरीर मे स्थित क्रोध मनुष्यो का सब से महान् शत्रु माना जाता है—

"क्रोध: शत्रु: शरीरस्थो मनुष्याणा द्विजोत्तम ।"[1]

दु ख से सचय किये हुए यति मुनियो के धर्म एव पुण्य को क्रोध हरण कर लेता । क्रोध के कारण धर्म से विहीन व्यक्तियो को अभीष्ट गति प्राप्त नही होती—

"क्रोधो हि धर्म हरति यतीना दु ख सञ्चितम् ।
ततो धर्म विहीनाना गतिरिष्टा न विद्यते ।"[2]

शोक

क्रोध के समान ही शोक भी मनुष्य के कर्तव्य एव अकर्तव्य के ज्ञान का नाश करता है। शोकाविष्ट मनुष्य तमोगुण से अभिभूत हो जाता है तथा उसमे विवेक शक्ति का लोप होने लगता है। प्रिय बन्धु के अस ह्य वियोग से मनुष्य शोकाविष्ट होकर नाना-विध प्रलाप करना आरम्भ करता है। शोक जन्य व्याकुलता एवं विह्वलता से मनुष्य के मन की शान्ति नष्ट हो जाती है तथा वह कृशगात्र होता चला जाता है। केतकी पुष्प की पँखुडियो को सुखाने वाले शरद् ऋतु के धर्म के समान हृदय कमल को सुखाने वाला कठोर एव असहनीय शोक वृन्त से टूटे हुए पत्र की तरह शरीर को पाण्डु, दुर्बल एवं मलिन करता है।[3]

यह शोक पुटपाक के समान अत्यन्त दाहक माना जाता हैं। गम्भीरता से अव्यक्त रहने वाला एव अन्तर्गत वेदना से परिप्लुत यह शोक पुटपाक के तुल्य है—

"अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथ· ।
पुटपाक प्रतीकाशो रामस्य करुणो रस ।"[4]

---

१. महाभारत—वनपर्व, २०६, ३२.

२. वही—आदिपर्व, ४२, ८.

३. "किसलयमिव मुग्ध बन्धनाद्विप्रलून हृदय कमल शोषी दारुणो दीर्घ शोक: । ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्या शरीरम्, शरदिज इव धर्म, केतकी गर्म पत्र्म् ।" उत्तर रामचरितम्—३, ५.

४. उत्तर राम चरित—३, १.

दारुण शोक की अवस्था मे मनुष्य विलाप एव अश्रुपात करके अपनी वेदना को सहन करने योग्य बना लेता है। जल प्रवाह का आधिक्य होने पर सरोवर मे परीवाह ही उसका उत्तर है, इसी प्रकार हृदय के भी शोक से विक्षुब्ध होने पर प्रलाप ही उसका उचित प्रतिकार है—

"पूरोत्पीडे तडागस्य परीवाह: प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे हि हृदय प्रलापैरेव धार्यते।"[1]

विरह के आधिक्य से मोह उत्पन्न हो जाता है। हृदय विदीर्ण होने लगता है, शरीर का सन्धि बन्धन शिथिल पड जाता है, लोक शून्य सा आभासित होता है, शरीर के अविच्छिन्न ताप से जलकर अवसन्न होता हुआ प्रिय रहित अन्तरात्मा गाढान्धकार मे विनिमज्जित होने लगता है, तथा मूर्च्छा चारो ओर से आवृत कर लेतीहै—

"हा हा देवि। स्फुटति हृदय ध्वसते देहबन्ध।
शून्य मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नधे तमसि विधुरो मज्जती वान्तरात्मा।
विष्वङ् मोह स्थगयति कथ मन्दभाग्य करोमि।"[2]

हृदय शोक के कारण विदीर्ण होने लगता है किन्तु दो भागो मे विभक्त नही होता; शोक से विह्वल शरीर मोह धारण करता है, परन्तु चैतन्य का त्याग नही करता; अन्त: करण का सन्ताप शरीर को जलाता है, किन्तु उसे भस्म नही करता, एवं मर्म स्थल को विदीर्ण करने वाला भाग्य प्रहार करता है किन्तु जीवन को नष्ट नही कर पाता—

"दलति हृदय शोकोद्वेगाद् द्विधा नतु भिद्यते।
वहति विकल: कायो मोह न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्त दहिः करोति न भस्मसात्।
प्रहरति विधिमर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्।"[3]

---

१. उत्तर राम चरित—३, २९.
२. वही—३, ३८.
३. वही—३, ३१.

उत्पन्न होते ही अनित्यता नवजात शिशु को अंक मे ले लेती है; परिणामतः मृत्यु अवश्यम्भावी है तो उसके लिए शोक करना व्यर्थ है—

"क्रोडी करोति प्रथम यदा जातमनित्तया ।
धात्रीव जननी पश्चात्तदा शोकस्य कः क्रम ।"[1]

शोक से आकुल व्यक्ति के सारे कार्य नष्ट हो जाते हैं तथा वह स्वयं दु.ख पाता है ।

"निरुत्साहस्व दीनस्य शोकपर्याकुलात्मन ।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसन चाधिगच्छति ।"[2]

शोक के कारण उत्पन्न होने वाली विह्वलता शूरता आदि सभी गुणो का नाश कर समस्त कार्य सिद्धियो मे बाधा उपस्थित करती है. अतः मानव को सदैव शोक से मुक्त रहना चाहिये ।

"तदल विक्लवा बुद्धी राजन् सर्वार्थ नाशिनी ।
पुरुषस्य हि लोकेस्मिन् शोक· शौर्यापकर्षण· ।"[3]

सुग्रीव ने शोकाकुल राम से कहा कि जो शोक से व्याकुल हो जाते हैं उनकी सुख और शान्ति नष्ट हो जाती है,तथा उनका तेज भी क्षीण हो जाता है । इसके अतिरिक्त शोक से अभिव्याप्त पुरुष के जीवन मे भी सन्देह उत्पन्न हो जाता है—

"ये शोक मनुवर्तन्ते न तेषा विद्यते सुखम् ।
तेजश्च क्षीयते तेषा न त्व शोचितुमर्हसि ।
शोकेनाभिप्रपन्नस्य जीविते चापि संशय ; ।
स शोक त्यज राजेन्द्र धैर्यमाश्रय केवलम् ।"[4]

---

१. नागानन्द—४, ८.
२. रामायण—युद्ध काण्ड, २, ६.
३. वही—२, १४.
४. वही—किष्किन्धा काण्ड, ७, १२-१३,

भय

काम भावना भय की जननी होती है पारिवारिक वातावरण मे अपने स्नेही व्यक्ति के आँखो से ओझल होने मात्र से ही भय एव अनिष्ट की आशङ्का स्वत: ही आ घेरती है। भ्रमण के लिए अपने घर की वाटिका में भी स्नेही व्यक्ति के जाने पर उसके विषय मे पाप की आशङ्का होना स्वाभाविक है। अनेक विघ्न, भय एवं विपत्तियो से आक्रान्त वनोद्देश मे जाने पर तो भय का होना नितान्त आवश्यक है—

"स्व गृहोद्यानगनेऽपि स्निग्धे पापं विशङ्कने स्नेहात् ।
किमु दृष्टबन्हृपाय प्रतिभय कान्तारमध्ये ।"[1]

भय से त्रस्त होकर मनुष्य कभी भागते हैं, कभी छिपते है कभी स्तब्ध होकर खडे हो जाते हैं तथा कभी किंकर्तव्य विमूढ होकर डर से घूमने लगते है—

"अ-येत्र नम्भिषु शैलान् गुहास्त्वन्ये न्यलेषत ।
केचिदानिपत स्तब्धा' भयात् केचिदघूर्णिषु ।"[2]

श्रेष्ठ पुरुष वे ही कहे जाते हैं, जो भय के द्वारा कदापि अभिभूत नही होते। जिस प्रकार परिपक्व फलो के लिए गिरने से अतिरिक्त कोई अन्य भय नही उसी प्रकार जन्म ग्रहण करने वाले मानव के लिए भी मृत्यु से अन्य कोई भय नही होता—

"यथा फलाना पक्वाना नान्यत्र पतनाद् भयम् ।
एव नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम् ।"[2]

लज्जा

सदाचारी पुरुष अकृत्य को देखकर लज्जा का अनुभव करता है। जब कोई पुरुष स्वय किसी नीच कार्य को करता है अथवा अपने समक्ष देखकर साक्षी के रूप मे रहता है वह लज्जा का भाजन बन जाता है। अपने हाथ से कुन ललना ओ के केशो का अपकर्षण अथवा उनके अपमान का समक्ष अवलोकन वस्तुत. लज्जा जनक होता है।

---

१ नागानन्द, ५, १.
२. भट्टी काव्य—१५, ३२.
३. रामायण—अयोध्या काण्ड, १०५, १७.

"गुण्मान् ह्रेयपति क्रोधा ल्लो को शत्रु कुल क्षय ।
न लज्जयति दाराणां सभाया केशकर्षणम् ।"[1]

सत्पुरुषो को ओरो की अपेक्षा स्वयं पर ही अधिक लज्जा आती है—

"निमीलन स्पष्ट विलोकनाभ्या कदर्थितस्ता: कलयन् कटाक्षै, ।
सराग दर्शीव भृश ललज्जे स्वत सता ह्री परतोति गुर्वी ।"[2]

राजा के लिए यह अत्यन्त गर्हा का विषय माना जाता है कि एक व्यक्ति, जो जल मे तथा भूमि पर स्वत उगने वाले फल, मूलो से मुनियो के समान जीवन निर्वाह करता हो, अकारण दण्डय माना जावे ।

"फलेन मूलेन च वारि भूरुहा मुनेरिवेत्थ मम यस्य वृत्त्य: ।
त्वयाघ तस्मि न्नपि दण्डधारिणा कथ न पत्या धरिणी हृणीयते ।"[3]

कपट

हृदय की भावनाओ अथवा विचारो को किसी बुरी भावना मे गुप्त रखकर किसी भिन्न तथ्य को ही प्रकट करने अथवा मन एव वाणी मे असत्य को आश्रय देने को कपट के अन्तर्गत रखा जाता है। छल, प्रवचना आदि इसी के पर्यायवाची शब्द हैं। कपटाचरण करने वाले व्यक्ति के साथ कपट व्यवहार करना चाहिये। यह नीति सम्मत मत है-

"तेन तेन वचसैव मघोन सस्मवेद कपट पटुरुच्चै: ।
आचरत्तदुचितामय वाणी मार्जव हिकुटिलेषु न नीति. ।"[4]

निन्दा

निन्दा, मानव को समाज मे क्षुद्रता दिलाकर उसके गौरव एव दर्प को नीचे गिरा देती है। मनुष्य उपहास एव अवमान का लक्ष्य होकर अपना आत्म तेज खो देता है

१. वेणी संहार—१, १७.
२. नैषध चरित—६, २२.
३. नैषध चरित—१, १३३.
४. वही—५, १०३.

और धीरे धीरे बुद्धि एव विवेक-शक्ति के क्षीण हो जाने से वह अत्यन्त ही विषाद ग्रस्त हो जाता है। ससार मे अपयश से युक्त पुरुष का अवश्य ही नरक मे पतन होता है। देवता भी अयशकी घोर निन्दा करते हैं—

"अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ।
पतत्येवा धमाल्लोकात् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ।

स्त्री के पातिव्रत्य के समान ही मनुष्य के वचन में संसार के लोग अकारण ही दोष दर्शी हो जाते हैं।

"सर्वथा व्यवहर्तव्य कुतो ह्यवनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचा साधुत्वे दुर्जनो जन: ।"[1]

निन्दा का पागल कुत्ते के विष की तरह सर्वतोमुखी एव शीघ्र प्रसार होता है—

"हा हा धिक् परगृह वास दूषण यत् ।
वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतै रुपायै. ।
एतत्तत्पुनरपि दैवदुर्विपाका—
दालर्क विषमिव सर्वत. प्रसक्तम् ।"[2]

याचना

याचना भी लज्जा का कारण होती है। मनस्वी पुरुष अपने आत्म सम्मान को गिराने वाली याचना का आश्रय कदापि नही लेते। वे सुख एव प्राणो का परित्याग करने के लिए सन्नद्ध रहते हैं परन्तु भिक्षा याचना न करने का व्रत कदापि नही तोडते—

स्मर प्रतप्तो ऽपि भृश स प्रभु विदर्भराज तनयामयाचत ।
त्यजन्त्यसून् शर्म न मानिनो वर त्यजन्ति नत्वेकमयाचित व्रतम् ।"[3]

---

१. उत्तर रामचरित—१, ५.
२. उत्तर रामचरित—१, ४०
३. नैषध चरित—२, ५०.

याचको से बार बार विनीत प्रार्थना तथा खुशामद कराकर उन्हे देर से दान देना अक्षय पाप का कारण होता है—

"प्रापितेन चटु काकु विडम्ब लम्भितेन बहु याचित लज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुप्यति विलम्ब्य ददान. ।" [1]

याचको को, अभिलाषा पूर्ण किये बिना ही, निराश एवं असफल होकर लौटाना कुल का कलङ्क होता है । याचको को उत्तर देकर उनकी इच्छा पूर्ति न करना समस्त कुल की कीर्ति के लिए कलङ्क के समान एव लज्जास्पद होता है—

"क·कुलेऽजनि जगन्मुकुटे व प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन ।
इन्दुरादिरजनिष्ट कलङ्की कष्टमेष स भवानपि माभूत् ।"[2]

आचार

जन साधारण मे प्रचलित आचार विचार ही किसी समाज की सस्कृति के परिचायक है । नैतिक नियमो एव धर्मानुकूल शासन द्वारा सचालित सामाजिक व्यवस्था मे इनका अत्यधिक महत्व रहा है । भारत मे प्राचीन काल से दैनिक जीवन मे व्यवहार की सरलता, नम्रता, सभ्यता, शिष्टता, मधुर सवाद, विनम्र व्यवहार एव उच्च शिष्टाचार की ओर विशेष आग्रह रहा है ।

आचार से आयु, लक्ष्मी तथा इहलोक एव परलोक मे अखण्ड कीर्ति प्राप्त होती है—

"आचाराल्लभतेह्यायु राचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुष. प्रेत्य चेह च ।"[3]

किसी पूज्य अतिथि के आने पर उसे आसन, स्थान जल एव मधुर वाणी के द्वारा सत्कृत करना सर्व प्रमुख शिष्टाचार है—

---

१. नैषध चरित—५, ८४.
२. वही—५, ११६.
३. महाभारत—अनुशासन पर्व १०४, ६.

"तृणानि भूमिरुदक वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सता गेहे नोच्छिन्द्यते कदाचन ।'[1]

अतिथि के इस शिष्टाचार को सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है । मधुर दर्शन से, उल्लसित मन से, मधुर एव सुन्दर वाणी से, अतिथि को पासना करनी चाहिए तथा उसका अनुगमन करना चाहिये—

"चक्षुर्दद्यान्मनो दद्यात् वाच दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञ पञ्चदक्षिण, ।"[2]

दैनिक जीवन के व्यवहार मे मनुष्य का यह परम धर्म है कि वह देवताओ, ऋषियो, पितरो, घर के देवताओ एव मनुष्यो का पूजन कर उन्हे भोजन कराकर स्वय भोजन करे । इसके अतिरिक्त अतिथि को उनमे सर्व श्रेष्ठ स्थान दिया जाता है—

"देवान् ऋषीन् मनुष्यांश्च पितृन् गृह्याश्च देवता. ।
पूजयित्वा तत पश्चात् गृहस्थो भोक्तुमर्हति ।"[3]

लक्षणों से रहित एव सर्वथा निन्दित पुरुष के द्वारा भी आचार का अवलम्बन करने पर उत्तम सिद्धि प्राप्त की जा सकती हैं । आचार से धर्म होता है, धन की अभिवृद्धि होती है, लक्ष्मी की प्राप्ति होती है एव इससे सारे अनिमित्त नष्ट हो जाते है—

' हीनया लक्षणै सर्वैस्तथा निन्दितया मया ।
आचारं प्रति गृह्णन्त्या सिद्धि, प्राप्तेयमुत्तमा ।"

"आचार· फलते धर्ममाचार फलते धनम् ।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम् ।"[4]

जो पुरुष सदैव गुरुजनो का अभिवादन करता है तथा नित्य प्रति वृद्धजनो की सेवा करता हैं, उसके आयु, कीर्ति, यश और बल, ये चारो सतत परिवर्धित होते रहते हैं—

---

१. महाभारत—वनपर्व, २, ५४.
२. वही—वनपर्व २, ६१.
३. वही—शान्ति पर्व, ३६, ३५.
४. वही—उद्योग पर्व, ११३, १४-१५.

"अभिवादन शीलस्य नित्य वृद्धोपसेविनः।
चत्वारितस्य वर्धन्ते आयुः कीर्ति यशो बलम्।"[1]

जिस सम्बन्ध मे अन्य की निन्दा की जाती है अथवा देखी जाती हैं, उसे स्वय नही करना चाहिये। जो स्वय में वर्तमान दोष के अन्य मे होने पर निन्दा करता हैं; वह उपहासास्पद होता है—

"परेषा यदसूयेत नतत्कुर्यात् स्वय नरः।
योह्यसूयुस्तथा युक्त सो ऽ वहास निगच्छति।"[2]

विद्वजनो की ऐसी धारणा है कि वृद्धजन के आने पर छोटे व्यक्ति के प्राण ऊपर की ओर उठ जाते है तथा स्वागत के लिए उठने एव अभिवादन करने से वे उसे पुन प्राप्त हो जाते हैं—

"ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यून स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्या पुनस्तान् प्रतिपद्यते।"[3]

दैनिक शिष्टाचार के विषय मे सस्कृत साहित्य मे पर्याप्त विवेचन प्राप्त होता हैं। उठकर सर्व प्रथम माता, पिता, आचार्य एव अन्य माननीय व्यक्तियो को प्रणाम करना चाहिये। टूटे हुए पुराने पलग पर नही सोना चाहिये। न कभी नग्न अवस्था मे सोना चाहिये और न कभी रात्रि मे स्नान करना चाहिये। जल मे कभी मूत्र अथवा पुरीष नही करना चाहिये। बैठकर खाना चाहिये, खडे होकर नहीं। गीले पैर करके भोजन करना चाहिये पर सोना नही चाहिये, केश पकडकर प्रहार नहीं करना चाहिये और न सिर मे मारना चाहिये, दुर्गन्ध युक्त वायु मे मन से चिन्तन कदापि नही करना चाहिये और न कभी गुरुओ के साथ वैर करना चाहिये।

"माता पितर मुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्।
आचार्यमथवाप्यन्यतथा युर्विन्दते महत्।

---

१. महाभारत—उद्योग पर्व ३९, ७५-७६.

२. वही—शान्ति पर्व, २९०, २४.

३. वही ,, ३८, १.

नभग्ने चावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च ।
नान्तर्धाने न सयुक्ते नच तिर्यक् कदाचन ।
न नग्न. कर्हिचित् स्नायान्न निशाया कदाचन ।
न चैवार्द्राणि वासासि नित्य सेवेत मानव ।
नोत्सृजेत पुरीष च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ।
उभे मूत्र पुरीषे च नाप्सु कुर्यान्कदाचन ।
निषण्णश्चापि खादेत नतु गच्छन् कदाचन ।
मूत्र नोत्तिष्ठता कार्यं न भस्मनि न गोव्रजे ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु सविशेत् ।
आद्रपादस्तु भुञ्जानो वर्षाणा जीवतेशतम् ।
अभिवादयीत वृद्धांश्च दद्याच्चैवासन स्वयम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्त पृष्ठतो ऽ न्वियात् ।
नैक वस्त्रेण भोक्तव्य न नग्न: स्नातुमर्हति ।"[1]
"स्वप्तव्य नैव नग्नेन न चोच्छिष्टो ऽ पि संविशेत् ।
केशग्रह् प्रहारांश्च शिरस्येतान् विवर्जयेत् ।"[2]
"वाते च पूतिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत् ।
गुरुणा चैव निर्वन्धो न कर्तव्य: कदाचन ।"[3]

गुरु विद्यादान देकर मनुष्य को ज्ञान के द्वारा अभ्युदय प्रदान करता है। गुरु के प्रति शिष्टाचार के आदर्श सिद्धान्त भारतीय सस्कृत काव्यो की अमूल्य निधि है।

गुरु के भोजन करने के पहले भोजन नही करना चाहिये, पानी पीने से पूर्व जल-पान नही करना चाहिये, खडे हुए गुरु के समक्ष नही बैठना चाहिये, उसके सोने से पूर्व

---

१. महाभारत—अनुशासन पर्व, १०४ ४३-४४, ४६, ५२-५४, ६०-६२, ६५-६७.
२. वही—अनुशासन पर्व १०४, ६७, ५८.
३. वही—अनुशासन पर्व १०४, ७१, ८०.

शयन नही करना चाहिये; हाथ उठाकर गुरु का पाद स्पर्श करन चाहिये तथा प्रणाम कर पढाने के लिए प्रार्थ ना करनी चाहिये—

"नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिवेत् ।
नातिष्ठति तथासीत नासुप्ते प्रस्वपेत च ।
उत्तानाभ्या च पाणिभ्या पादावस्य मृदु स्पृशेत् ।
दक्षिण दक्षिणे नैवसव्यं सव्येन पीडयेत् ।
अभिवाद्य गुरु ब्रूयादधीष्व भगवन्निति ।
इद करिष्ये भगवन्निद चापि कृतं मया ।"[1]

हाथ, पाँव तथा नेत्र से चञ्चलता नही करनी चाहिये तथा वाणी एवं अंङ्गो से भी चपलता नही करनी चाहिये—

"न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो मुनिः ।
न च वागङ्गचपल इति शिष्टस्य गोचर: ।"[2]

मृत्तिका के ढेले को नही तोडना चाहिये, तिनका तोडना अशिष्ट आचरण माना जाता है, नखो को खाने वाला तथा उच्छिष्ट मुखवाला पुरुष स्थिर आयु प्राप्त नही करता—

"लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
नित्योच्छिष्ट संकुशुको नेहायुर्विन्दते महत् ।"[3]

गुरुजनो को 'तू' कहकर अथवा उनका नाम लेकर बोलना उचित नही छोटे अथवा समान जनो के प्रति नामोच्चारण कर बोलनादोष रहित है—

"त्वङ्का नामधेयञ्च ज्येष्ठाना परिवर्जयेत् ।
अवराणा समानानामुभयेषा न दुष्यति ।"[4]

---

१. महाभारत—शान्ति पव, २४२, २१-२३.
२. वही—आश्वमेधिक पर्व, ४५, १८.
३. वही—शान्ति पर्व. २०५, १२.
४. वही—शाति पर्व—२०५, २५.

ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बाल, पण्डित, वैद्य, ज्ञाति एव सम्बन्धी बन्धु जनो, माता, पिता, बहिन, भाई, पुत्र, पुत्री, पत्नी एव सेवक वर्ग से कदापि विवाद नही करना चाहिये—

"ऋत्विक् पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसश्रितै. ।
वृद्ध बालातुरैर्वैद्य र्ज्ञाति सम्बन्धि बान्धवै. ।
माता पितृभ्या जामीभी भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवाद न समाचरेत् ।"[1]

जिस विषय मे जो मनुष्य जैसा व्यवहार करता है वहाँ उसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिये । नीति कुशल छली व्यक्ति को छल से बाधित करते है तथा सज्जन का सज्जनता से सेवन करते हैं—

"यस्मिन्यथा वतते यो मनुष्य स्तस्मिस्तथा वर्तितव्य स धर्म: ।
मायाचारो मायया बाधितव्य: साध्याचार साधुना प्रत्युपेय ।"[2]

सदाचार से रहित पुरुष के लिये उसका कुल प्रमाण नही माना जाता । क्षुद्र कुल मे उत्पन्न होने वाले पुरुषो का सत् आचरण ही उनकी श्रेष्ठता का कारण होता है ।

" न कुल वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मति ।
अन्तेष्वपि द्विजातीना वृत्तमेव विशिष्यते । "

पुण्य

सदाचरण से मनुष्यो का हित करना पुण्य की श्रेणी मे रखा जाता हैं । पुण्य करने वाला मनुष्य पवित्र कांति होकर स्वर्ग लोक मे प्रवेश करता है । मनुष्य को पूर्ण अवधानता के साथ पुण्य कर्म करना चाहिये ।

१- महाभारत — शान्ति पर्व, २४३, १४-१६.

२-वही—शान्तिपर्व,१०९, ३०.

३-वही — उद्योग पर्व, ३४, ४१.

" पुण्य कुर्वन्पुण्य कीर्ति पुण्य स्थान स्म गच्छति ।
तस्मात्पुण्य निषेवेत पुरुप सुममाहित । "[1]

पुण्य प्राणो को धारण करता है तथा वह प्राणो का देने वाला भी कहा जाता है
" पुण्य प्राणान्धार यति पुण्य प्राणद मुच्यने । "[2]

पुण्य कर्म के अनुष्ठान मे सद्‌बुद्धि की प्राप्ति होती है। पवित्र बुद्धि वाला पुरुप पुन. पुण्य कार्य करता हैं ।

" पुण्य प्रज्ञा वर्धयति क्रिय माण पुन. पुन. ।
वृद्धप्रज्ञ: पुण्यमेव नित्य मारभते नर । "[3]

पाप

यदि पुण्य करता हुआ पुरुप पवित्र यश वाला होकर शाश्वत पुण्य का अधिकारी होता हैं तो पाप करने वाला मनुष्य पापकीर्ति होकर अशुभ फल ही प्राप्त करता हैं।

"पुण्य कुर्वन् पुण्य कीर्ति· पुण्य मत्यन्त मश्नुते।
पाप कुवन् पापकीर्ति, पाप मेवाश्नुते फलम्"[4]

बार बार किये जाने पर पाप बुद्धि का नाश करताहै एव नष्ट बुद्धि वाला पुरुप निरन्तर पाप कृत्य मे ही निरत रहता है—

"पाप प्रज्ञा नाशयति क्रियमाण पुन· पुन ।
नष्टप्रज्ञ पापमेव नित्य मारभते नर. ।"[5]

आसन्न वर्तिनी मृत्यु के पाश मे पडकर एक व्यक्ति पापाचरण करता है परन्तु उस एक के ही कारण समस्त कुल का नाश हो जाता हैं।

१- महाभारत उद्योग पर्व— ३५, ६३.
२- वही — आदि पर्व, १५५, १५.
३. वही —उद्योगपर्व, ३५ ६२ ६३.
४. वही—उद्योग पर्व ३५, ६०.
५. वही—उद्योग पर्व ३५, ६१-६२.

" एको हि कुरुते पाप कालपाशवशङ्गत. ।
नीचेनात्मापचारेण कुल तेन विनश्यति ।"'

प्राणो का अतिपात स्तैन्य एवं परदाराभिगमन-ये शारीरिक पाप कहे जाते हैं; असत् प्रलाप, कठोरता, पिशुनता एव असत्य भाषण-ये चार वाणी के द्वारा किये जाने वाले पाप माने जाते हैं तथा दूसरे के सत्त्व के प्रति आसक्ति ' सब प्राणियो के साथ असौहार्द एवं कर्म का फल न स्वीकार करना- ये मानसिक पाप माने जाते हैं। इसलिये वाणी, शरीर एव मन से कदापि पापाचरण नही करना चाहिए—

"प्राणातिपात: स्तैन्य च परदारानथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वत: परिवर्जयेत्

असत्प्रलाप पारुष्य पैशुन्यमनृत तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ।
अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कमणा फलमस्तीति त्रिविध मनसा चरेत् ।
तस्माद्वाक् काय मनसा नाचरे दशुभ नर. । "२

धन

धन के द्वारा पवित्र कर्म करने से जीवन मे सुख और आनन्द की उपलब्धि होती है। सुख से परिवर्धित एव सुख की कामना करने वाला व्यक्ति जब पापाचरण करता है तो उसे दोष माना जाता है—

"सोऽयमर्थं परित्यज्य सुखकाम. सुखैधित ।
पापमारभते कर्तु ततो दोष प्रवर्तते ।"३

जिस व्यक्ति के पास धन हैं उसी के मित्र होते हैं उसी से लोग बन्धुता करते हैं, वही पुरुष ससार मे श्रेष्ठ है तथा वही ज्ञानवान् माना जाता है। जो धन सम्पन्न है

४- रामायण — युद्ध काण्ड, ३८, ७.
१. महाभारत—अनुशासन पर्व, १३, ३-६.
२. रामायण—युद्धकाण्ड, ८३, ३४.

वही कुशल है, वही बुद्धिमान् है, वही भाग्यशाली है एव वही गुणियो मे श्रेष्ठ माना जाता है।

"यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवा ।
यस्यार्थाः स पुमान् लोके यस्यार्थाः स च पण्डित ।
यस्यार्था, स च विक्रान्तो, यस्यार्थो, स च बुद्धिमान् ।
यस्यार्था. स महाभागो यस्यार्था· स गुणाधिक. ।"[1]

धन से रहित अल्प तेज वाले व्यक्ति के ग्रीष्म मे क्षुद्र नदियो के समान समस्त कार्य नष्ट हो जाते हैं—

"अर्थेन हि वियुक्तस्य पुरुषस्याल्पतेजसः ।
व्युच्छिद्यन्ते क्रिया. सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ।"[2]

अर्थ लिप्सा को परम दु,ख कहा जाता है, और अर्थ प्राप्ति उससे भी महत् दु ख है। धन के प्राप्त होने पर नरक साक्षात् प्राप्त हो जाता है—

अर्थेप्सुता परं दु.खमर्थं प्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
अर्थप्राप्तौ तु नरक कृत्स्न एवोपपद्यते"[3]

अपवित्रताओ की शिरोमणि यह लक्ष्मी सभी के चित्त को क्लुषित कर देती है।

" इयं हि लक्ष्मी धुरि पांसुलाना
केषां न चेतः कलुषीकरोति । "[4]

बुभुक्षा ही स्वाद की जननी हैं। दरिद्र सदा स्वादिष्ट भोजन करते है, जो धनिको के लिए दुर्लभ हैं—

सम्पन्नतरमेवान्न दरिद्रा भुञ्जते सदा ।
क्षुत् स्वादुतां जनयति सा चाढ्ये सुदुर्लभा । "[5]

१. रामायण-युद्धकाण्ड — ८३, ३५ ३६.
२. वही—युद्धकाण्ड ८३, ३३.
३. महाभारत — आदि पर्व, ३४. २३-२८.
४. विक्रमाङ्क देव चरित — ३, ४२.
५. महाभारत — उद्योग पर्व, ३४, ५०.

त्याग ही धन का सच्चा उद्देश्य है। जिस धन के लिए पुत्र अपने पिता को तथा पिता पुत्र को शत्रु की तरह मार देता है, मित्रगण मित्रता छोड देते हैं, उसी धन को व्यसन समझ कर त्यागने के लिए उत्सुक व्यक्ति का धन वस्तुतः सार्थक है—

न् पुत्रा पुत्रान्परवद भिहिंसन्ति पितरो
यदर्थं सोहार्द सुहृदि च विमुञ्चन्ति सुहृदि:
प्रय मोक्तु तद्यो व्यसनमिव सधो व्यवसित ।
कृतार्थो ऽ यं सोर्थस्तव सति वणिक्त्वेऽपि वणिज ।[1]

मान

धन से मान में वृद्धि होती है। मानी लोग अपने एक मात्र अभिमान रूप धन का कदापि परित्याग नही करते। मानुषातीत एव अजन्मा होते हुए भी मनु कुल मे उत्पन्न होने वाले, प्रभाव युक्त राम को भविष्य मे नाश करने वाला जानते हुए भी रावण ने जानकी को नही लौटाया—

"अमानव जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।
मुमोच जानन्नपि जानकी न यः सदाभिमानैकधना हि मानिन: ।"[2]

मध्यान्ह का सूर्य चाहे उष्णता का परित्याग करदे, चन्द्रमा चाहे शैत्य को छोडदे परन्तु मानी अपने मान को नहीं छोड सकता—

"औष्ण्यं त्यजेन्मध्यगतोऽपिभानुः शैत्य निशायामथवा हिमांशु ।
अनर्थमूल भुवनावमानी मन्ये न मानं पिशिताशिनाथ: ।"[३]

श्रम

निरन्तर श्रम शील रहने से मनुष्य अपनी कार्य सिद्धि मे सफल हो जाता है। काष्ठ को निरन्तर रगडते हुए मनुष्य अग्नि को प्राप्त कर लेता है। पृथ्वी को खोदने वाला

---

१. मुद्रा राक्षस, ६. १७.
2 शिशुपाल वध—१, ६७.
३. भट्टी काव्य—१२, ६४.

जल प्राप्त कर लेता है। उचित प्रकार से काम करने पर आग्रह शील व्यक्ति के लिए कोई भी कार्य असाध्य नही है—

"काष्ठ हि मथ्नन् लभते हुताश भूमि खनन्विन्दति चापि तोयम्।
निर्वन्धिन. किञ्चन नास्त्यसाध्य न्यायेन यत्न्श्च कृतश्च सवम्।"[1]

सफलता के प्राप्त होने पर श्रम जनित क्लेश का मार्जन हो जाता है तथा शरीर पुन: नवीनता का अनुभव करने लगता है—

'अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दास:,
क्रीतस्तपोभिरितिवादिनि चन्द्रमौलौ'
अह्नाय सा नियमज क्लममुत्ससर्ज,
क्लेश· फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।"[2]

पार्वती ने शिव की तपस्या करने मे पूर्ण प्रयत्न, परिश्रम एव कठोर साधना का आश्रय लिया–

'यथाश्रुत वेदविदाव रत्वया जनोऽयमुच्चै: पदलङ्घनोत्सुक।
तप: किलेद तदवाप्तिसाधन मनोरथानामगतिर्न विद्यते।"[3]

मनुष्य के स्वभाव पर नीति विज्ञो का विशेष अभिनिवेश रहा है। मानव स्वभाव के विविध स्वरूपो का चित्रण करके भारतीय मनीषियो ने अपनी रुचि का पूर्ण परिचय दिया है। महर्षि बाल्मीकि की यह धारणा है कि समृद्धिशाली पुरुष दूसरो की प्रशसा को सहन नही कर सकते। वन जाते हुए राम सीता से भरत के समक्ष अपने गुणो के वर्णन न करने का आग्रह करते है—

'ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणा कथ्या भरतस्याग्रतो मम।"[4]

---

१. बुद्ध चरित—१३, ६०.
२. कुमार सम्भव, ५, ८६
३. वही—५, ६४.
४. रामायण—अयोध्या काण्ड, २६. २५,

अर्ध विकसित जाति का प्रसन्नता के वशीभूत होकर प्रसन्नता को व्यक्त करने के हेतु कूदना, नाचना अथवा गाना आदि स्वभाव माने जाते हैं। ज्ञान सम्पन्न, विचार शील एव गुणो मे सामान्य व्यक्ति से बहुत ऊपर उठे हुए होने पर भी हनुमान् अपने स्वभाव को न भुला सके। सीता के अन्वेषण की प्रसन्न्ता को वे अपनी पूछ को भूमि पर पटक कर, चूम कर, एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ पर चढ कर, दौड कर, नाच कर एव गा कर अभिव्यक्त करते हैं—

"आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छ ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम।
स्तम्भानरोहन्निपपात भूमौ निदर्शयन्स्वा प्रकृतिं कपीनाम्।"[1]

स्त्री को स्वभावत. कातर माना गया है। चाहे कोई नारी कितनी भी धीर स्वभाव वाली हो परन्तु सपत्नी के प्रति अपने पति के प्रेम को सुन कर उसका दु खी होना निसर्ग सिद्ध है—

"इय वाला नवोद्वाहा सत्य श्रुत्वा व्यथा व्रजेत्।
कामधीर स्वभावेय स्त्रीस्वभावस्तु कातर.।"[2]

प्रियतम के पास अभिसरण करने वाली स्त्री को अपने अटल निश्चय से कोई नही रोक सकता—

"मेघा गर्जन्तु वर्षन्तु मुञ्चन्त्वशनिमेव वा।
गणयन्ति न शीतोष्ण रमणाभिमुखा. स्त्रियः।"[3]

रोगी का यह स्वभाव कहा जाता है कि वह एक बार शय्या का आश्रय लेने के अनन्तर पुन. उसे शीघ्र ही नहीं छोडता है।[4]

रोग

साधारण रोग अल्प प्रयत्नों से दूर किया जा सकता है किन्तु उसके वृद्धिगत होजाने के अनन्तर प्रबल प्रयत्नों से ही दूर किया जा सकता है अथवा असाध्य होने पर वह प्रयत्नो की परिधि से बाहर भी हो जाता है—

---

१. रामायण—सुन्दर काण्ड, १०, ५४.
२, स्वप्नवासवदत्त—४, ८.
३. मृच्छकटिक—५, १६.
४. स्वप्नवासवदत्त—३, ४.

"व्याधिरल्पेन यत्नेन मृदु: प्रतिनिवर्तते ।
प्रबल· प्रबलैरेव यत्नैर्नश्यति वा नवा

रोग का प्रतिकार शीघ्र ही होना चाहिये अन्यथा असाध्य होकर वह सर्वनाश का कारण हो जाता है—

"तदिय यदि कायिकी रुजा भिषजे तूर्णमनूनमुच्यताम् ।
विनिगुह्य हि रोगमातुरो न चिरात्तीव्रमनर्थमृच्छति ।"[2]

कृषि

अच्छे खेत मे मूर्ख द्वारा बोया गया अन्न भी भली प्रकार सफल होता है। क्षेत्र के महत्त्व के समक्ष बोने वाले का व्यक्तित्व गौण माना जाता है—

"चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषि: ।
न शाले: स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ।"[3]

कृषि का फल मेघ पर आश्रित है। वर्षा के लिए उत्सुक प्रजा कृषि के उत्पादन के लिए आकाश कीओर निहारती रहती है—

"त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञै ।
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधू लोचनै: पीयमान. ।
सद्य: सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य माल ।
किञ्चित्पश्चात् व्रज लघुगति भूय एवोत्तरेण ।"[4]

राज्य मे कृषक पूर्ण सन्तुष्ट एव प्रसन्न हो तभी राज्य मे सुख एव समृद्धि का सञ्चार सुलभ है। अत्यन्त पीडित होकर कृषिकर राज्य का परित्याग न करे ऐसी चेष्टा करना देश की सुखसमृद्धि का पोषक है।

---

१. सौन्दर नन्द—११, ११.
२. वही—८, ४.
३. मुद्रा राक्षस—१, ३.
४. मेघदूत—१, १६

"कच्चिद् कृष्टिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः।
ये वहन्ति धुर राज्ञा ते भरन्तीतरानपि।"[1]

इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य नीतियाँ हैं, जिनका मानव जीवन मे पर्याप्त महत्त्व है।

भवितव्यता के मार्ग सर्वत्र निकल जाते हैं। जो विधि का विधान है वह होकर ही रहता है—

"शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुत· फलमिहास्य।
अथवा भवितव्यताना द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।"[2]

प्राचीन होने से कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता और न नवीन होने से कोई निम्न कोटि का। दूसरो के विचारो एव विश्वासो के आधार पर अपना मत निश्चित करना मूर्खता पूर्ण है। विद्वज्जन परीक्षा करके ही उत्तम वस्तु को ग्रहण करते हैं—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्य तरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धि।"[3]

न्यास की रक्षा करना अत्यन्त दुःखकर माना जाता है। उसकी अपेक्षा धन सुख पूर्वक दिया जा सकता है, प्राणो के देने मे कष्ट नहीं होता एव तप भी सरलता से दिया जा सकता है—

"सुखमर्थो भवद्दातु सुख प्राणाः सुख तप.।
सुखमन्यत् भवेत्सर्व दु.ख न्यासस्य रक्षणम्।"[4]

साक्ष्य को जानते हुए भी कोई साक्षी यदि असत्याचरण करता है तो वह अत्यन्त निन्दनीय एव त्याज्य माना जाता है। महर्षि व्यास के अनुसार वह अपने पहले एव बाद के सात वशो का सर्वनाश करता है—

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व, ८९, २४.
२. अभिज्ञान शाकुन्तल—१, १५.
३. मालविकाग्निमित्र—१, २.
४. स्वप्नवासवदत्त—१, १०.

"पृष्टो हि साक्षी य. साक्ष्य जानानोप्यन्यथा वदेत् ।
स पूर्वानात्मन सप्त कुले हन्यात्तथा परान् ।"[1]

कुल मे वैर होने पर भी बालक उस वैर से मुक्त रखे जाते हैं। कुल के अपराध से बालक दण्ड के भागी नही होते—

"मम हि पितृभिरस्य प्रस्तुतो ज्ञातिभेद ,
तदिह मम च दोषो वक्तृभि. पातनीय ।
अथ च मम स पुत्र. पाण्डवानान्तु पश्चात् ।"
सति च कुल विरोधे नापराध्यन्ति बाला: ।"[2]

नीतिकारो की यह सर्व सम्मत धारणा है कि कुल के हित के लिए एक व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिये, ग्राम के हित के लिए कुल का, जनपद के लाभ के लिए ग्राम का एव सर्वोपरि अपनी आत्मा के हित के लिए पृथ्वी का भी परित्याग किया जा सकता है—

"त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत् ।"[3]

आलस्य युक्त पुरुष, नपु सक, अभिमानी, लोक के प्रजल्पन से भयभीत रहने वाले एव सदैव प्रतीक्षा करने वाले व्यक्ति कदापि कार्य सिद्धि को प्राप्त नही कर पाते। सशय एव साहस के कार्य मे व्यापृत हुए बिना मनुष्य कल्याण का भागी नही हो सकता। इसीलिए मनुष्य को पूर्ण साहस के साथ उचित कार्य मे तत्पर होना चाहिये—

"नालसा: प्राप्नुवन्त्यर्थान् न क्लीवा नाभिमानिन: ।
न च लोकरवाद्भीता न वै शश्वत्प्रतीक्षिण: :"[4]
"न सशय मनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
सशय पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ।"[5]

---

१. महाभारत—आदिपर्व, ७, ३.
२. पञ्चरात्र—३, ४.
३. महाभारत—आदिपर्व, ११५, ३८—३९.
४. वही—शान्तिपर्व, १४०, २३.
५. वही—शान्ति पर्व १४०, २४.

ऊपर की विचारणा से यह निर्गत होता है कि मानव व्यवहार के लिए ऐसे नीति सिद्धान्तो का निर्देश नही किया जा सकता जिनका विभिन्न अवस्थाओ मे अन्धभाव से अनुसरण किया जा सके। वस्तुतः मानव व्यवहार के क्षेत्र मे व्यवहार की दिशा का परिवर्तन नितान्त स्वाभाविक है। जिस प्रकार मनुष्य का वृद्धि मूलक व्यापार उसकी अन्तर्दृष्टि पर निर्भर करता है उसी प्रकार उसका नैतिक व्यवहार भी। जिस व्यक्ति मे उस प्रकार की अन्तर्दृष्टि का अभाव है वह सदैव नैतिक आचरण करेगा, इसमे सन्देह है।

नैतिक निर्णय के क्षेत्र मे एक अन्य प्रकार के द्वन्द्व की सम्भावना रहती है। मानव को प्राय दो कार्य दिशाओ मे ऐसा चुनाव करना पड़ता है, जो पूर्णतया वाञ्छनीय नही। साधारण व्यक्ति के लिए विभिन्न आदर्शों द्वारा निर्धारित विरोधी नैतिक मूल्यो को आदर देना कठिन होता है। परन्तु असाधारण व्यक्ति नैतिकता के परिवेश मे यथावसर परिवर्तन प्रस्तुत कर उसे नवीन रूप देने की चेष्टा करते हैं।

इस दृष्टि से देखने से यह कहा जा सकता है कि व्यवहार एव आचार के क्षेत्र मे नीति सम्बन्धी तथ्य मानव के आत्म सयम एव परहित साधन की भावना के पोषक होते हैं। अन्तर्दृष्टि एव आत्म परीक्षण की प्रक्रिया के द्वारा वह साधारण मानव से उठकर अन्य व्यक्तियो के विकास एव उन्नति मे अभिरुचि पूर्ण हो जाता है। स्वार्थमय जीवन सुखी जीवन का आदर्श नही है, स्वय को सुखी बनाने का सर्वोपरि प्रकार यही होता है कि मानव मात्र को सुखी एव आनन्द युक्त बनाने का प्रयास किया जाय। यह उदार प्रवृत्ति ही मनुष्य को सच्चा सुख प्रदान कर सकती है।

नारी समाज और नैतिक आदर्श

व्यवहार एव आचरण के क्षेत्र में नैतिक मूल्यो का परीक्षण पिछले परिच्छेद मे किया जा चुका है। नारी सस्कृति के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान एव नारी विषयक नैतिक आदर्शों के प्रति समाज का दृष्टिकोण किसी समाज की सभ्यता का मापदण्ड है।

भारतीय परम्परा मे नारी का उत्कृष्ट स्थान रहा है। वह पुरुष की सहयोगिनी है एव उसके गृहस्थ की सञ्चालिका है। वह मित्र के समान, हित कार्यों मे, उचित परामर्श देकर उसे अग्रसर करती है। परिवार मे उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान मानाजाता है। गृह को स्वर्ग बनाने वाली होने के कारण वह गृह-लक्ष्मी के नाम से उद्बोधित की जाती है। भारतीय जीवन मे स्त्रियो को न केवल समान अधिकार ही थे, प्रत्युत गृह सम्बन्धी सभी कार्यों मे उनका प्राधान्य किससे छिपा है। कोई भी धार्मिक कृत्य पत्नी के अभाव मे सर्वथा असम्भव माना गया है।

श्रेष्ठ लक्षणो वाली स्त्रियां गृह की विभूति होती हैं। उनके स्नेह पूर्ण व्यवहार से गृहस्थ जीवन स्वर्ग बन सकता है। स्त्री और पुरुष दोनो को गृहस्थ की गाडी के दो पहिये बताये जाते हैं, इससे उनका महत्त्व स्वत एव स्पष्ट हो जाता है।

सुलक्षणी

सुलक्षणी नारी मे सामान्यत: वे सब गुण होते हैं, जिनके द्वारा गृहस्थ आनन्दोल्लास का केन्द्र बनकर पुरुष को सर्वतोमुखी उन्नति प्रदान करता है। पति की इच्छा का अनुगमन करना सद् गृहणी का प्रमुख कर्तव्य होता है। चन्द्रिका का चन्द्रमा से एव विद्युत् का घन से सदा संयोग ही इसका निदर्शन है। जब अचेतन पदार्थों की ही यह अवस्था है तो स्नेह से सम्वलित, भाव-प्रवण नारी का तो कहना ही क्या—

"शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदा· पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्न हि विचेतनैरपि ।"[1]

स्त्रियो मे दाक्षिण्य गुण होना शुभ लक्षण माना गया है। दाक्षिण्य अथवा उदारता स्त्रियो का उत्तम भूषण है। दाक्षिण्य से रहित सौन्दर्य बिना पुष्प के उद्यान के समान है।[2] सुलक्षण युक्त स्त्रियाँ गृहिणी, मन्त्री, एकान्त की सखी आदि सब कुछ होती है—

"गृहिणी सचिव: सखी मिथ· प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वा वद किं न मे हृतम् ।"[3]

जीवित अवस्था मे भर्ता ही उसका देवता अथवा ईश्वर का स्वरूप होता है।[4] देवताओ की पूजा वन्दना को भी छोडकर भी पति की सेवा करने वाली उत्तम स्वर्ग को प्राप्त करती है—

"भर्तु शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ।
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।
शुश्रूपामेव कुर्वीत भर्तु. प्रिय हिते रता ।"[5]

उच्च वश एव विविध गुणो से उत्पन्न एव व्रतोपवास आदि मे निरन्तर निरत रहने वाली होते हुए भी पति सेवा से पराङ्मुख होकर नारी पापगति अथवा अधोगति को प्राप्त करती है—

"व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ।
भर्तार नानुवर्तेत सा तु पापगतिर्भवेत् ।"[6]

---

१. कुमार सम्भव—६, ३३.
२. "दाक्षिण्यमौषध स्त्रीणा दाक्षिण्य भूषण परम् ।
दाक्षिण्यरहित रूप निष्पुष्पमिव काननम् ।" बुद्धचरित—४, ७०.
३. रघुवश—८, ६७.
४. "जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवत प्रभुरेव च ।" रामायण—अयोध्याकाण्ड, २४, २१.
५. रामायण—अयोध्या काण्ड, २४, २६—२७.
६. वही—अयोध्या काण्ड २४, २५—२६.

अपने पति के प्रिय और हित मे सदा तत्पर रहकर उसका अनुसरण करना नारी का शाश्वत धर्म है। वह चाहे गुणवान् हो अथवा निर्गुण वही उसका साक्षात् देवता है—

"भर्ता हि खलु नारीणा गुणवान्निर्गुणोपि वा।
धर्मं विमृशमानाना प्रत्यक्ष देवि दैवतम् ।"[1]

पति ही उसका सर्वस्व होता है। सौ पुत्रो की माता होते हुए भी पति से विरहित स्त्री दुःख को ही प्राप्त करती है। पिता, माता, भ्राता आदि से कही बढकर पति का सहयोग उसे अपेक्षित है—

"नापति सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा।
मित ददाति हि पिता मित माता मित सुतः।
अमितस्य हि दातार भर्तार का न पूजयेत् ।"[2]

कुलक्षणी

इसके विपरीत अवगुण युक्त, अविश्वसनीय एव निर्दयता, कपट आदि से ओत प्रोत नारी सदा गृहस्थ की सुख और शान्ति का सवनाश कर देती है। स्त्रियो के लिए सब से पहला अवगुण पति का परित्याग माना गया है—

"भर्तुः किल परित्यागो नृशसः केवल स्त्रियाः ।"[3]
"नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयो लोकयोर्वीर पत्या या सप्रसाधते ।"[4]

विपत्ति ग्रस्त पति को स्त्रिया परित्यक्त कर देती हैं, पति के साथ भोगे हुए सुख को विस्मृत कर सहसा वे प्रदुष्ट हो जाती हैं तथा दीन एवं हीन अवस्था मे पति से पराङ्-मुख हो जाती हैं। वे सदैव विकार युक्त असत्य आचरण करने वाली, क्रोध शील, हृदय शून्य, एव क्षण भर प्रेम करने वाली, अतएव पाप सकल्प होती हैं—

१. रामायण—अयोध्याकाण्ड, ६२, ८.
२. वही—३९, ३०—३१.
३. वही—२४, १२.
४. वही—६२, १३.

"भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः ।
एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ।
असत्यशीला विकृता दुर्गा अहृदयाः सदा ।
युवत्यः पापसंकल्पाः क्षणमात्रविरागिणः ।
न कुलं न कृतं विद्या न दत्तं नापि संग्रहः ।
स्त्रीणां जहाति हृदयमनित्यहृदया हि ताः ।"[1]

नारी के अनेक अवगुणों का परिगणन किया गया है, जिनमें प्रधान हैं-चञ्चलता अविश्वसनीयता, माया पटुता, निर्दयता, अपवित्रता, नीचजनानुरक्ति एवं हृदय की बातों को गुप्त रखने की भावना आदि । इन्हीं अवगुणों के कारण अशुभ लक्षणवती स्त्रियों का परित्याग ही उचित समाधान है—

शूद्रक ने स्त्रियों पर विश्वास करने को एक मूर्खता पूर्ण कार्य बताया है । समृद्धि एवं नारी दोनों ही सर्पिणी के समान कुटिल चेष्टाएं करती हैं—

"अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति ।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्यो भुजङ्गकन्या परिसर्पणानि ।"[2]

अभिमान एवं अहंकार से परिप्लुत स्त्रियाँ दोनों कुलों का नाश कर देती हैं । जिस प्रकार कूलङ्कषा एवं जल के प्रचण्ड प्रवाह से युक्त नदी समीपवर्ती दोनों तटों को नष्ट कर डालती है उसी प्रकार नारी भी असावधानी एवं दर्प से अपने पितृ-कुल एवं पति-कुल दोनों का सर्वनाश कर देती है —

"कुलद्वयं हन्ति मदेन नारी ।
कूलद्वयं क्षुब्धजला नदीव ।"[3]

राज्य सभा में स्वयं उपस्थित हुई शकुन्तला से दुष्यन्त ने कहा कि स्त्रियाँ स्वभाव से ही असत्याचरण करने वाली होती हैं—

---

१. रामायण—अयोध्या काण्ड, ३६, २१— २४.
२. मृच्छकटिक—४, १२.
३. अविमारक—१, ३.

"असत्यवचना नाय. कस्ते श्रद्धास्यते वच ।"[1]

ये स्त्रियाँ विद्युत् के समान चञ्चल, शस्त्रो के समान तीक्ष्ण, एवं गरुड तथा पवन के समान अस्थिर होती है। चपला के समान इनका चरित्र भी चञ्चल एव अविश्वसनीय होता है, शस्त्रो की तीक्ष्णता के समान इनका हृदय कठोर, निर्दय एव तीक्ष्ण होता है—

शतह्रदाना लोलत्व शस्त्राणा तीक्ष्णता तथा ।
गरुडानिलयोः शैघ्र्यमनुगच्छन्ति योषित ।

सबसे बडा कलङ्क जो नारी जाति पर लगाया गया है, वह है विपन्न अवस्था मे पति का परित्याग। कोशल्या ने वन गमन के लिए उत्सुक अपनी पुत्रवधू सीता से कहा कि सृष्टि के आरम्भ से ही स्त्रियो का यह स्वभाव रहा है कि जब पति धनसम्पन्न एव सुसमृद्ध अवस्था मे हो तो वे उसका अनुसरण करती है परन्तु उसकी विपत्ति की दशा मे वे उसका त्याग कर देती हैं—

"एषा हि प्रकृति स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन।
समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थ त्यजन्ति च।"[3]

इस प्रकार भारतीय प्राचीन मनीषियो ने कुलक्षिणी स्त्रियो के दोषो को प्रतिपादित करके एव उनसे उद्भूत विद्रोह, पतन एव विनाशकारी अवस्था को प्रकाशित कर, समाज मे आदर्श स्थिति के माध्यम से उनके नैतिक उन्नयन का सफल प्रयास किया है।

पतिव्रता

समाज मे स्त्रियो के पातिव्रत्य पर सदा से ही प्रश्रय दिया गया है। पातिव्रत्य का पालन करने वाली स्त्री अपने प्रभाव से सब वस्तुओ पर विजय प्राप्त कर लेती है। वह एकाग्र चित से अपने पति का ही चिन्तन करती है। साम्राज्य की अपार समृद्धि उसे अपने पथ से विचलित नही कर सकती। पृथ्वी का वैभव तो क्या त्रिलोकी का वैभव भी उसे अपने मन्तव्य से च्युत नही कर सकता। हनुमान् ने सीता के सम्बन्ध में इसी तथ्य की ओर सकेत किया है। उन्होने कहा कि सीता एकाग्र चित होकर राम का ही अनुशीलन करती थी—

१. महाभारत—आदि पर्व, ७४, ७३
२ रामायण—अरण्य काण्ड, १३, ६.
३. वही—अयोध्या काण्ड, ३९, ५

"एकस्थहृदया नून राममेवानुपश्यति ।
भर्ता नाम पर नार्या भूषणं भूषणादपि ।"[1]

पातिव्रत्य और प्रेम का महत्त्व बताते हुए हनुमान् ने कहा कि यदि त्रिलोकी का राज्य और जनक नन्दिनी की तुलना की जाय तो त्रिलोकी का समस्त राज्य सीता की एक कला के समान भी न हो—

"राज्य वा त्रिषु लोकेषु सीता वा जनकात्मजा ।
त्रैलोक्यराज्य सकल सीताया नाप्नुयात्कलाम् "[2]

रावण अपना सारा वैभव सीता के चरणो मे रख कर उससे आग्रह करता है—"भव मैथिलि भार्या मे ।"[2] परन्तु वह उसकी ओर आँख उठाकर भी नही देखती । वह तो पति वियोग से दीन है, मलिन है और सामारिक सुख भोग से रहित है—

"एकवेणी अध:शय्या ध्यान मलिनमम्बरम् ।
अस्थानेऽप्युपवासश्च नैतान्यौपयिकानि ते ।"[3]

वह तो निरानन्दा है, और तपस्विनी है । पति वियोग नारियो का सच्चा पारखी है । दुष्यन्त के विरह मे शकुन्तला का चित्रण इसी तथ्य को प्रगट करता है—

"वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणि: ।
अति निष्करुणस्य शुद्धशीला मम दीर्घ विरहव्रत बिभर्ति ।"[4]

वह तो अत्यन्त कठोर पति के विरह व्रत के पालन मे तापसी के समान निरुत्सवा रहकर जीवन यापन कर रही है । मन, वचन और कर्म से पति के प्रति अव्यभिचार एव उसके चित्त का अनुगमन—ये ही पातिव्रत्य की कसौटी मानी गयी है ।

---

१. रामायण—सुन्दर काण्ड, १६. २५.—२६.

२. रामायण—सुन्दर काण्ड, १६, १४.

३. वही—२०, १६.

४. वही—२०, ८.

५. अभिज्ञान शाकुन्तलम्—७, २१.

सीता ने अपनी पवित्रता एव शुद्धि को प्रमाणित करते हुए अग्निदेव से प्रार्थना की—क्यो कि वह मन, वचन एव कर्म से पति के प्रति कर्तव्य से कभी भी स्खलित नही हुई अत' वह उसकी पवित्रता का साक्षी हो।[1] माता पृथ्वी से भी उसने यही कहा था—

"वाड्मन' कर्मभि· पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे ।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमिहार्हसि ।"[2]

मिथ्या कलङ्क से दूषित होकर जीवित रहना उसे अभीष्ट नही। पातिव्रत्य के प्रभाव की महिमा कितनी अपार एव असीम है कि स्वय अग्निदेव प्रगट होकर सीता की विशुद्धि, पवित्रता एव निष्पापता को प्रमाणित करते है—

"एषा ते राम ! वैदेही पापमस्या न विद्यते।
विशुद्धभावां निष्पापा प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम् ।"[3]

हनुमान् के मुख से सीता की पति वियोग दु खिता एव दयनीय अवस्था का वर्णन प्राप्त हो जाता है। वह स्वभाव से ही कृशाङ्गी है और उस पर भी पति वियोग रूपी वज्र से वह आहत है—

"सा प्रकृत्यैव तन्वङ्गी त्वद्वियोगाच्च कर्पिता ।
प्रतिपत्पाठशीलस्य विद्येव तनुता गता ।"[4]

पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति पर पूर्ण विश्वास रखती हैं। वह आत्म विकत्थना करके अपने ही दोषो को दु ख का कारण मानती है। राम और लक्ष्मण देवताओ को भी दण्ड देने की क्षमता धारण करते हैं। सीता की धारणा है कि यह तो उसी के पापो का प्रतिफलन है तथा उसके दु खो का विनाश काल अभी नही आया है—

---

१. "यथा मे हृदय नित्य नापसर्पति राघवात् ।
तथालोकस्य साक्षी मा सर्वत.पातु पावक. ।
रामायण—युद्ध काण्ड—११६, २४

२. रघुवश—१५, ८१.

३. रामायण—युद्धकाण्ड, १२१, ५—१०.

४. वही—सुन्दर काण्ड, ५६, ३५—३६.

"अथवा शक्तिमन्तौ तौ सुराणामपि निग्रहे ।
ममैव तु न दुःखानामस्ति मन्ये विपर्यय ।"[1]

कालिदास ने भी इस तथ्य का सीता के द्वारा प्रतिपादन कराया है। श्रेष्ठ बुद्धि वाले राम के द्वारा मनमानी की गयी है ऐसी सीता को आशङ्का कदापि नही है। वह तो राम के द्वारा किये गये इस परित्याग को अपने पूर्व जन्म मे किये पापो का असह्य फल रूप वज्रपात मानती है—

"कल्याणबुद्धेरथवा तवाय न कामचारो मयि शङ्कनीय ।
ममैव जन्मान्तरपातकाना विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्य ।"[2]

सीता मिथ्या कलङ्क से कलङ्कित, अपने जीवन को इस दु:ख मे धारण करना नही चाहती पर उसका अपने पति के प्रति कुछ कर्तव्य अभी अवशिष्ट रह गया है। राम की सन्तति अभी उसके गर्भ मे है, जिसका पालन पोषण उसका प्रमुख कर्तव्य है। पुत्र के बिना इस विश्व प्रपञ्च से मुक्ति मिलना सम्भव नही—

"किम्वा तवात्यन्तवियोगमोघे
कुर्यादुपेक्षा हत जीविते ऽस्मिन् ।
स्याद्रक्षणीय यदि मे न तेज ।
त्वदीयमन्तर्गतमन्तराय ।[3]

रक्षा करने योग्य सीता के गर्भ मे स्थित राम का तेज यदि बाधक न होता तो सतत विरह के कारण निष्फल अपने अभागे जीवन की उपेक्षा करके उसे अवश्य नष्ट कर देती। पातिव्रत्य का यह कितना उच्च आदर्श है कि पति के द्वारा निष्ठुरता एव निर्दयता पूर्वक त्यक्त होने पर भी वह अगले जन्म मे पुन राम को ही पति रूप मे प्राप्त करने के हेतु अपने कुल देवता सूर्य से प्रार्थना करती है। पति-देवता सीता के ये विचार आगामी किसी भी युग मे आदर्श पत्नीत्व के लिए मापदण्ड प्रस्तुत कर सकते हैं—

---

१. रामायण—३६, १४.

२. रघुवश—१४, ६२

३ रघुवश—१४, ६५.

"साह तप सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वंप्रसेतुश्चरितु यतिष्ये ।
भूयो यथा मे जननान्तरेषु त्वमेव भर्ता नच विप्रयोग. ।"[1]

सन्तति को जन्म देकर कुल देवता सूर्य की ओर देखती हुई वह तप करेगी जिससे उसे राम ही पति मिले और आजीवन कभी वियोग न हो ।

सदाचार के विरुद्ध आचरण करने वाली स्त्रियो का समाज मे कथमपि सम्मान नही होता । एक पतिव्रत को तिलाञ्जलि देकर कामवशगा नारी सदैव गर्हणीय एव सर्वथा हेय मानी गयी है । समागम की इच्छा से महावृष के पास जाने वाली गाय के समान काम के बाण सम्पात से सन्तप्त शूर्पणखा लक्ष्मण के पास पुन, गायी—

"लक्ष्मण सा वृषस्यन्ती महोक्ष गौरिवागमत् ।
मन्मथायुधसम्पात व्यथमानमति. पुन· ।"[2]

ऐसी व्यभिचार परायण नारियाँ, मधुर वचनो से मन का हरण कर लेती हैं । अश्वघोष[3] के अनुसार ऐसी नारियो की वाणि मे मधु रहता है पर उनके हृदय मे हलाहल विष व्याप्त है— ·

"वचनेन हरन्ति वल्गुना निशितेन प्रहरन्ति चेतसा ।
मधु तिष्ठति वाचि योपिता हृदये हालाहल विषम् ।

ससार मे स्त्रियो का स्वभाव अत्यन्त अपवित्र एव विकृत कहा गया है—

अशुचि विकृतश्च जीवलोके वनितानामयमीदृश· स्वभाव ।
वसनामरणैस्तु वञ्च्यमान , पुरुषः स्त्रीविषयेषु राममेति ।"[5]

नारी का काम "कामश्चाष्टगुणः स्मृत " के अनुसार अष्टगुण ही नही

---

१ रघुवश—१४, ६६.
२. भट्टी काव्य—४, ३०
३. न वचो मधुरं न लालन स्मरति स्त्री न च सौहृद क्वचित् ।
कलिता वनितेव चञ्चला तदिहारिष्विव नावलम्बते । सौन्दर नन्द-८, ३८.
४. सौन्दर नन्द—८, ३५.
५. बुद्ध चरित—५, ६४

अपितु शतगुण या सहस्र गुण हो जाता है। बहुत बढा हुआ काम समय की प्रतीक्षा नही कर सकता। राम के अनुकूल न होने पर शूर्पणखा लक्ष्मण से ही रति प्रार्थना करती है—

"सा सीतासन्निधावेव त वव्रे कथितान्वया।
अत्यारूढो हि नारीणामकालज्ञो मनोभव ।"[1]

काम के प्रभाव मे समय असमय का ज्ञान नही रहता।

नारी की स्थिति ही किसी समाज की श्रेष्ठता का सच्चा मापदण्ड है। सस्कृत साहित्य मे नारी की स्थिति का यथार्थ स्वरूप जानन के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। उसमे प्रधान एव आनुषङ्गिक नारियो के विशद चित्र अङ्कित है, जिनमे गुण और दुर्गुण, महत्ता एव दुर्बलता आदि के मिले जुले रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाते हैं।

नारी के नैतिक आदर्शों का कई दृष्टि से अध्ययन किया जा सकता है। समाज मे उसके अनेक रूप कन्यात्व, पत्नीत्व, गृहिणीत्व, मातृत्व दृष्टिगोचर होते हैं अत उन दृष्टियो से यह अध्ययन समीचीन है।

पत्नी

नैतिक गुणो के अतिरिक्त आदर्श पत्नी मे शारीरिक आकर्षण को भी अपेक्षा की जाती है। पत्नी के मनोहर स्मित, हाव-भाव, कटाक्ष एव वाणी माधुर्य उसे पति के समस्त अनुराग का भाजन बना देते हैं। परन्तु पत्नी के रूप और यौवन का यह समस्त आकर्षण तभी पूर्ण और सार्थक होता है, जब उसका हृदय और स्वभाव भी सुन्दर हो। वस्तुत पत्नी का सारा शारीरिक सम्मोहन, उसके सारे शृङ्गार और प्रसाधन उसके सर्वोत्कृष्ट भूषण पति के अभाव मे निस्सार एव निष्प्रभाव हो जाते है। पति प्रेम ही स्त्री का एक मात्र शृङ्गार है। सौन्दर्य प्रसाधन एव शृङ्गार उसका एकमात्र पति के लिए है—

आत्मानमालोक्य च शोभमाना—
मादर्शविम्बे स्तिमितायताक्षी।
हरोपयाने त्वरिता बभूव—
स्त्रीणा प्रियालोकफलो हि वेष. ।[2]

---

१. रघुवश—१२, ३२.
२. कुमार सम्भव—७, २२.

पार्वती स्वय अपने रूप की मधुरिमा को देखकर मोहित हो गयी और पति पर उस मोहक रूप का जादू डालने के लिए व्यग्र हो उठी। कालिदास ने सौन्दर्य को प्रियतम का प्रेम एव अनुग्रह का आधार माना है। पर यदि वह अपने इस लक्ष्य मे सफलता प्राप्त नही कर पाती तो वह अपने सौन्दर्य की निन्दा करती है--

"तथा समक्ष दहता मनोभव पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूप हृदयेन पार्वती प्रियेपु सौभाग्यफला हि चारुता।"[1]

अपनी सुशीलता एव मनस्विता के सहारे उसे पति का पूर्ण विश्वास भाजन बनने का प्रयास करना चाहिये। स्त्रियाँ अपने पति से सम्मान एव प्रेम को प्राप्त करके स्वय को कृतकृत्य समझती हैं—

"धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैपधोऽपि।
इत स्तुति. का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरली करोति।"[2]

उसे प्रियम्वदा. मृदुभाषिणी एव स्मितपूर्वाभिभाषिणी होना चाहिये। पति सुश्रूषा ही उसका सर्वोपरि धर्म है। वाल्मीकि ने राम को स्वर्ण शय्या पर आसीन एव सीता को उनके पास खडी चँवर डुलाती हुई दिखाकर पत्नी की विनम्रता, सेवा-भावना एवं प्रगाढ अनुरक्ति को साकार रूप दे दिया है—

"स्थितया पार्श्वतश्चापि वालव्यजनहस्तया।
उपेत सीतया भूयश्चित्रया शशिम यथा।"[3]

धार्मिक कृत्यो मे पत्नी का बडा प्रभाव माना गया है। वे धार्मिक कार्यों की मूल कारण कही गयी हैं—

"तद्दर्शनादभूच्छम्भोर्भूयान् दारार्थमादरः।
क्रियाणा खलु धर्म्याणा सत्पत्न्यो मूलकारणम्।"[4]

---

१. कुमार सम्भव—५, १.
२ नैषध चरित—३, ११६.
३. रामायण—अयोध्या काण्ड, १६, १०
४. कुमार सम्भव, ६, १३.

पति के वियोग होने पर वह प्राण धारण करने की भी अपेक्षा नही करती ।[1] पति के बिना उसे स्वर्ग का सुखमय आवास भी रुचिकर नही है—

"स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये ।"[2]

मृत्यु के अनन्तर भी पति पत्नी का शाश्वत सम्बन्ध माना गया है । धर्मानुसार सकल्प करके पिता के द्वारा दी गयी नारी परलोक मे भी उसी का अनुगमन करती है—

"इहलोके पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल ।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्य भावेऽपि तस्य सा ।[3]

पति के प्रवास मे होने पर स्त्री को विशेष नियम व्रतो का पालन करना होता है । पति के द्वारा निर्दिष्ट आदेशो का पालन पत्नी के लिए नितान्त आवश्यक है। व्रत, उपवास, सत्य का पालन, सरल एव स्वल्प वेपभूपा शृ गार, आमोद प्रमोद, भोजन आदि मे अनासक्त रहकर पति के चिन्तन मे ही रत रहना उसका परम कर्तव्य है—

"न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी ।
न भोक्तुं नाप्यलङ्कर्तुं न पानमुपसेवितुम् ।[4]

प्रोषितपतिका के लिए केवल एक वेणी धारण करना, प्रार्थना एव व्रत नियमो मे स्वय को आबद्ध रखना तथा तपस्विया का जीवन यापित करना आदि समुचित विधि नियम कहे गये हैं । क्षमा का आचरण, भूमि शयन, व्रत नियमो का पालन, स्वधर्म का अनुसरण तथा पतिव्रता के आदर्शो का अनुगमन करने मे उसके जीवन यापन की सार्थकता बतायी गयी है—

---

१ पति हीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम् । रामायण—अयोध्या काण्ड, २६, ७. द्रष्टव्य—पति हीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् । महाभारत—शान्ति पर्व, १४८, ६.

२. रामायण—अयोध्या काण्ड, २७, २०.

३. रामायण—अयोध्या काण्ड, २६, १८, तुलनीय—
"त स्वसा नागराजस्य कुमुदस्यैव कुमुद्वती ।
अन्वगात्कुमुदानन्द शशाङ्कमिव कौमुदी । रघुवंश-१७, ६.

४. रामायण—५, ११, २.

"अनन्य देवत्वमिय क्षमा च भूमौ च शय्या नियमश्च धर्मे ।
पतिव्रतात्व विफल ममेद कृत कृतघ्नेष्विव मानुषाणाम् ।" [1]

किसी पर पुरुष के सम्पर्क मे, चाहे वह देवराज इन्द्र ही क्यो न हो, उमे नही आना चाहिए । हनूमान् के द्वारा पीठ पर बैठाकर राम के पास ले जाने के प्रस्ताव को सीता ने अपने एवं राम के सम्मान के लिए अनुपयुक्त समझ कर अस्वीकार क॰ दया—

"भर्तृभक्ति पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर ।
न स्पृशामि शरीरन्तु पुंसो वानर पुङ्गव ।" [2]

वस्तुतः पत्नी ही पति के भाग्य का अनुसरण करती है । पति ही उसके लिए परमेश्वर है और इस लोक मे एव परलोक मे भी वही गति है—

"आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्र स्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जाना, स्व स्व भाग्यमुपासते ।
भर्तुर्भाग्यन्तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजन. ।
इह प्रेत्य च नारीणा पतिरेको गति. सदा ।" [3]

पति के प्रति उसे अगाध विश्वास रहता है । उसके प्रति वह किसी प्रकार के अनुचित व्यवहार कर दोषी नहीं बनना चाहती बिना अपराध परित्याग करने वाले राम के प्रति मन मे वह किसी दुर्भावना का उदय नही होने देती, केवल अपनी पापी आत्मा की ही नन्दा करती रहती है—

"न चावदद्भर्तुरवर्णमार्या निराकरिष्णो वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिर दु खभाज पुन पुनर्दुष्कृतिन निनिन्द ।" [4]

सीता ने वर्णाश्रम धर्म के रक्षक राजा राम से सामान्य तपस्विनी की तरह रक्षा की याचना की । पत्नी रूप मे न सही पर वर्णाश्रम धर्म के पालक के नाते वह भी रक्षा पाने की अधिकारिणी है ही—

---

१. रामायण—सुन्दर काण्ड, २८, १२.
२. वही—३७, ६०.
३. रामायण—अयोध्या काण्ड, २७, ३-५
४. रघुवश—१४, ५७.

"नृपस्य वर्णाश्रमपालन यत्स एव धर्मों मनुना प्रणीत· ।"
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाह तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ।"[1]

लक्ष्मण के प्रत्यावर्तन के समय सीता ने राम के पास एकमात्र उपालम्भ भेज दिया कि मिथ्या लोकापवाद के भय से किया गया मेरा परित्याग क्या तुम्हारे लोक विख्यात कुल के लिए योग्य है—

"वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम् ।
मा लोकवादश्रवणादहासी श्रुतस्य किन्तत्सदृश कुलस्य ।"[2]

यहाँ तक मोक्ष प्राप्ति के लिए वन मे जाते हुए अपने पति के साथ सत् पत्निया वन मे जाकर तपोव्रत का सम्यक् अनुशीलन करना अपना कर्तव्य समझती हैं—

"प्रायेण मोक्षाय विनिःसृताना शाक्यर्षभाणा विदिता स्त्रियस्ते ।
तपोवनानीव गृहाणि यासा साध्वीव्रत कामवदाश्रितानाम् ।"[3]

पति वियोग मे जीवन के आनन्दोपभोग की अपेक्षा मृत्यु उन्हे अधिक अभिमत होती है । पति के बिना क्षण मात्र भी जीवित रहना वस्तुत· पत्नी के लिए निन्दा का विषय बन गया है—

"मदनेन विनाकृता रतिः क्षणमात्रं किल जीवितेति मे ।
वचनीयमिद व्यवसित रमण ! त्वामनुयामि यद्यपि ।"[4]

सीता भी राम के·द्वारा दूषित एव कलङ्कित घोषित की जाने पर लक्ष्मण से चिता बनाने के लिए याचना करती है । मिथ्या कलङ्क से दूषित होकर जीवन यापन उसे अभीष्ट नही है—

"चिता मे कुरु सौमित्रे व्यसनस्यास्य भेषजम् ।
मिथ्योपघातोपहता नाह जीवितुमुत्सहे ।"[5]

---

१. रघुवश—१४, ६७
२. वही—१४, ६१.
३. सौन्दर नन्द—६, ४०.
४. कुमार सम्भव—४, २१
५. रामायण—युद्ध काण्ड, ११६, १८.

आदर्श पत्नी का यह चित्र, जो नैतिक गुणो से अलङ्कृत एव शारीरिक आकर्षण से ओत प्रोत है-सस्कृत काव्य की अनुपम निधि है। ऐसी पत्नी ही पति की सुख और सम्पत्ति की मूल भित्ति है। जीवन यात्रा के एकाकी मानव पथिक को यही सेवा एव सहानुभूति का पाथेय प्रदान करती है।

गृहिणी

गृहस्थी की आन्तरिक अवस्था मे भी पत्नी का परमोत्कृष्ट प्रभाव माना जाता है। गृह कार्य मे तत्पर गृहिणी के आदर्श चित्रो से सस्कृत साहित्य परिपूर्ण एवं परिप्लुत है।

अपने श्वश्रू एव श्वशुर का प्रति दिवस पादाभिनन्दन करके उनकी शुश्रूषा मे निरत रहना नव वधू का प्रमुख कर्तव्य माना गया है। वन मे जाते समय राम के द्वारा सीता को दिये गये आदेश मातृ-पितृ-सेवा के इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं—

"वन्दितव्यो दशरथ, पिता मम जनेश्वर।
माता च मम कौसल्या वृद्धा सन्तापकर्शिता।"[1]

महाकवि कालिदास ने महर्षि कण्व के मुख से सद्गृहिणीत्व प्राप्ति के लिए शकुन्तला को उपदेश दिलाया है। श्वसुर गृह को जाती हुई किसी भी नव वधू के लिए यह आदर्श गृहिणीत्व का उपदेश सन्मार्ग का प्रदर्शक होगा—

शुश्रूषस्व गुरून्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने।
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीप गमः।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी।
यान्त्येव गृहिणीपद युवतयो वामाः कुलस्याधयः।"[2]

बाल रामायण मे भी नव वधू के हेतु दिया गया उपदेश इसी तथ्य को प्रस्तुत करता है। नारी का बहुमुखी व्यवहार एव सदाचरण ही उसके आदर एव सम्मान को तथा गृहस्थ जीवन के आनन्द और आमोद प्रमोद को उत्तरोत्तर बढाते हैं—

---

१. रामायण—अयोध्या काण्ड, २६, ३०—३१.
२ अभिज्ञान शाकुन्तल—४, १८.

"चिर्व्यीजा दयिते ननान्दृषु नता श्वश्रूषु भक्ता भव।
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेरा सपत्नीष्वपि।
पत्युर्मित्रजने सनम्रवचना खिन्ना च तद्द्वेष्टृषु।
स्त्रीणा सवनन नतश्रु तदिद श्रेष्ठौषध भर्तृषु।"[1]

विशाख दत्त ने भी श्रेष्ठ गृहिणी के गुणो का परिगणन किया है। वह गुणवती है, सब उपायो की कारण स्वरूपा है, सर्ग स्थिति के कारण-भूत धर्म, अर्थ और काम की साधिका है, गृहस्थ की नीति विद्या है तथा सब कार्यो की शिक्षा देने वाली है—

'गुणवत्युपायनिलये स्थिति हेतोः साधिके त्रिववर्गस्य।
मद्भवन नीतिविद्ये कार्याचार्ये द्रुतमुपेहि।"[2]

महाकवि श्री हर्ष ने उसे द्विजो एव मित्र जनो का हित करने वाली, घर की हसिनी के समान शोभा वढाने वाली, सुन्दर एव चन्द्र कमलिनी के समान पर पुरुष से विद्वेष करने वाली कहकर सम्वोधित किया है—

द्विज परिजन बन्धुहिते मद्भवनतटाक हसि मृदुशीले।
परपुरुष चन्द्रकमलिन्यार्ये कार्यादितस्तावत्।"[3]

गृहिणी तो पति के आश्रय मे रहकर सानन्द अपने समस्त धार्मिक कृत्यो का पालन करती हुई अपने जीवित सर्वस्व का सर्वथा अनुगमन करती है—

"अनुचरति शशाङ्क राहुदोषेऽपितारा
पतति च वनवृक्षे याति भूमि लता च।
त्यजति न च करेणु पङ्क लग्न गजेन्द्र
व्रजतु चरतु धर्म भर्तृनाथा हि नार्य।"[4]

---

१. वाल रामायण—४, ४४
२. मुद्रा राक्षस—१, ५.
३. नागानन्द—१, ४.
४. प्रतिमानाटक—१, २५, तुलनीय—
एतद्धि परम नार्या कार्य लोके सनातनम्। प्राणानपि परित्यज्य युद्भर्तृहितमाचरे। महाभारत - आदि पर्व—१५८, ४.

पति के वश मे रहने वाली पुत्रवती गृहिणी के रूप मे जीवन के परस्पर विरोधी धर्म, अर्थ और काम इन पुरुषार्थों का त्रिवेणी के समान मधुर समन्वय होता है—

"धर्मार्थ कामा खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसशय मे भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा।"[1]

अतिथि पूजन एव यज्ञ आदि मे सहचरी बनकर धर्म मे, मनोनुकूल होकर काम मे एव सुपुत्रवती और गृह व्यवस्थापिका होकर अर्थ मे वह सहायिका होती है।

सद् गृहिणिया अपने पति के अभिलषित कार्य मे प्रतिकूल आचरण नही करती-
"मेने मेनापि तत्सर्वं पत्यु कार्यमभीप्सितम्।
भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रता।"[2]

वे पति की निन्दा सुनना कभी अङ्गीकार नही करती। कालिदास के अनुसार जो महान् व्यक्तियो की निन्दा करता है केवल वही पाप का भागी नही होता अपितु वह भी पाप का भागी होता है जो उस निन्दा का श्रवण करता है—

"निवार्यतामालि किमप्यय वटु,
पुनर्विवक्षु स्फुरिताधरोत्तर।
केवल यो महतो ऽपभाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।"[3]

उक्त विवेचन यह स्पष्ट कर देता है कि सद् गृहिणियो को गृह की शान्ति एव सुख की स्थापना करने के लिए अनेक कर्तव्य करने पडते हैं। परिवार के सभी व्यक्तियो को अपने सुशील, मृदु एव सेवा परायण व्यवहार से प्रसन्न रखने का पूर्ण प्रयास उसकी स्थिति एव महत्त्व मे चार चाँद लगा देता है। वे पति की कल्याण कामना से व्रतो और नियमो का अनुष्ठान कर ब्राह्मणो एवं ऋषि महर्षियो का आदर सत्कार एव वन्दना आदि करती हुई उन्हे दक्षिणा आदि देकर गृहस्थ जीवन मे माङ्गलिकता एव अभ्युदय का प्रसार

---

१ रामायण—अयोध्या काण्ड, २१, २७.
२ कुमार सम्भव—६, ८६.
३. वही—५, ८३.

करती हैं। सीता जैसी आदर्श गृहिणी अपने पति के समस्त हृदय एव मस्तिष्क को अपने मे केन्द्रीभूत कर लेती है।[1]

पति-पत्नी-आनुकूल्य

स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध एव अनुकूलता पर जीवन की सुख और शान्ति निर्भर रहती है। उनके विचारो, भावनाओ विश्वासो एव धार्मिक प्रवृत्तियो के एकीकरण एव पारस्परिक हित अहित मे पूर्णतया ऐकमत्य पर ही गृहस्थ जीवन की पूर्णता आधारित रहती है। अपने अस्तित्व को दूसरे के अस्तित्व मे पूर्णतया लय करने एव प्रत्येक कर्म मे सहिष्णुता का अङ्गीकार करने से पति पत्नी का सघर्षमय एवं कण्टकाकीर्ण जीवन भी स्वर्गीय आनन्द एव सुख को उत्पन्न कर सकता है।

पति और पत्नी एक दूसरे के पूरक होते है। बिना पत्नी के पुरुष अपूर्ण है। वह अपनी पत्नी के सहयोग से पुत्र को प्राप्त करके ही पूर्णता को प्राप्त करता है—

"अर्धो ह वैष आत्मनस्तस्माद्यावज्जाया न विन्दते।
अर्धो ह तावद् भवति अथ यदैव जाया विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति।"[2]

उक्त उद्धरण इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि दोनो पति एव पत्नी की पारस्परिक पूर्ण अनुकूलता मे ही जीवन की साथकता है। पद्मपुराण भी इस तथ्य की पुष्टि करता है। दम्पत्ति के आनुकूल्य से धर्म, अथ एव काम–त्रिवर्ग की अभिवृद्धि होती है। यदि पत्नी, स्नेह युक्त एव अनुकूल आचरण करने वाली हो तो स्वर्ग की क्या आवश्यकता ? घर ही स्वर्ग के समान सुख एव आनन्द का प्रदाता बन जाता है। समस्त सासारिक सुखो एव भोगो का मूल आधार पत्नी ही होती है—

"आनुकूल्य हि दम्पत्योस्त्रिवर्गोदयहेतवे।
अनुकूल कलत्र चेत् त्रिदिवेन हि किन्तत।
प्रतिकूलं कलत्र चेन्नरकेण हि किन्तत:।
गृहाश्रम: सुखार्थाय पत्नीमूल·हि तत्सुखम्।"[3]

---

१. रामायण—अयोध्या काण्ड, २६, ३५.
२. शतपथ ब्राह्मण—५, १, ६, १०.
३. पद्म पुराण (उत्तर खण्ड)—२२३, ३६—३७.

पत्नी ही पुरुष का ऐसा मित्र है कि जो सभी दशा एव अवस्थाओ मे एव विषम से विषम परिस्थिति मे भी अपने पति का साथ देती है। अनेक बाधाएँ एव विषम प्रवृत्तियाँ भी उसे अपने दृढ निश्चय से विचलित नही कर पाती। वह पति के लिए जीवन सवस्व होती है। पुत्र पौत्रादि सभी के होते हुए भी पत्नी के अभाव मे पुरुष शून्यता का अनुभव करता है।[1] गृह एव गृहिणी का इतना सातत्य सम्बन्ध माना जाता है कि वह पुनः रूप ही बन जाती हैं। गृहिणी से रहित घर वन से भी अधिक भयानक एव सन्तापदायक हो जाता है।[2]

पति-पत्नी का यह पारस्परिक प्रेम एव सदाचार पारस्परिक सद्भावना एव विश्वास को जन्म देते हैं। मनु ने आचरण मे अव्यभिचार को ही दोनो का प्रमुख एव अनिवार्य कर्तव्य माना जाता है। अव्यभिचार की भावना से प्रसूत पारस्परिक विश्वास रति एव प्रीति को प्रदान करता है।

जैसा कि शब्द से प्रतीत होता है पत्नी का पालन पोषण एव सरक्षण करना पति का मुख्य कर्तव्य है। स्त्री के द्वारा अशिष्ट एव अप्रिय व्यवहार किये जाने पर भी पुरुष को अपनी पत्नी के साथ कटु व्यवहार नही करना चाहिये, रति, प्रीति एव धर्माचरण इन सभी का आधार पत्नी होती है—

"अप्रियोक्तोऽपि दाराणा न ब्रूयादप्रिय वच.।
रति प्रीतिश्च धर्मश्च तदायत्तमवेक्ष्य च।"[3]

पत्नी का भी पुरुष के समान ही सर्व प्रधान धर्म पातिव्रत्य माना गया है। इसके अतिरिक्त पत्नी को वे कार्य करने चाहिये, जिनसे उसके पति के हर्ष एव उल्लास मे अभिवृद्धि हो एव उसे तुष्टि[5] की उपलब्धि हो सके. सक्षेप मे यही पत्नी का उत्कृष्ट एव आवश्यक

---

१ पुत्र पौत्र वधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वत। भार्याहीन गृहस्थस्य शून्यमेव गृह भवेत्। महाभारत—शान्तिपर्व, १४४, ५

२ न गृह गृहमित्याहु गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहन्तु गृहिणीहीन कान्तारादतिरिच्यते। महाभारत—शान्तिपर्व, १४४, ६

३ अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिक।
एष धर्म. समासेन ज्ञेय· स्त्री पुसयो. पर। मनुस्मृति—९, १०१.

४. महाभारत—१, ९८, ३९.

५. 'सा हि स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्या भर्ता तु तुष्यति।" महाभारत—शान्तिपर्व, १४५, ३.

कर्तव्य है। पति ही उसका सर्वस्व होता है। परिवार के माता, पिता, भाई आदि सभी से उसका महत्त्व पूर्ण स्थान माना गया है। पिता सीमित देता हैं, भाई या पुत्र भी परिमित वस्तु ही दे पाते हैं परन्तु असीम एव अपरिमित देने वाले पति की तन, मन, वचन एव कर्म से सेवा करनी चाहिए।[1] इस लोक मे ही नही प्रत्युत परलोक मे भी वही उसकी गति है।[2]

स्त्री की प्रसन्नता पुरुष की प्रसन्नता मे ही निहित है। सती साध्वी सावित्री के भव्य विचार नारी जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर सकते हैं। पति के अभाव मे उसे सुख चाहिए और न समृद्धि। उसे स्वर्ग की आकाक्षा नही है। पति के वियोग मे जीवित रहने की अपेक्षा वह मृत्यु का आलिङ्गन करना श्रेयस्कर समझती है—

"न कामये भर्तृविना कृता सुखम्।
न कामये भर्तृविना कृता श्रियम्।
न कामये भर्तृविना कृता दिवम्।
न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितम्।"[3]

उसे तो सुख अथवा दुःख मे, सम्पत्ति अथवा विपत्ति मे-सभी परिस्थितियो मे छाया के समान पति का अनुगमन करना अभीष्ट है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि जीवन मे पति एव पत्नी के आनुकूल्य का अत्यधिक महत्त्व होता है। गृहस्थ जीवन के क्षेत्र मे, पत्नी की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ एव स्नेह सिक्त सुमधुर भावनाएँ न केवल सुख और आनन्द की वर्षा ही करती है प्रत्युत घर के वातावरण को हर्षोल्लास से परिपूर्ण कर देती हैं।

मातृत्व

पत्नी के जीवन की गौरवमय परिणति एव उसके व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास मातृत्व मे जाकर होता है। वश प्रवर्तन ही उसके समस्त स्नेह और सौन्दर्य की सफलता

---

१. मित ददाति हि पिता मित भ्राता मित सुत.।
अमितस्य प्रदातार भर्तार का न पूजयेत्।
रामायण—अयोध्याकाण्ड, ३०-३१.
२. रामायण—अयोध्या काण्ड, २७, ५.
३. महाभारत—वन पर्व, २९७, ५३.

का सूचक है। भारत मे अनुरूप पत्नी से पुत्र प्राप्ति सदा से विवाहित जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता रहा है। वर वधू का चुनाव दम्पती के भावी सुख की दृष्टि से नही अपि तु ऐसे सुयोग्य पुत्र की प्राप्ति की दृष्टि से किया जाता था, जिससे कुलक्रम अविच्छिन्न रहे। कन्या के अखण्ड कौमार्य एव वर की सच्चरित्रता का आग्रह उनकी भावी सन्तान की श्रेष्ठता और शुद्धि के लिए ही किया जाता था।

गर्भिणी

मनोवाञ्छित सन्तान पाने के लिए गर्भवती के आचार विचार की आत्यन्तिक शुद्धि को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। कश्यप ने अपनी पत्नी दिति से कहा कि यदि वह नियत समय तक आचार की पवित्रता को भङ्ग न करे तो उसे विश्व विजयी पुत्र की उपलब्धि हो सकती है—

''पूर्ण वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि।
पुत्र त्रैलोक्यहन्तार मत्तस्त्व जनयिष्यसि।''[1]

असमय कुसमय समागम का सन्तति पर कुप्रभाव पडना नितान्त स्वाभाविक है। कैकसी ने विश्रवा से पुत्र की अभ्यथना सध्या के कुसमय मे की थी अत उसकी सन्तान क्रूरकर्मा एव भयङ्कर राक्षस बनी।[2]

पत्नी मे गर्भ के लक्षण देखकर पति की प्रसन्नता का पारावार नही रहता एव वह पुरुष उस अवस्था मे पत्नी के प्रत्येक मनोरथ को परिपूर्ण करना अपना अहोभाग्य समझता है। अल्प वय मे ही किसी बालक का मेधावी बन जाना भी इस बात पर निर्भर करता है कि गर्भावस्था मे माता कैसी परिस्थिति एव कैसे वातावरण मे रहती है—

"न मे ह्रिया शसति किञ्चिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।

---

१. रामायण—बालकाण्ड, ४६, ६–७.

२. 'सुताभिलापो मत्तस्ते मत्तमातङ्गगामिनी।
दारुणायां च वेलायां यस्मात्त्व समुपस्थिता।
दारुणान्दारुणाकारान्दारुणाभिजनप्रियान्।
प्रसविष्यसि सुश्रोणि! राक्षसान् क्रूरकर्मणः।' रामायण—उत्तर काण्ड, ६, २०—२३.

इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः, प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वर.।"[1]

गर्भ दौहद को पूर्ण करना पति अपना प्रमुख कर्तव्य समझता है। कालिदास ने गर्भवती को रत्नगर्भा, अभ्यन्तर अग्नि को धारण करने वाले शमा वृक्ष तथा अन्तः सलिला सरस्वती नदी के समान कहा है—

"निधानगर्भामिव सागराम्बरा
शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदी मवान्त सलिला सिरस्वती
नृपः ससत्त्वा महिषीममन्यत।"[2]

अभिजात राजकुमारियो का तपोनिरत, जितेन्द्रिय एव कीतिलब्ध महामुनियो की सेवा मे उपस्थित होकर उन्हे आकर्पित करना और उनकी अर्धाङ्गिनी बनने के लिए लालायित होना यह सिद्ध करता है कि विवाह दम्पती की तात्कालिक यौन-भावना की परितृप्ति का नही प्रत्युत ऐसी सवल, स्वस्थ और विशुद्ध सन्तति प्राप्त करने का साधन था, जो माता पिता के गुणो का कमनीय समन्वय हो।

सन्तति

सन्तति के व्यक्तित्व निर्माण मे माता का अनुपम योग रहता है। वाल्मीकि की दृष्टि मे गो का अपने वत्स के प्रति जो ममत्व है, वही मातृ स्नेह का उज्ज्वल आदर्श है। राम को वन जाते देखकर कौसल्या उनका अनुगमन करने के लिए उसी प्रकार उद्यत होती है जिस प्रकार गो अधीर होकर अपने बछडे के पीछे दौडी चली जाती है—

"कथ धेनु: स्वक वत्स गच्छन्त नानुगच्छति।
अह त्वानुगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि।"[3]

जब राम रथ मे बैठकर शीघ्रता से वन की ओर जाने लगे तो धर्म बन्धन मे

---

१. रघुवश—३, ५.

२. वही—३, ९.

३. रामायण—अयोध्याकाण्ड, २४, ९। देखिये—अनुव्रजिष्यामि वन त्वयैवगोः सुदुर्बला वत्समिवानुकाक्षया।" रामायण—अयोध्याकाण्ड, २०, ५४. तथा-गताहमद्यैव परेतसम्पद विना त्वया धेनुरि वात्मजेन वै। रामायण—अयोध्याकाण्ड, २०, ५३

बँधे होने के कारण वह रस्सी से बँधे वत्स की भाँति अपनी माता को न देख सके—

"स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातर यथा ।
धर्म पाशेन सयुक्त प्रकाश नाभ्युदैक्षत ।"

कैकेयी का पुत्र प्रेम अपनी अलग विशेषता धारण करता है। वह, अपने पति को मर्मान्तिक कष्ट पहुँचाकर भी, अपने पुत्र के हित के लिए सतत प्रयास शील रहती है। किन्तु उसके इस आचरण की सर्वत्र कटु निन्दा की गयी है—

"अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि कैकेयी प्रतिपद्यताम् ।"[2]

सुमन्त्र ने पति का अमङ्गल करने वाली कैकेयी की भर्त्सना करके कहा कि पत्नी के लिए पति की इच्छा करोडो पुत्रो से भी बढकर है—

भर्तुरिच्छा हि नार्या पुत्रकोट्या विशिष्यते ।"[3]

पुत्र अथवा पुत्री के विवाह मे माता की इच्छा को प्रमुखता दिये जाने का उल्लेख उपलब्ध होता है। पर्वत राज हिमालय ने पार्वती के विवाह की स्वीकृति के लिए अपनी पत्नी मेना का अभिप्राय जानने की चेष्टा की—

"शैल सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत ।
प्रायेण गृहीतनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिन ।"[4]

विवाह के अवसर पर माता अथवा उसके समकक्ष किसी वृद्ध नारी की अत्यन्त आवश्यकता मानी गयी है। माता के अभाव मे महादेव के विवाह के अवसर पर मातृत्व को सम्पन्न करने के लिए वसिष्ठ पत्नी अरुन्धती को आमन्त्रित किया गया था—

"आर्याप्यरुन्धती तत्र व्यापार कर्तुमर्हति ।
प्रायेणैवविधे कार्ये पुरन्ध्रीणा प्रगल्भता ।"[5]

नव वधु के घर मे आने पर वर की माता प्रेम पुलकित हृदय से पुत्री की तरह अपने अङ्क मे बैठाकर उसका स्वागत करती है। पार्वती के द्वारा पादाभिवन्दन करने पर

१. रामायण—अयोध्याकाण्ड, ४०, ४०.
२. वही—३३. २१
३. वही—३५, ८.
४. कुमार सम्भव, ६, ८५.
५. वही—६, ३२.

अरुन्धती ने अपनी लज्जाशील वधू को अपनी गोद मे बैठाकर आशीर्वाद दिया—

"ता प्रणामादरस्रस्त जाम्बूनदवतसकाम् ।
अ कमारोपयामास लज्जमाना मरुन्धती ।"[1]

श्वश्रू, नव विवाहित होने के कारण अनुभवहीन, पुत्रवधू को अपने स्नेह सिक्त हृदय से गृहस्थ के समुचित व्यवहार आदि की शिक्षा देना अपना कर्तव्य समझती है। श्वश्रू और श्वसुर पुत्र वधू को अपनी पुत्री के समान हार्दिक एव निश्छल स्नेह का अनुदान करते है। माता का सौहार्दमय सम्बन्ध आर्य जनता का प्रधान सम्बल एव उसकी उत्कृष्टता का प्रमुख रहस्य रहा है। इस मातृक स्नेह ने ही माता को सन्तति के लिए त्याग, श्रम एव स्वार्थ का परित्याग करने के लिए सदैव कटि बद्ध रखा है। अपनी सन्तति के लिए निस्स्वार्थ आत्मोत्सर्ग करना ही मातृत्व की चरम अभिव्यक्ति है।

कन्या

परिवार मे कन्या के जन्म के अवसर पर प्रसन्नता की लहर नही के समान दृष्टिगोचर होती है। इसके विपरीत विवाह योग्य कन्याओ की बढती हुई आयु को देखकर माता पिता के मुख से चिन्ता के उद्गार अभिव्यक्त होते हैं—

"कन्या पितृत्व दु ख हि सर्वेषा मानकाङ्क्षिणाम् ।"[2]

कन्या को विवाह योग्य देखकर पिता इस प्रकार चिन्ता ग्रस्त हो जाता है, जिस प्रकार कि धन के नाश से एक दरिद्र व्यक्ति—

"पति सयोग सुलभ वयो दृष्ट्वा तु मे पिता
चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधन. ।"[3]

अपने माता एव पिता दोनो कुलो की प्रतिष्ठा एव मान मर्यादा कन्या के चरित्र पर अवलम्बित रहती है : वह अपने आचार एव व्यवहार दोनो कुलो को सशय मे डाल सकती है-और साथ मे अपने पति कुल की कुलकीर्ति एव उज्ज्वल यश को भी धूलिसात् कर सकती है—

---

१ कुमार सम्भव—६, ९१.

२. रामायण—उत्तरकाण्ड, ९, ९.

३. वही—अयोध्या काण्ड, ११८, ३४.

"मातु: कुल पितृ कुल यत्र चैव प्रदीयते ।
कुलत्रय सदा कन्या सशये स्थाप्य तिष्ठति ।"[1]

कुमारी कन्याओ को मागलिक तथा उनकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाना भारतीयता का शुभ शकुन है। सुन्दर सुसज्जित कन्याओ का दृष्टिपथ मे आना तथा उनके द्वारा स्वागत सत्कार किया जाना सफलता एव सौभाग्य का चिह्न माना जाता रहा है। धार्मिक एव सार्वजनिक व्रत उत्सवो मे सुन्दर अलङ्कारो से अलङ्कृत अविवाहित कन्याओ की उपस्थिति से अवसर की माङ्गलिकता मे अभिवृद्धि होना स्वाभाविक बताया जाता है—

"अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वर वारण ।"[2]

वाल्मीकि के अनुसार जब पुत्री घर मे जन्म ग्रहण करती है तभी से उनके घर मे सुख एवं समृद्धि की अतिशय वृद्धि होने लगती है। सीता के आने स जनक का घर धन, धान्य एव सुख समृद्धि से परिपूर्ण हो गया—

"अवाप्तो विपुलामृद्धि मामवाप्य नराधिप ।"[3]

सन्तान के प्रति स्नेह मानव मनोवृत्ति का सामान्य लक्षण है और पुत्रियो का भी इस स्नेह को पाने का पूर्ण अधिकार है। जन्म के अनन्तर कन्या का लालन पालन मनोयोग से किया जाना एव उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उदारता का व्यवहार मानव मात्र का सामान्य धर्म कहा गया है। पिता की दक्षिण जङ्घा पर पुत्री का स्थान कहा गया है। पुत्री एव पुत्रवधू के लिए पिता या श्वसुर की दक्षिण जङ्घा पर बैठना आचार के अनुकूल है—

"प्राप्य दक्षिणमूरु मे त्वयाश्लिष्टा वरानने ।
अपत्याना स्नुषाणा च भीरु विद्धे तदासनम् ।"[4]

कन्या के जन्म के कारण होने वाली चिन्ता के मूल मे माता पिता की यह उद्विग्नता रहती है कि उनकी पुत्री का विवाहित जीवन किस प्रकार सुखमय होगा ? कन्या का उपयुक्त रीति से सुयोग्यपति के साथ विवाह कर देना पिता के लिए अत्यन्त महत्त्व का कार्य माना जाता है।

---

१ रामायण—उत्तर काण्ड, ९, १०.
२. वही—अयोध्या काण्ड, १४, ३६.
३. वही—अयोध्या काण्ड, ११८, ३२
४. महाभारत—आदिपर्व, ९७, ९.

विवाह

विवाह व्यक्ति के जीवन का एक महत्त्व पूर्ण अध्याय है। प्रत्येक प्राणी के लिए विवाह पारिवारिक स्थिरता, सासारिक सुख एवं परलौकिक कल्याण की दृष्टि से आवश्यक एव वाञ्छनीय माना जाता रहा है। जिस प्रकार उच्च वर्ण का व्यक्ति उपनयन सस्कार द्वारा द्विजत्व प्राप्त करता है उसी प्रकार स्त्री पाणि ग्रहण द्वारा अपने व्यक्तित्व का उत्कर्ष प्राप्त करती है।

पिता की सम्मति के बिना कन्या का स्वेच्छा से पति चुन लेना अथवा किसी प्रेमी के द्वारा किये गये विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना अनुचित एव अशोभनीय माना जाता है। कामोन्मत्त राजा दण्ड ने शुक्र ऋषी की पुत्री अरजा के समक्ष जब समागम की इच्छा व्यक्त की तब मुनि कन्या ने असहमति प्रगट करते हुए कहा कि वह पितृवशा है और विवाह के विषय मे उसका पिता ही प्रभु एव समर्थ है—

"मा मा स्पृश बलाद्राजन् कन्या पितृवशा ह्यहम्।
वरयस्व नरश्रेष्ठ पितर मे महाद्युतिम्।"[1]

सदाचारी एव सुयोग्य पुरुष को दी गयी कन्या शोचनीय नही होती तथा उससे पितृकुल के आनन्द एव हर्ष मे अभिवृद्धि होती है—

"तमर्थमिव भारत्या सुनया योक्तुमर्हसि।
अशोच्या हि पितु कन्या सद्भर्तृ प्रतिपादिता।"[2]

सत्पुरुष को पति रूप मे प्राप्त करने के लिए कन्या के तपोनुष्ठान का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पार्वती ने शकर को पाने के लिए घोर तपस्या का आचरण किया था।[3] पार्वती ने सहचरी के द्वारा शकर से कहलवाया कि वह हिमालय से पार्वती की याचना करे—

"अथ विश्वात्मने गौरी सन्दिदेश मिथ सखीम्।
दाता मे भूभृता नाथ प्रमाणी क्रियता मिति।"[4]

---

१. रामायण—उत्तर काण्ड, ८०, ६-११
२. कुमार सम्भव—६, ७९.
३ "स्वय विशीर्ण द्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुन।
तदप्यपाकीर्णमत. प्रियम्वदा वदन्त्यपर्णेति च ता पुराविद.।"
कुमार सम्भव—५, २८.
४ कुमार सम्भव—६, १.
"स मानसी मेरु सख पितृणा कन्या कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञ.।
मेना मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपा विधिनोपयेमे।" कुमार सम्भव-१, १८.

माता पिता अपनी पुत्री के लिए अभिरूप एवं वय तथा गुणो मे समान वर की कामना करते हैं। दोनो का समान गुण होना अथवा उनके सदृशत्व का आग्रह उनके भावी जीवन की सुख एवं समृद्धि का लक्षण माना जाता है—

"कुलात्ततो ऽ स्मात् स्थिर शील युक्तात्।
साध्वी वपु र्ह्रीविनयोपपन्नाम्।
यशोधरा नाम यशो विशाला।
वामाभिधाना श्रियमाजुहाव।"[1]

क्षत्रिय राजाओ मे स्वयम्वर का प्रचलन प्राचीन काल से प्रचलित है। करभ के समान ऊरु वाली इन्दुमती ने मङ्गल चूर्ण से गौर वर्ण माला को अज के गले में मूर्तिमान् अनुराग के समान पहना दिया—

"सा चूर्ण गौर रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्या करभोपमोरू।
आसञ्जयामास यथाप्रदेश कण्ठे गुण मूर्तमिवानुरागम्।"[2]

अशोक वाटिका मे सीता को देखकर हनुमान् ने राम और सीता के स्वभाव, अवस्था, चरित्र, कुल एव शुभलक्षणो की समानता बताते हुए सदृश वर वधू के विवाह की अनुरूपता का परिचय दिया है—

"तुल्य शील वयोवृता तुल्याभिजनलक्षणाम्।
रामो ऽ र्हति वैदेही तञ्चेयमसितेक्षणा।"[3]

श्री हर्ष ने वर के चुनाव मे कन्या का पूर्ण अधिकार एव सामर्थ्य माना है।

---

१. बुद्ध चरितम्—२, २६.
२ रघुवश—६, ८१.
३. रामायण—सुन्दर काण्ड, १६, ५
तुलना कीजिये—नैषध चरित—३, ४८.
"निशा शशाङ्क शिवया गिरीश श्रिया हरीश योजयतः प्रतीत।
विधेरपि स्वारसिकः प्रयासः परस्पर योग्य समागमाय।" और देखिये—
"कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तै विनयप्रधानैः।
त्वमात्मनस्तुल्यममु वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन।"
रघुवश—६, ७९.

इन्दुमती की यह धारणा थी कि नल के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष को देने की अपेक्षा उसका पिता यदि उसे अग्नि दग्ध करदे तो वह समुचित हो। पिता का अधिकार केवल शरीर पर है, प्राणो पर नही—

"अनैपधायैव जुहोति तातः किं मा कृशानौ न शरीर शेषाम्।
ईष्टे तनूजन्म तनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नल. स एव।"[1]

वैदिक विधि से अग्नि को साक्षी बनाकर सम्पन्न किया गया विवाह एक धर्म बन्धन है। रथ और उसके पहिये, वीणा और उसके तारो के समान विवाह एक अटूट एव अकाट्य सम्बन्ध माना गया है। वर और वधू का यह चिर बन्धन वैवाहिक सम्बन्ध की अविच्छिन्नता का सूचक है।

महाभारत मे एक स्थान पर शर्मिष्ठा ने ययाति से कहा कि अपना और सखी का पति समान ही होता है—

"समावेतौ मतौ राजन्पति सख्य श्च य पति।
सम विवाहमित्याहु सख्या मे ऽसि वृत. पति.।[2]

स्वकीया

दाम्पत्य जीवन मे पति से भी स्नेह, सहानुभूति एव निष्ठा की अपेक्षा रखी जाती है, पर पत्नी से इन गुणो की कही अधिक आशा रखी जाती है। पति एव पत्नी का क्रमश. एक और कर्तव्य एव अधिकार माना गया है कि समस्त धार्मिक क्रिया कलापो मे वे दोनो परस्पर सहयोगी एव पूरक बन सके। पति को दो प्रमुख ऋणो से मुक्त करने मे पत्नी सहायिका बनती है, यज्ञ आदि धार्मिक अनुष्ठानो मे सहयोग देकर देव ऋण से एव सन्तानोत्पादन यज्ञ मे सहयोगिनी बन कर पितृ ऋण से।

मन और शरीर की पवित्रता तथा पति के दुर्गुणो की उपेक्षा कर उससे तादात्म्य स्थापित कर लेना और उसी के प्रिय एव हित मे सलग्न रहना पत्नीत्व का चरम आदर्श माना गया है।

स्वकीया पत्नी के वैवाहिक अधिकारो की सुरक्षा के लिए यह स्पष्ट विधान

---

१ नैषध चरित—३, ७९.

२. महाभारत—आदिपर्व, ८२, १९.

दिया गया है कि उसके ऋतुकाल मे पति को उसने अवश्य सहवास करना अपेक्षित है। अपनी ऋतु स्नाता और गर्भ धारण के अनुकूल भार्या को उसके अधिकार से वञ्चित रखना गर्हणीय कहा गया है—

"ऋतु स्नाता भार्यामृतु कालानुरोधिनीम् ।
अनिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्यो ऽ नुमते गत ।"[1]
वसिष्ठ ने पत्नी को पति की आत्मा माना है—
"आत्मा हि दारा· सर्वेषा दार सग्रह वर्तिनाम् ।"[2]

यज्ञ यागादि धार्मिक आचरण पति एव पत्नी के द्वारा सयुक्त रूप मे किये जाने पर ही फल दायी होते हैं। यशोधरा ने सिद्धार्थ से कहा कि सहधर्मचारिणी को छोडकर किया गया धर्माचरण अनुकूल नही होता—

"समामनाथा सह धर्मचारिणीमपास्य धर्मं यदि कर्तुमिच्छसि ।
कुतो ऽ स्य धर्म सहधर्मचारिणी विना तपो य· परिभोक्तुमिच्छति ।"[3]

अपनी पत्नी की स्नेह सिंचित दृष्टि एव नैसर्गिक प्रेम बन्धन का विच्छिन्न करना सम्भव नही—

"तावद् दृढ बन्धन मस्ति लोके न दारव तान्तवमायस वा ।
यावद् दृढ बन्धन मेतदेव, मुख चलाक्ष ललित च वाक्यम् ।"[4]

स्वकीया को पति की अनुरक्ति एव पूर्ण निष्ठा पाने का अधिकार है। नर और नारी का लौकिक प्रणय जीवन का सर्वोपरि वरदान है। प्रेम मे विभोर दम्पती को जगत् से कोई सरोकार नही—

"परस्परोद्वीक्षणतत्पराक्ष परस्पर व्याहृत सक्त चित्तम् ।
परस्पराश्लेष हृताङ्गराग परस्पर तन्मिथुन जहार ।"[5]

---

१. रामायण—अयोध्या काण्ड, ७५, ५२.
२. वही—३७, २४.
३. बुद्ध चरितम्—८, ६१
४ सौन्दर नन्द—७, १४.
५. वही—४, ६.

पति के अंग का स्पर्श पाकर रोमाञ्चित हो जाना स्वाधीन पतिका के लिए नितान्त स्वाभाविक है—

"सस्वेद रोमाञ्चित कम्पिताङ्गी, जाता प्रियस्पर्श सुखेन बाला ।
मरुन्नवाम्भ: परिपूत सिक्ता, कदम्बयष्टिः स्फुट कोरकेव ।"[1]

ऐसी नारियो को पति के द्वारा किये गये अपराध के प्रति क्रोध व्यक्त करना स्वाभाविक है । स्त्रियो की अपने पति पर पूर्ण प्रभुता मानी गयी है—

"कुपिता न तु कोपकारण सकृदप्यात्मगत स्मराम्यहम् ।
प्रभुता रमणेषु योषिता नहि भावस्खलितान्यपेक्षते ।"[2]

किन्तु नैतिक एव व्यावहारिक आचार इस बात पर प्रश्रय देता है कि पति पर सर्वतोमुखी प्रभुता होने पर भी पत्नी को अकारण क्रोध नही करना चाहिये—

"अनिमित्तमिन्दुवदने किमत्र भवतः पराङ्मुखी भवसि ।
प्रभवन्त्योऽपि हि भर्तृषु कारणकोपाः कुटुम्बिन्यः ।"[3]

भारतीय काव्य धारा मे अनेक पत्नीत्व के परिणाम स्वरूप पारिवारिक सघर्ष के भी दर्शन होते हैं तथापि एक पत्नी-व्रत का महान् आदर्श का पालन अत्यन्त वाछनीय एव अनुकरणीय माना गया है । प्रेम का आदर्श उत्कृष्ट होते हुए भी वह व्यावहारिकता से मुक्त नही होता । अध्यात्मिकता एव शारीरिकता का कमनीय समन्वय भारतीय विचार-धारा की उत्कृष्ट आधार शिला है । सयत एव शिष्ट दाम्पत्य जीवन, धर्म समाज एव स्वजनो के प्रति कर्तव्यो से अनुप्राणित होता है ।

परकीया

काम का दुर्दमनीय प्रभाव किसे अभिभूत नही करता । सुन्दरियो के प्रति पुरुष की उद्दाम वासना, प्रिय का सान्निध्य और प्रणय केलियो मे स्त्रियो की अपार अभिरुचि

---

१. उत्तर रामचरित—३, ४२.
२. विक्रमोर्वशीयम्—४, १२.
३. मालविकाग्निमित्रम्—१, १८.

समस्त सकोच और शिष्टाचार को दूर भगा देती है। कामासक्त मनुष्य को धर्म अधर्म अथवा देश काल का ज्ञान नही रहता। काम के असह्य एव अदम्य प्रभाव को रोकना अथवा नियन्त्रित करना अत्यन्त कठिन होता है। प्रेमिका के रूप मे प्रेमी की प्रणय उपासना ही परकीया-प्रणय को जन्म देती है। प्रेमिका के प्रेम मे शारीरिक आकर्षण एवं काम चेतना का प्रमुख योग होता है। प्रणय क्रीडाओ मे प्रेमिकाओ की स्वस्थ एव स्वाभाविक अभिरुचि ही प्रणय जीवन को परम्पराबद्ध स्वकीया की प्रणय भावना से उत्कर्ष प्रदान करती है।

कभी कभी कुतूहल स्त्री मे अनुचित यौन आकाक्षा को जन्म देता है। उत्सुकता के कारण वह अनेक पुरुष ससर्ग जन्य रति सुख पाने की इच्छुक हो जाती है। दिव्य रति के कुतूहल ने ही अहल्या को इन्द्र के रति प्रस्ताव के वश वर्ती कर दिया था—

"मुनिवेश सहस्राक्ष विज्ञाय रघुनन्दन।
मतिञ्चकार दुर्मेधा देवराज कुतूहलात्।"[1]

वाल्मीकि ने परकीया गमन की तीव्र भर्त्सना की है। रावण के परदाराभिमर्श से दु.खी होकर स्त्रियो ने उसके वध की कामना की थी-

"यस्मादेव परक्यासु रमते राक्षसाधम।
तस्माद्वै स्त्री कृतेनैव प्राप्स्यते दुर्मतिर्वधम्।"[2]

कुछ देवो, गन्धर्वों, राक्षसो आदि की स्त्रियों ने उसके प्रेम मे आबद्ध होकर स्वय को समर्पित कर दिया था—

"राजर्षि पितृ दैत्याना गन्धर्वाणा च योषित:।
राक्षसानां च या. कन्यास्तस्य काम वश गताः।"[3]

सीता के बल पूर्वक हरण करने पर सीता ने रावण की तीव्र भर्त्सना की और उसके शौर्य की निन्दा करते हुए कहा—

---

१. रामायण—बालकाण्ड, ४८, १९.
२. वही-उत्तर-काण्ड, २४, २०-२१.
३. वही — सुन्दर काण्ड, ९, ६८-६९.

"स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शक ।
कृत्वा कापुरुष कर्म शूरो ऽ हमिति मन्यसे ।"[1]

रावण सीता के सौन्दर्य से अभिभूत होकर कहता है कि ऐसी सौन्दर्य एव तारुण्य से ओतप्रोत नारी को देखकर कौन पुरुष उसे प्राप्त करने की चेष्टा नही करेगा—

"त्वा समासाद्य वैदेही रूप यौवन शालिनीम् ।
क: पुमानतिवर्तेत साक्षादपि पितामह. ।"[2]

रावण ने स्पष्ट रूप से परकीया गमन को अपना धर्म बताया है-

"स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वथैव न सशय· ।
गमन वा परस्त्रीणा हरण सप्रमथ्य वा ।"[3]

सीता ने रावण के इस आचरण की निन्दा करते हुए कहा कि जैसे तुझे अपनी स्त्रियो की रक्षा अपेक्षित है उसी प्रकार अन्य पुरुषो की स्त्रियो की रक्षा करना भी तेरा धर्म है-

"यथा तव तथान्येषां दारा रक्ष्या निशाचर ।
आत्मानमुपमा कृत्वा स्वेपु दारेषु रम्यताम् ।"[4]

परकीया को पाने के लिए उत्सुक होना मानव का स्वभाव माना जाता है। माँस को खाने के लिए माँस भक्षक पक्षी जिस प्रकार झपटते हैं उसी प्रकार पति से विरहित नारी को अपनी प्रणय सहचरी बनाने के लिए पुरुष लालायित रहते हैं—

" उत्कृष्टमामिष भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः ।
प्रार्थयन्ति जना· सर्वे पति हीना तथा स्त्रियम् ।"[5]

१- रामायण — युद्ध काण्ड, १०५, १३.
२- वही — सुन्दर काण्ड, २०, १४.
३- वही — २०, ५.
४- वही — २१, ७-८.
५. महाभारत—आदिपर्व, १५८, १२.

परदारा गमन को बहुत बडा पाप माना गया है। जो व्यक्ति अपनी पत्नी से सन्तुष्ट न होकर परदारा गमन मे अभिरुचि रखता है वह अवश्य ही पतन के गर्त मे गिर जाता है और अन्ततोगत्वा उसका नाश हो जाता है—

"अतुष्ट स्वेषु दारेषु चपल चलितेन्द्रियम्।
नयन्ति निकृतिप्रज्ञ परदारा· पराभवम्।"[1]

परदाराभिमर्शात्त नान्यत्पापं महत्तरम्।[2]

प्रेम का आस्वादन एव रति सुख का उपभोग मनुष्य का मानो अधिकार है। अनुत्सुक सीता को अनुकूल बनाने मे विफल रावण को महापार्श्व ने यह कहा कि वह बल पूर्वक मुर्गे के समान बार बार आक्रान्त करके उसका उपभोग क्यो नही करता? जो ऐसी सुन्दरी को पाकर उसका भोग नही करता वह नितान्त मूर्ख है–[3]

"बलात्कुक्कुट वृत्तेन प्रवर्तस्व महाबल।
आक्रम्याक्रम्य सीता वै ता भुङ्क्ष्व च रमस्व च।"[4]

इस प्रकार परकीया के प्रति रति लालसा एव उसके विरुद्ध नैतिक प्रतिबन्ध समाज मे सदा से वर्तमान दृष्टिगोचर होता है।

सामान्या

सामूहिक अवसरो एव सामाजिक उत्सवो मे नारी अपने समस्त अलकरणो की चमक दमक के साथ उपस्थित होकर वातावरण मे उल्लास एव चित्र-विचित्रता की अभिवृद्धि करना अपने जीवन की सार्थकता समझती है। सुन्दर नारियाँ एव वनिताएँ धार्मिक समारोहो, अन्य सामूहिक उत्सवो एवं क्रीडा विनोद आदि मे मुक्त भाव से सम्मिलित होकर जीवन मे सरसता एवं समरसता का सचार करती हैं। राजकीय शिष्टाचार के निर्वाह के

---

१. रामायण—सुन्दर काण्ड, २१, ८-९
२. वही—अरण्य काण्ड, ३८, ३०-३१.
३. वही—युद्ध काण्ड, १३, २.
४. वही—१३, ४.

हेतु वाराङ्गनाओ एव नर्तकियो की उपस्थिति आवश्यक मानी जातीर ही है। आमोद प्रमोद के प्रति भारतीयो की नैसर्गिक अभिरुचि ने भी इनके सुन्दर उपयोग को सदैव प्रोत्साहित किया हैं। यही कारण है कि भारतीय समाज मे वार वनिताओ का सम्मान पूर्ण स्थान रहा है। काम सूत्र के अध्ययन मे यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी होने के साथ ही साथ, चौसठ कला मे पारगत, विदुषी एव शील रूप गुणान्वित वेश्याओ को ही गणिका की उपाधि प्रदान की जाती थी तथा राजा एव गुणी जना द्वारा उनका सदैव सम्मान किया जाता था एव वे ही सब के लिए सुरुचि और आदर्श की वस्तु बन जाती थी।[1] उस काल की गणिका की सम्माननीय स्थिति का अनुमान इस प्रकार सहज ही लगाया जा सकता है कि राजा शुद्धोदन सिद्धार्थ के लिए शास्त्र विधि को जानने वाली कुशल गणिका के समान वधू की कामना करते है।[2] "दीघ निकाय"[3] के विवरण से भी लिच्छवी गणतन्त्र की गणिका अम्बपाली के वैभव, ऐश्वय एव आत्म सम्मान का एक स्पष्ट चित्र सामने आ जाता है।

उक्त विवरण के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल मे गणिका की सामाजिक एव आर्थिक स्थिति का जैसा चित्र उपलब्ध होता है उससे उनकी सम्मानीय स्थिति मे कोई सन्देह नही रह जाता।

माङ्गलिक कृत्यो मे नारी की उपस्थिति को शुभ माना गया है। राम के यौव राज्याभिषेक के अवसर पर महर्षि वसिष्ठ ने अलङ्कृत वाराङ्गनाओ को राजमहल मे उपस्थित रहने का आदेश दिया था—

"सर्वे च तालावचरा गणिकाश्च स्वलङ्कृता.।
कक्ष्याद्वितीया माश्रित्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मन।[4]

राम के वनवास से प्रत्यावर्तन के समय भरत ने राम के स्वागत के लिए गणिकाओ के समूह को आयोजित किया था—

---

१ कामसूत्र—२०, २१ तथा "पूजिता गणसर्धनन्दिनी को न पूजयेत्।" वही—५२.

२. "शास्त्रे विधिज्ञ कुशला गणिका यथैव।" ललित विस्तर—१२, १३९.

३. दीर्घ निकाय—१२७.

४. रामायण—अयोध्या काण्ड, ३, १७-१८.

"सर्वे वादित्र कुशला गणिकाश्चापि सङ्घशः ।
अभिनिर्यान्तु रामस्य द्रष्टुं शशिनिभं मुखम् ।"[1]

इसके अतिरिक्त युद्ध की दृष्टि से गणिकाओं का स्थान अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। सैनिकों को युद्ध भूमि पर प्रोत्साहित करना तथा उन्हें देश रक्षा के लिए प्रेरित करना उनका प्रमुख कार्य रहा है। सैनिक अभियान का इन वाराङ्गनाओं को अनिवार्य अङ्ग माना जाता है। दशरथ ने राम के साथ वन गमन के लिए चतुरंगिणी सेना को आदेश दिया था और साथ ही साथ मधुर भाषिणी गणिकाओं को भी जाने का आदेश दिया गया था—

"रूपाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः ।
शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनी सुप्रसारिता. ।"[2]

सैन्य व्यवस्था के साथ ही इन्हें नागरिक जीवन मे मनोरंजन का भी साधन बताया जाता है। सामान्य गणिकाओं को सौन्दर्य से आजीविका चलाने के कारण "रूपाजीवी" कहा जाता है।

युधिष्ठिर ने संजय के द्वारा गणिकाओं से कुशल प्रश्न पूछकर समाज मे उनकी स्थिति की ओर संकेत किया है। परिवार की अन्य स्त्रियों के साथ उनका भी उल्लेख द्वापर युग की गणिकाओं के प्रति मानव मनोवृत्ति का परिचायक है—

"अलङ्कृता वस्त्रवत्यः सुगन्धा अबीभत्साः सुखिता. भोगवत्य, ।
लघु यासां दर्शनं वाक् च लघ्वी वेशस्त्रियः कुशलं तात पृच्छेः ।"[3]

वेश्याओं को नागरिक जीवन में मनोरंजन के साधन के रूप मे प्रतिष्ठित किया जाता है। समान रूप से सभी व्यक्तियों की परिचर्या करना उनका कर्तव्य माना गया है—

"वाप्यां स्नाति विचक्षणो द्विजवरो मूर्खोऽपि वर्णाधमः ।
फुल्लां नाम्यति वायसोऽपि हि लता या नामिता बर्हिणा ।
ब्रह्मक्षत्र विशस्तरन्ति च यया नावा तयैवेतरे ।
त्वं वापीव लतेव नौरिव जनं वेश्यासि सर्वं भज ।"[4]

---

१. रामायण—युद्ध काण्ड, १३०, ३–४.
२. वही—अयोध्या काण्ड, ३६, ३
३. महाभारत—उद्योग पर्व, ३०, ३८.
४. मृच्छकटिक—१, ३२.

दारिद्रय के कशाघात से उत्पीडित कुलीन एव चरित्र सम्पन्न व्यक्ति की सेवा शुश्रूषा वैश्या जीवन का आदर्श है —

"यत्नेन सेवितव्यः पुरुष कुलशीलवान्दरिद्रोऽपि ।
शो भाहि पण स्त्रीणा सदृशजन समागम काम ।"[1]

महाकवि व्यास ने गणिका को मार्ग मे उगने वाली लता के समान कहा है, जिसके पुष्पो का कोई भी मार्ग का पथिक उपयोग कर लेता है ।

"तरुण जन सहायश्चिन्त्यता वेश वासो,
विगणय गणिका त्व मार्ग जाता लतेव ।
वहसि च धन हार्य पण्य भूत शरीर,
सममुपचर भद्रे सुप्रियश्चाप्रियश्च ।"[2]

वेश्या जीवन की इन मूलभूत भावनाओ के अतिरिक्त अनेक स्थानो पर उनके अवगुणो की भी चर्चा की गयी है जिनके कारण उनको धर्म का नाश करने वाली एव तीव्र भर्त्सना का पात्र बनाया गया है । गणिकायें धनोपार्जन के हेतु विविध चेष्टाओ का प्रदर्शन करती हैं । पुरुष को विश्वास दिलाती हुई वे उसका विश्वास नही करती—

"एता हसन्ति रुदन्ति च वित्तहेतो,
विश्वासयन्ति पुरुष न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुल शील समन्वितेन,
वेश्या श्मशान सुमना इव वर्जनीया ।"[3]

वे एक को हृदय मे बसाती है तो अन्य को नेत्र सकेत से पास बुलाती है, एक को अपने मद से विह्वल करती है तो दूसरे की शरीर से कामना करती हैं—

"अन्य मनुष्य हृदयेन कृत्वा अन्य ततो दृष्टिभिराह्वयन्ति ।
अन्यत्र मुञ्चन्तिमदप्रसेकमन्य शरीरेण च कामयन्ते[4]

काम अग्नि है, सुरत उसकी ज्वाला है, और प्रणय उसका इन्धन है, जिस पर मनुष्यो के यौवन और धन की आहुति दी जाती है—

---

१ मृच्छकटिक—८, ३३.
२. चारुदत्त—१, १७,
३. मृच्छकटिक—४, १४
४. वही—४, १६.

"अयश्च सुरतज्वालः कामाग्निप्रणयेन्धन।
नराणा यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च।"[1]

वेश्याओ को अत्यन्त अपवित्र माना गया है—

"न पर्वताग्रे नलिनी प्ररोहति न गर्दभा वाजिधुर वहन्ति।
यवाः प्रकीर्णा न भवन्ति शालयो न वेश जाता शुचयस्तथाङ्गना।[2]

शूद्रक ने वेश्याओ के अनुराग को लहरो के समान चञ्चल एव सध्या कालीन मेघ-माला की रक्तिमता के समान क्षण भंगुर माना है—

"समुद्रवीचीव चल स्वभावा,
सध्याभ्रलेखेव मुहूर्त रागा।
स्त्रियो हृतार्था पुरुष निरर्थं,
निष्पीडितालक्तमिव त्यजन्ति।"[3]

पुरुष और स्त्री का पारस्परिक आकर्षण और यौन सम्बन्ध एक सर्वथा स्वाभाविक एव अपेक्षित कृत्य है एव उस पर किसी प्रकार का कृत्रिम प्रतिबन्ध लगा देना अथवा उसे अस्वाभाविक सयम से बांध देना अवाञ्छनीय माना जाता है।

भारतीय समाज मे वेश्याओ को आदर सम्मान एव महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता रहा है। राजकार्य मे उनका उपयोग तात्कालिक सभ्यता की उच्चता एवं उत्कृष्टता का परिचायक माना जाता है। रामायण मे अनेक ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं जिनके द्वारा इनके समादर एव सामूहिक अवसरो पर इनकी अनिवार्यता प्रमाणित होती है। सार्वजनिक उत्सवो मे—जबकि राजधानी एक अलङ्कृत रमणी के सुन्दर वेश मे सज्जित होती थी — नर्तकिया एवं वाराङ्गनाए अवसर की चित्र विचित्रता एव शोभा की अभिवृद्धि एव वातावरण को उल्लसित कर देती थी।

विधवा

भारतीय समाज मे वैधव्य को एक महान् अभिशाप माना गया है। रामायण

---

१. मृच्छकटिक—४, ११.
२. वही—४, १७
३. वही—४, १५.

मे कहा गया है कि कुल स्त्री के लिए वैधव्य से बढकर और कोई विपत्ति नही हो सकती।[1] पति शोक मे विधवाओ के प्राण त्यागन के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[2] वाली की मृत्यु पर उसकी पत्नी तारा अन्न जल छोडकर प्राण त्याग करने का निश्चय करती है—

"व्यवस्यत प्रायमनिन्द्यवर्णा उपोपवेष्टु भुवि यत्र वाली।"[3]

इसी प्रकार राम की तथाकथित मृत्यु की सूचना पाकर सीता अपने पति के अनुगमन का सकल्प करती है—

"रावणानुगमिष्यामि गतिं भर्तुर्महात्मन·।"[4]

किन्तु इन उद्‌गारो का आधार पति शोक की प्रारम्भिक तीव्रता मात्र ही परिलक्षित होता है।

भारत मे आर्य विधवाएँ, जहाँ पुनर्विवाह से वञ्चित होकर अपने समस्त जीवन को वैधव्य की ज्वाला मे क्षीण करती रही हैं वहाँ अन्य दृष्टियो से वे समाज एव परिवार मे स्नेह एव सम्मान की पात्र भी बनती रही हैं। समाज के विधवाओ के प्रति उदार दृष्टिकोण रहा है। मागलिक अवसरो पर उनकी उपस्थिति अशुभ नही मानी जाती थी। राज्याभिषेक के समय सीता का शृगार उसकी विधवा सासुओ ने किया था।[5] प्राचीन भारतीय साहित्य परम्परा मे विधवाओ के अमागलिक माने जाने का कोई सकेत नही मिलता। राम के वनवास से प्रत्यावर्तन के अवसर पर उनका जिन लोगो ने स्वागत किया था उनमे उनकी विधवा माताएँ भी थी। इसके अतिरिक्त जब शत्रुघ्न मधुपुरी मे राजा के

---

१. "भयानामपि सर्वेषा वैधव्य व्यसन महत्।"
रामायण—उत्तर काण्ड, २५, ४३.

२. "सर्वापि विधवा नारी बहुपुत्रापि शोचते।"
महाभारत—शान्ति पर्व, १४८, २.
द्रष्टव्य—"पति हीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत्।"
वही—१४८, ८.

३. रामायण—किष्किन्धा काण्ड, २०, २७.

४. वही—युद्ध काण्ड, ३२, ३२.

५. "प्रतिकर्म च सीताया· सर्वा दशरथ स्त्रियः।"
रामायण—युद्ध काण्ड, १२६, १७.

रूप मे प्रतिष्ठित हुए थे उस समय राजभवन मे समस्त माङ्गलिक एव अरिष्ट नाशक कृत्यो का सम्पादन कोसल्या, कैकेयी एव सुमित्रा ने ही किया था।[1]

बाली की मृत्यु के अनन्तर तारा सुग्रीव के सरक्षण मे रही। तारा की उक्ति[2] से यह प्रतीत होता है विधवा का अपने पति की सम्पत्ति अथवा सन्तान पर कोई अधिकार नही था।

भारतीय साहित्य मे आर्य विधवाओ के सर्वत्र एकाकी विरह पूर्ण जीवन यापन करने के अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। कौरवो एव पाण्डवो के युद्ध के अनन्तर पति शोक मे आक्रोश करती हुई अनेक विधवाओ के दर्शन हो जाते हैं। महाभारत के अनेक उद्धरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि विधवा स्त्रिया नियोग के द्वारा अपने देवर से पुत्र प्राप्त कर अपने जीवन को व्यतीत कर सकती थी।

उक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि भारतीय समाज मे पति विरहित नारी का जीवन अत्यन्त कष्टमय एव सघर्ष पूर्ण था, तथापि समाज मे उनका सम्मान एव अधिकार उसके जीवन को सहज, सरल एव स्वाभाविक बना देता था।

सपत्नी

समाज के वैभवशाली वर्ग मे बहुपत्नी प्रथा के प्रचलित होने के कारण घर मे पारस्परिक राग द्वेष अथवा सघर्ष स्वाभाविक होता है। यह अत्यन्त स्वाभाविक तथ्य है कि एक बहुपत्नी वाला पति किसी एक पत्नी के विशिष्ट गुण अथवा सौन्दर्य के कारण उसके प्रति अधिक आकृष्ट एव अनुराग युक्त हो। ऐसे पति का किसी पत्नी के प्रति पक्ष-पात पूर्ण व्यवहार एव अन्य पत्नी की उपेक्षा सपत्नी सुलभ ईर्ष्या को जन्म देती हैं। यह बहुपत्नी-प्रथा भारतीय समाज का एक दुर्बल अङ्ग थी और यह आये दिन परिवार मे कलह का कारण बनती थी।

---

१. कौसल्या च सुमित्रा च मङ्गल कैकेयी तथा।
चक्रुस्ता राजभवने याश्चान्या राजयोषित.।
रामायण—उत्तर काण्ड, ६३, १६-१७.

२. न चाह हरिराज्यस्य प्रभवाम्यङ्गदस्य वा।
पितृव्यस्तस्य सुग्रीव. सर्व कार्येष्वनन्तर.।
रामायण—किष्किन्धा काण्ड, २१, १४.

वर प्रदान के लिए हिचकिचाते हुए राजा दशरथ पर कैकेयी ने व्यंग्य किया था कि राम को राज्य देकर तुम मेरी सपत्नी के साथ निर्द्वन्द्व होकर रमण करना चाहते हो-

"स त्व धर्मं परित्यज्य राम राज्ये ऽभिषिच्य च ।
सह कौसल्यया नित्य रन्तुमिच्छसि दुर्मते ।"[1]

स्त्रियो मे सपत्नी सुलभ ईर्ष्या-भावना की पराकाष्ठा दृष्टिगोचर होती है । राम के राज्याभिषेक के अवसर पर कैकेयी के मन मे द्वेष के उत्पन्न होने के मूल मे यह भावना ही थी । मन्थरा ने सपत्नी कौसल्या के विविध कार्यकलापो का स्मरण कराकर ही कैकेयी को उकसाया था । मन्थरा ने कहा कि सौभाग्य एव सौन्दर्य के कारण किये हुए अपकार का बदला वह राजमाता बनकर तुम से लेगी—

"दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्य वत्तया ।
राजमाता सपत्नी ते कथ वैर न यापयेत् ।"[2]

कौसल्या को यही एक महान् कष्ट रहा कि पट्टमहिषी होते हुए भी उसे अपने से छोटी सपत्नियो के कटु वाक्य सहने पड़ेंगे । इससे बढकर नारी को और क्या दु ख हो सकता है—

"अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणा परा सती ।
अति दु खतर किन्नु प्रमदाना भविष्यति ।"[3]

उनके बीच मे निवास करना उसे अभीष्ट नही है । वह तो राम के साथ वन के कष्टो को सहना अधिक श्रेयस्कर समझती है—

"आसा राम सपत्नीना मध्ये वस्तु न मे क्षमम् ।
नय मामपि काकुत्स्थ वन वन्यां मृगीमिव ।"[4]

अश्वघोष ने सपत्नी जन्य दु:ख को असह्य कहा है । अपने रूप और गुणो से पति के चित्त का अपहरण करने वाली सपत्नी के प्रति क्रोध एव द्वेष का होना अत्यन्त स्वाभाविक होता है—

१. रामायण—अयोध्या काण्ड, १२, ४५.
२. वही—८, ३७.
३. वही—२०, ३९-४०.
४. वही—२४, १९.

"यद्यन्यया रूपगुणाधिकत्वाद् भर्ता हृतस्ते कुरु वाष्पमोक्षम् ।
मनस्विनी रूपवती गुणाढ्या हृदि क्षत कात्र हिनाश्रु मुञ्चेत्।"[1]

सपत्नियो मे एक दूसरे की सन्तति ईर्ष्या एव कटुता का प्रमुख स्रोत बनती है। कैकेयी को बहकाते समय मन्थरा ने यह कहकर ईर्ष्याग्नि को प्रज्वलित किया था कि सपत्नी का पुत्र शत्रु के समान होता है तथा उसकी समृद्धि साक्षात् मृत्यु के समान है—

"अरे' सपत्नी पुत्रस्य वृद्धि मृत्योरिवागताम् ।"[2]

कुन्ती के पुत्र होने पर माद्री ने पाण्डु से कहा कि सपत्नी होने के कारण मे कुन्ती से पुत्र की याचना नही कर सकती—

"सरम्भो हि सपत्नीत्वात् वक्तु कुन्तिसुता प्रति ।'[3]

पाण्डु के आग्रह से माद्री को दो पुत्रो की प्राप्ति हुई। उसके पुनः कहने पर कुन्ती ने माद्री को भला बुरा कहा—

"उक्ता सकृद् द्वन्द्व नेषा लेभे तेनास्मि वञ्चिता ।
बिभेम्यस्याः परिभवात् कुल स्त्रीणा गतिरीदृशी ।
नाज्ञासिषमह मूढा द्वन्द्वाह्वाने फलद्वयम् ।"[4]

माद्री के स्पर्श से पाण्डु के मरने पर कुन्ती ने ईर्ष्याग्नि से जलकर कहा कि तू ही धन्य है जिसने प्रसन्न चित्त पति के मुख को देखा—

"धन्या त्वमसि वाह्लीकिमत्तो भाग्यतरा तथा ।
दृष्टवत्यसि यत् वक्त्र प्रहृष्टस्य महीपतेः ।"[5]

सपत्नी जन्य ईर्ष्या से अभिभूत होकर नारी अपने पति की भरपूर गर्हा करती हुई उसे अपनी अति प्रिय पत्नी के पास जाने को कहती है—

"तामेवे तु ममामित्रा चिन्तयन् परितप्यसे ।
ध्रुव मयि न ते स्नेहो यथा तस्या पुराभवत् ।"[6]

१. सौन्दर नन्द—६, ४१.
२. रामायण—अयोध्या काण्ड, ८, ४.
३. महाभारत—आदि पर्व, १२३, ६.
४. वही—१२४, २६—२७.
५. वही—१२४, २१.
६. वही—२३३, ११.

सपत्नी के प्रति अपने पति का प्रेम उसे सह्य नही होता तो वह उसका निरादर करती हुई कहती है—

"गच्छ त्व जरितामेव यदर्थं परितप्यसे ।
चरिष्याम्यहमप्येका यथा कुपुरुपाश्रिता ।"[1]

इससे अधिक पुरुष के लिए और क्या मर्माघात हो सकता है ।

माघ कवि की धारणा है कि सपत्नी जन्य ईर्ष्या से कषायित चित वाली नारी मद्य पान करके भी आनन्दित एव उल्लसित नही होती—

"अन्ययान्य वनितागतचित्त चित्तनाथमभि शङ्कितवत्या ।
पीतभूरिसुरयापि न मोदे निर्वृतिर्हि मनसो मद हेतुः ।"[2]

कैकेयी को ईर्ष्या की चरम परिणति वहाँ दृष्टिगोचर होती है जब वह कहती है कि प्रजाजनो के द्वारा प्रणाम की जाती हुई कोसल्या को देखकर एक दिन भी जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु को प्राप्त करना श्रेयस्कर है—

"एकाहमपि पश्येय यद्यह राम मातरम् ।
अञ्जलि प्रतिगृह्णन्ती श्रेयो ननु मृतिर्मम ।"[3]

परन्तु इसके विरुद्ध ऐसे उद्धरण भी यत्र तत्र दृष्टिगत होते हैं कि जिनके अनुसार यह सिद्ध होता है कि साध्वी स्त्रियाँ अपनी सपत्नी के द्वारा भी पति की प्रसन्नता सम्पादित करना अपना कर्तव्य समझती हैं—

"प्रतिपक्षेणापि पति सेवन्ते भर्तृ सेवना. साध्व्य: ।
अन्य सरितामपि जल समुद्रगा. प्रापयन्त्युदकम् ।"[4]

नारी जीवन का यही महानतम आदर्श है कि वह अपनी सपत्नी के साथ भी भगिनी के समान व्यवहार करे तथा अपना अहित कर के भी सपत्नी के द्वारा पति के आनन्द, आमोद प्रमोद आदि प्रदान करने की प्राण पण से चेष्टा करे । महर्षि कण्व का नव विवाहिता वधू के लिए उपदेश सस्कृत साहित्य का अजर एव अमर निधि है ।

---

१. महाभारत—आदि पर्व, २३३. १३.
२. शिशुपाल वध—१०, २८.
३. रामायण—अयोध्या काण्ड, १२, ४८.
४. मालविकाग्निमित्र—५, १९,

"शुश्रूषस्व गुरून्कुरुप्रिय सखीवृत्तिं सपत्नीजने ।
भर्तुं विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीप गमः ।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी ।
यान्त्येव गृहिणीपद युवतयो वामा कुलस्याधयः ।"[1]

सपत्नी के प्रति व्यवहार का यह आदर्श सदैव श्लाघनीय एव अनुपेक्षणीय माना जाता है तथा यह आगामी युग मे भी प्रकाश स्तम्भ के समान नव वधुओं का मार्ग प्रदर्शन करता रहेगा ।

विमाता

सपत्नी के समान ही विमाता के चित्त मे सपत्नी के पुत्र के प्रति ईर्ष्या होना नितान्त स्वाभाविक है । रामायण मे सपत्नी पुत्र की समृद्धि को मृत्यु के समान भयङ्कर माना गया है ।[2]

माताएँ अपने पुत्रो को सौतेले भाइयो से विशिष्टता प्राप्त करने के हेतु प्रोत्साहन दिया करती हैं । रावण की महत्त्वाकांक्षिणी माता कैकसी ने अपने पुत्र को वैश्रवण से अधिक प्रतापी बनने की प्रेरणा देकर उसके साहस पूर्ण जीवन की रूपरेखा निर्धारित की थी ।

वर प्रदान मे दशरथ की अनिच्छा को लक्ष्य करके कैकेयी ने कहा कि यदि राम का अभिषेक होगा तो वह उसी समय विष पीकर प्राण त्याग कर देगी—

"अह हि विष मद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रत ।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ।"[3]

सौतेले पुत्र से उसे इतना द्वेष है कि वह उसे विवासन किये बिना किसी प्रकार भी सन्तुष्ट नही हो सकती—

"भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप ।
यथा नान्येन तुष्येयमृते राम विवासनात् ।"[4]

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल—४, १८

२ रामायण—अयोध्याकाण्ड, ८, ४०.

३. वही—१२, ४७.

४. वही—१२, ४६.

राम के रूप मे हमे एक आदर्श पुत्र के दर्शन होते हैं, जो अपनी सौतेली माताओ के प्रति स्वय की जन्म दात्री के समान सम्मान पूर्ण व्यवहार करता है। वन जाते समय राम ने सीता को सभी माताओ की समान भाव से सेवा शुश्रूषा करने का आदेश दिया था।[1]

मुग्धा

नारी जीवन मे मुग्धात्व को एक अमूल्य रत्न के रूप मे स्वीकार किया जाता है। मुग्धा नायिका अपने शारीरिक सौन्दर्य मे ओतप्रोत होकर नवोढा होने के कारण अनुभव शून्य किन्तु रमण की उत्कट कामना एव कुतूहल से भरी हुई पति के सुख एव आनन्द की निरन्तर अभिवृद्धि करती है। रति साध्वस के कारण विरोधी वृत्तियो का प्रदर्शन करती हुई वह अपने प्रिय के चित्त को सहसा आकृष्ट कर लेती है—इस तथ्य से प्राय. सभी परिचित है।

मुग्धा नायिका अपने प्रिय विषयक अनुराग को शालीनता एव लज्जा के कारण प्रगट करने मे असमर्थ होती है पर भोली भाली होने के कारण वह उसके शरीर को विद्ध कर रोमाञ्च के रूप मे प्रस्फुटित हो जाता है—

"सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्ध
शशाक शालीनतया न वक्तुम्।
रोमाञ्च लक्ष्येण स गात्रयष्टिम्,
भित्वा निराक्रामदराल केश्या।"[2]

नवोढा पत्नी का वामाचरण भी उसके पति को अत्यधिक प्रसन्नता एव आह्लाद से अभिभूत कर देता है—

"दृष्टा दृष्टिमधो ददाति कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति बलादालिङ्गिना वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वास भवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
याता वामतयेव सुतरा प्रीत्यै नवोढा प्रिया।"[3]

---

१. "स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातर।"
रामायण—अयोध्या काण्ड, २६, ३२.
२. रघुवश—६, ८१.
३. नागानन्द—३, ४. द्रष्टव्य—मालतीमाधव—३, २.

इसी आशय को कालिदास ने मालविका के चित्रण मे प्रतिपादित किया है। सुन्दरियो के चित्त मे काम की उद्दाम वासना एव प्रणय क्रीडाओ के लिए अत्यन्त उत्कण्ठा होते हुए भी वे अपनी निषेधात्मक चेष्टाओ से प्रियतम मे कामभाव को जाग्रत कर देती हैं—

"हस्तौ कम्पयते रुणद्धि रशना व्यापार लालाङ्गुली. ।
स्वौ हस्तौ नयति स्तनावरणतामालिङ्ग्यमाना बलात् ।
पातु पक्ष्मल नेत्र मुन्नमयत: साचीकरोत्याननम् ।
व्याजेनाप्यभिलाष पूरण सुख निवर्तयत्येव मे ।"[1]

मुग्धा नायिका मे लज्जा का होना उसके सौन्दर्य मे चार चाँद लगा देता है। नारी के हृदय मे काम प्रवृत्ति के उदय होने के अनन्तर "लज्जा" नामक मनोभाव का उदय दृष्टिगोचर होता है। वस्तुत. 'वासना' काम का व्यक्त रूप है और लज्जा उस व्यक्त रूप के प्रसार को रोकने वाला मनोभाव है। सामान्यत' सौन्दर्य के विषय प्रधान एव विषयी प्रधान दो पक्ष होते हैं। जहाँ वासना सौन्दर्य के विषयी प्रधान पक्ष को पुष्ट करता है वहाँ लज्जा उसके विषय प्रधान पक्ष का बल देती है। इस प्रकार लज्जा वासना की अतिशयता पर प्रतिबन्ध का काम करती है।

काव्य शास्त्र के अनुसार लज्जा को एक सचारी भाव माना है, जो स्त्रियो के मन मे पुरुषो के देखने आदि से उदित होता है।[2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जब तक काम की प्रवृत्ति वासना रूप मे रहती है वह हृदय में ही छिपी रहता है परन्तु उसकी सहज अभिव्यक्ति लज्जा के रूप मे होती है। कन्या अवस्था मे उसके समक्ष ही उसके विवाह की चर्चा करने पर लज्जा से उसके कपोलो का आरक्त हो जाना नितान्त स्वाभाविक होता है।

पिता के पार्श्व मे आसीन पार्वती के समक्ष ही उसके विवाह के विषय मे नारद द्वारा वार्तालाप करने पर वह लज्जाशील कन्या केवल अपना मुँह नीचा करके कमल प ी की गणना करने मे सलग्न रहती है। कमल पत्रो की गणना से लज्जा की सरस एव सहज अभिव्यक्ति उसके अनुराग की परिचायिका है—

"एव वादिनी देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीला कमलपत्राणि गणयामास पार्वती ।"[3]

१. मालविकाग्निमित्र—४, १५.
२. काव्य दर्पण—पृष्ठ ९१.
३. कुमार सम्भव—६, ८४.

मुग्धा नायिका के हृदय मे किसी पुरुष के प्रति पहली बार अङ्कुरित पूर्वराग कुसुम कोमल कुमारी को अत्यन्त पीडा दायक होता है। उस प्रेम के रोग से उसके माता पिता अथवा कोई अन्य बन्धुगण उसकी रक्षा करने मे समर्थ नही होते—

"मनोरोगस्तीव्रोविषमिव विसर्पत्यविरतम् ।
प्रमाथी निर्धूमो ज्वलति विधुत: पावक इव ।
हिनस्ति प्रत्यङ्ग ज्वर इव गरीयानित इतो ।
न मा त्रातु तात प्रभवति नचाम्बा न भवती ।"[1]

नायिका के मिलन मे सर्व प्रथम प्रेम का अङ्कुर दर्शन मात्र से उत्पन्न होता है। तदनन्तर हाव, भाव, कटाक्षपात आदि विविध चेष्टाओ के द्वारा नायक पर सौन्दर्य का अविचल प्रभाव पडता है और प्रेम का अङ्कुर दृढ मूल हो जाता है—

"यान्त्या मुहुर्वलित कन्धर मानन त—
दावृत्त वृन्त शतपत्रनिभ वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या,
गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्ष ।"[2]

पूर्वानुराग के कारण मुग्धा नायिकाएं अपने संकल्प से प्रिय समागम का अनुभव कर लेती हैं—

"नीवीबन्धोच्छ्वसनमधर स्पन्दन दोर्विषाद ।
स्वेदश्चक्षुर्मसृणमुकुला केकर स्निग्ध मुग्धम् ।
गात्र स्तम्भ: स्तन मुकुलयोरुत्प्रबन्ध. प्रकम्पो ।
गण्डाभोगे पलक पटल मूर्च्छना चेतना च ।'[3]

मुग्धा स्त्रियो की लज्जा के परिहार एव उससे होने वाली आत्मरति के लिए यदा कदा असत्य भाषण करने मे भी कोई दोष नही माना गया है—

"अनृतेनापि नारीणा युक्त समनुवर्तनम् ।
तद्व्रीडा परिहारार्थमात्मरत्यर्थमेव च ।"[4]

१. मालती माधव—२, १.
२. वही—१, ३२.
३. वही—२, ५.
४. बुद्ध चरित—४, ६७.

किसी नवयुवक के मनोमोहकारी लावण्य को देखकर सुन्दरी नायिका के कम्पमान अङ्गो का म्लान हो जाना नितान्त स्वाभाविक है—

"भूयो भूय· सविध नगरी रथ्यया पर्यटन्त
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवन वलभी तुङ्ग वातायनस्था ।
साक्षात्काम नवमिव रतिमलिती माधव यत् ।
गाढोत्कण्ठातुलित लुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ।"[1]

सौन्दर्य

लज्जा के कारण ही नारी के सौन्दर्य मे चमत्कृति एव आकर्षकता का सचार होता है। सर्वाङ्ग सुन्दर नारी रूप-जगत् की परम दुर्लभ वस्तु है। सौन्दर्य की मधुरिमा से ओत प्रोत होकर नारी क्या नही कर सकती ?

वयोवृद्ध महाराज दशरथ सौन्दर्य की प्रतिमूर्ती अपनी छोटी रानी कैकेयी के स्वर्ग तुल्य प्रासाद मे प्रविष्ट हुए तथा "वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी" के अनुसार स्वय ही उसके कुचक्र मे फँसकर इक्ष्वाकु कुल मे एक महान् आपत्ति का कारण बन गये। महाकवि माघ ने सौन्दर्य को प्रतिक्षण परिवर्तनशील बताया है—

"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतायाः ।"[2]

कालिदास ने शकुन्तला के सौन्दर्य को अखण्ड पुण्यो का मधुरतम फल माना है, जो केवल भाग्य शाली पुरुष को ही प्राप्त हो सकता है। वह रूप सम्पदा बिना सूँघे पुष्प के समान, नखो से अस्पृष्ट पल्लव के समान, बिना बिंधे रत्न के समान एव बिना चखे मधु के समान रमणीय एव वाञ्छनीय है—

"अनाघ्रात पुष्प किसलयमलून कररुहैः,
अनाविद्ध रत्न मधुनवमनास्वादित रसम् ।
अखण्ड पुण्याना फलमिव च तद्रूपमनघ,
न जाने भोक्तार कमिह समुपस्थास्यति विधि. ।"[3]

---

१. मालती माधव—१, १८.
२. शिशुपाल वध—४, १७.
३. अभिज्ञान शाकुन्तल, २, १०.

रूप की मधुरिमा मे थोडा दूषण भी उसकी श्रीवृद्धि ही करता है—सेवार से आवृत कमल, कलङ्क से युक्त राकापति और इसी प्रकार वल्कल मे लिपटी हुई कामिनी—सुन्दर आकृति वालो को सभी कुछ सज्जित करता है—

"सरसिजमनुविद्ध शैवलेनापि रम्यम्।
मलिनमपि हिमाशो लक्ष्म लक्ष्मी तनोति।
इयमधिक मनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम्।"[1]

यौवन के आने पर शरीर मे कुछ विचित्रता का समावेश हो जाता है। गति मे आलस्य, दृष्टि मे शून्यता एव शरीर मे प्रसाधन के सौष्ठव का अभाव—ये सब सौन्दर्य को मदिर मादकता से हुआ प्रतीत होता है—

"गमनमलस शून्या दृष्टि' शरीरम सौष्ठव,
श्वसितमधिक किन्वेतत्स्यात् किमन्यदतोऽथवा।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवनम्,
ललित मधुरास्ते भावा: क्षिपन्ति च धीरताम्।"[2]

सीता के सौन्दर्य से ओत प्रोत अङ्ग प्रत्यङ्ग राम के लिए अत्यन्त आह्लादक एव चिताकर्षक प्रतीत होते है। राम कहते है कि कमलदल के समान विशाल नेत्रो वाली एव सुन्दर नितम्बो से युक्त सीता को समृद्ध राज्य लक्ष्मी के समान कब देख सकूगा? उसके सुन्दर दाँतो एव ओष्ठ वाले मुख कमल का पान कर उसके परस्पर सटे एव ताल फल के समान विशाल कांपते हुए स्तन युगल का कब आलिङ्गन करूँगा—

"तस्यास्तु सहतौ पीनौ स्तनौ ताल फलोपमौ।
कदा नु खलु सोत्कम्पौ श्लिष्यन्त्या मा भजिष्यत:।"[3]

सौन्दर्य की अनुभूति आनन्द दायिनी होती है, तथा उसमे आकर्षण शक्ति का समावेश रहता है। अनिन्द्य सुन्दरी से आकृष्ट होकर पुरुष यह निश्चित नही कर पाता कि यह कौन है? यदि कोई दिव्याङ्गना है तो इन्द्र के सहस्र नेत्र कृत कृत्य हो जाते हैं, यदि

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल, १, १८.
२. मालती माधव—१, १८.
३. रामायण—युद्ध काण्ड, ५. १४.

कोई नाग कन्या है तो उसके मुख की प्रभा के कारण पाताल मे चन्द्रमा का अभाव नही खटकता; यदि कोई वह विद्याधर कन्या अथवा सिद्ध कन्या है तो वह वश समस्त संसार मे प्रसिद्धि प्राप्त करता है—

"स्वर्गस्त्री यदि चेत्कृतार्थमभवच्चक्षुः सहस्र हरेः।
नागी चेन्न रसातल शशिभृता शून्य मुखेऽस्याः स्थिते।
जातिर्न: सकलान्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं,
स्यात् सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्तत·।"[1]

अपने शरीर की स्वाभाविक शोभा ही नारी को सौन्दर्य प्रदान करती है। जो वस्तुत· सुन्दर है, उसे अलङ्कारो की चमक दमक अपेक्षित नहीं—

"खेदाय स्तनभार एव किमु ते मध्यस्य हारोऽपर।
ताम्यत्यूरुयुग नितम्बभरत काञ्च्यानया किम्पुन:।
शक्ति· पादयुगस्य नोरुयुगल वोढु कुतो नूपुरौ।
स्वाङ्गैरेव विभूषितासि वहसि क्लेशाय कि मण्डनम्।"[2]

यह कुमारी सौन्दर्य सागर की अधिदेवता है अथवा सौन्दर्य के श्रेष्ठ अशो के समूह का केन्द्र है। निश्चय रूप से यह चन्द्रकला, मृणाल एवं चन्द्रिका से काम के द्वारा रची गयी है—

"सा रामणीयकविधेरधिदेवताया,
सौन्दर्यसारसमुदायनिकेतन वा।
तस्याः सखे नियतमिन्दुकला मृणाल,
ज्योत्स्नादि कारणमभूत् मदनश्च वेधाः।"[3]

आर्द्र कदली के समान मनोहर कृश अङ्ग वाली, कलामात्र अवशिष्ट चन्द्रमा की मूर्ति के समान नेत्रो को आनन्द देने वाली नायिका चित्त को अतिशय आह्लादित करती है

---

१. नागानन्द—१, १६.
२. वही—३, ६.
द्रष्टव्य—विक्रमाङ्कदेवचरित—८, ८८.
३. मालती माधव—१, २४.
द्रष्टव्य—वही—६, ६.

एव कामाग्नि के उत्कट दाह से विह्वल अवस्था को प्राप्त होती हुई मन को कम्पित भी करती है—

"निकाम क्षामाङ्गी सरस कदलीगर्भसुभगा,
कलाशेषा मूर्तिः शशिन इव नेत्रोत्सवकरी ।
अवस्थामापन्ना मदन दहनोद्दाह विधुराम् ।
इय नः कल्याणी रमयति मन, कम्पयति च ।"[1]

यौवन

यौवन सौन्दर्य की आधार शिला है । इस अवस्था मे मनुष्य किसी उपदेश को ग्रहण नही कर सकता । काम मोहित न करे एव बुद्धि मलिन विकार से आबद्ध न हो इत्यादि उपदेश वाक्य युवावस्था मे निष्प्रयोजन होते हैं । नव यौवन और समृद्ध गुणो से सम्पन्न काम किसी का नियन्त्रण सहन नही करता—

"मामूमुहत् खलु भवन्तमनन्यजन्मा ।
मा ते मलीमसविकारघना मतिर्भूत् ।
इत्यादि नन्विह निरर्थकमेव यस्मिन् ।
कामश्च जृम्भितगुणो नवयौवनञ्च ।"[2]

तारुण्य के कारण मन मे अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं । मन मे अनुराग उत्पन्न होता है, उन्मत्तता का हृदय मे सञ्चार होता है, दोषो के प्रति उपेक्षा एव साहस का विकास होता है, स्वेच्छा पूर्वक कार्य करने की इच्छा होती है एव नैतिकता के बन्धन के प्रति रुचि क्षीण हो जाती है । परिणामत मनस्वियो की विमल बुद्धि भी यौवन के कारण परवश हो जाती है—

"राग विजृम्भयति सश्रयते प्रमाद,
दोषान् न चिन्तयति साहसमभ्युपैति ।
स्वच्छन्दतो व्रजति नेच्छति नीतिमार्गम् ।
बुद्धि शुभा सुविदुषामवशी करोति ।"[3]

---

१. मालती माधव—२, ३.
२. वही—१, ३५
३. अविमारक— ३, १.

यौवन मे मनुष्य का मन एव इन्द्रियो पर अधिकार नही रहता तथा बुद्धि भी विवेक शून्य हो जाती है—

"ऋतुर्व्यतीत. परिवर्तते पुनः क्षय प्रयात: पुनरेति चन्द्रमा: ।
गत गत नैव तु सन्निवर्तते जल नदीना च नृणा च यौवनम् ।"[1]

यौवन को मेघ के समान अस्थिर माना जाता है। इन्द्रियो के विभिन्न विषय यथावसर रमणीय प्रतीत होते हैं परन्तु अन्ततो गत्वा सन्ताप प्रद ही होते हैं—

"शरदम्बुधरच्छाया गत्वर्यो यौवनश्रिय' ।
आपातरम्या विषया पर्यन्तपरिपातिन ।"[2]

प्रणय

चित्र विचित्र वेश भूषा मे सजी एव सौन्दर्य की मदिर मादकता मे परिप्लुत नारी प्रणय केलि का उद्दीपन होती है। यौवन मन मे अनुराग उत्पन्न करता है। सीता के गुलाबी एव चिकने तलवो और लाल नखो वाले पाद युगल सहसा ही काम भाव को जाग्रत करते हैं।[3] मानव जीवन मे प्रेमी प्रेमिकाओ की उन्मत्त प्रणय भावना एवं काम क्रीडा का रुचिर समन्वय दृष्टिगोचर होता है। सुन्दर एव तरुण रमणी के प्रणय का आस्वादन सुखी मानव जीवन का मापदण्ड माना जा सकता है।

मेघ एव विद्युत् पति एव पत्नी के प्रणय के प्रतीक माने जाते हैं। जिस प्रकार बादल के साथ विद्युत् सदैव आबद्ध रहती है उसी प्रकार रावण की स्त्रियाँ अपने प्रिय के प्रेम मे आबद्ध होकर अनुगमन करती हैं—

"अनुजग्मु. पति वीर घन विद्युल्लता इव ।"[4]

प्रणय का अधिक उदात्त एव शालीन रूप सृष्टि के शाश्वत आदर्श-युगल राम और सीता के प्रेम मे उपलब्ध होता है। जिस प्रकार सूर्य से उसकी प्रभा अलग नही की

---

१. सौन्दर नन्द—९, २८.

२. किरातार्जुनीय—११, १२.

३. सुलोहिततलौ श्लक्ष्णौ चरणौ सुप्रतिष्ठितौ ।
दृष्ट्वा ताम्रनखौ तस्या दीप्यते मे शरीरज. ।
मरायण—युद्धकाण्ड, १२, १५.

४. रामायण—सुन्दर काण्ड, १८, १५.

जा सकती[1], रोहिणी से चन्द्रमा[2] एव लक्ष्मी से विष्णु[3] दूर नही किये जा सकते उसी प्रकार राम के बिना सीता की कल्पना भी नही की जा सकती ।

पारस्परिक अनुराग विवाह का चरम लक्ष्य होता है । पत्नी के प्रति सहृदय एव सहानुभूति पूर्ण व्यवहार ही पति के प्रति उसकी आदर एव भक्ति की भावना को जाग्रत कर सकता है । एकाङ्की प्रणय को भारतीय परम्परा मे अनुचित एव वैरस्य जनक माना गया है । सीता और राम का पारस्परिक प्रेम अपनी समता नही रखता—

"मयि भावो हि वैदेह्या स्तत्त्वतो विनिवेशित· ।
ममापि भाव सीताया सर्वथा विनिवेशित ।[4]

अश्वघोष ने प्रणय बन्धन को सब से कठोर एवं अभेद्य माना है । स्नेहमय पाश तो ज्ञान एव रूक्षता के सिवा अन्य किसी प्रकार से नही तोडा जा सकता—

"छित्वा च भित्वा च हि यान्ति तानि
स्व पौरुषाच्चैव सुहृद्‌बलाच्च ।
ज्ञानाच्च रौक्ष्याच्च विना विमोक्तु,
न शक्यते स्नेहमयस्तु पाश.।"[5]

अन्त स्थल मे गुप्त रूप मे विद्यमान कोई भाव दो व्यक्तियो को परस्पर प्रेम बन्धन मे निबद्ध करता है । सूर्य का कमल से और चन्द्रमा का चन्द्रकान्त मणि से, जो पारस्परिक स्नेह बन्धन है वह चित्तवृत्ति एव प्राक्तन सस्कारो को ही प्रेम का कारण प्रमाणित करता है —

"व्यतिषजति पदार्थानान्तर: कोऽपि हेतु,
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय. सश्रयन्ते ।

---

१. "अनन्या राघवेणाह भास्करेण प्रभा यथा । रामायण-सुन्दरकाण्ड, २१, १६

२. "रोहिणीव शशाङ्क न राम सयोगमाप या ।
रामायण-अयोध्याकाण्ड, १६, ४२.

३. "अतीव राम: शुशुभेऽतिकामया । विभु: श्रिया विष्णुरिवामरेश्वर. ।"
रामायण-बालकाण्ड, ७७, २६.

४. रामायण-किष्किन्धा काण्ड, १, ५२

५. सौन्दर नन्द, ७. १५.

विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं,
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त. ।"[1]

विषम शिलाओ से अवरुद्ध होकर अनेक धाराओ मे प्रवहित होने वाले नदी के समान विघ्नो के अनन्तर होने वाला प्रिय एव प्रेयसी का समागम शतश आनन्द दायक एवं प्रीति का उत्पादक होता है—

"नद्या इव प्रवाहो विषम शिलसंकटस्खलितवेग: ।
विघ्नित समागमसुखो मनसिशय. शतगुणो भवति ।"[2]

प्रिय व्यक्ति सामीप्य मात्र से दुःखो का नाश करता है—

"न किञ्चिदपि कुर्वाण: सौख्यैर्दु:खान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्य यो हि यस्य प्रियो जनः ।"[3]

प्रणय ही जीवन सर्वस्व है । पति पत्नी के लिए प्रेम की प्रतिमूर्ति होता है तो पत्नी पति के लिए स्नेह की स्रोतस्विनी । वे परस्पर प्रियतम, मित्र, बन्धु एव समस्त अभिलाषाओ के विषय और निधि और यहाँ तक जीवित सर्वस्व ही है—

'प्रेयो मित्र बन्धुता का समग्रा सर्वे कामाः शेवधि जीवितञ्च ।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योऽन्य वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ।"[4]

नव दम्पति के हेतु दिये गये ये उपदेश प्रणय के शाश्वत आदर्श एव मार्ग दर्शक हैं—

अङ्गो का अङ्गो मे समावेश. प्राणो का प्राणो मे विलय एवं दोनो का मिलकर एकाकार होजाना ही प्रेम की पराकाष्ठा है । पार्वती शिव के अङ्ग से इस प्रकार एकाकार हो गयी है कि उनको पृथक् करने की कल्पना भी नही की जा सकती—

"लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णं रूपेव च ।
प्रत्युप्तेव च वज्रलेपघटितेवान्तर्निखातेव च ।"

---

१. मालती माधव—१, २७, तथा उत्तर रामचरित—६, १२.

२. उत्तररामचरित—६, ५.

३. विक्रमोर्वशीय—३, ८.

४. मालती माधव—६, १८.

सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि ।
चिन्ता सन्तति तन्तुजाल निविडस्यूतेव लग्ना प्रिया ।[1]

भारतीय जीवन मे सर्वत्र विवाहित प्रणय को ही श्रेष्ठ पद प्रदान किया गया है तथा अविवाहित एव असयत प्रेम को गर्हणीय एवं दण्ड का पात्र घोषित किया गया है ।

प्रणय के क्षेत्र मे दौत्य कर्म को समुचित स्थान दिया जाता है । नायिका के हृदय मे बसे हुए प्रियतम के दोषो को प्रतिपादित करके तथा नायक के गुणो का वर्णन करके नायिका के हृदय मे उसके प्रति प्रेम जाग्रत करना दूतियो का प्रमुख कर्तव्य होता है । दूतो के द्वारा सदेश भेजकर प्राचीन समय मे अनेक राजाओ ने स्वयम्बर मे सफलता प्राप्त की है ।[2]

"वरेऽन्यस्मिन्दोषः पितरि विचिकित्सा च जनिता ।
पुरावृत्तोद्गारैरपि च कथिता कार्यपदवी ।
स्तुत माहाभाग्य यदभिजनतो यच्च गुणत: ।
प्रसगाद्वत्सस्येत्यथ खलु विधेय परिचय ।"[3]

दूतियाँ नायिका के मनोभाव को पूर्णतया समझकर ही प्रणय का प्रस्ताव करती हैं । निषेध करने पर युक्ति युक्त उत्तर देकर उसकी शकाओ का समाधान करती हैं तथा अनेक प्रकार से चित्त को लुभाने वाली मधुर एव सरस बातो को कहकर उसे प्रिय के अनुकुल बना लेती है—

"भावज्ञानानन्तर प्रस्तुतेन प्रत्याख्याने दत्त युक्तोत्तरेण ।
वाक्येनैव स्थापिता स्वे निदेशे स्थाने प्राणा. कामिना दूत्यधीनाः ।[4]

---

१. मालती माधव–५, १०.
(वह प्रिया चित्त मे लीन की तरह, प्रतिबिम्बित की तरह, चित्रित की तरह, शिला पर उत्कीर्णित की तरह, विरह से द्रवीभूत मेरे मन मे कामदेव रूपी स्वर्णकार के द्वारा घटित की तरह, वज्रलेप से सम्पादित की तरह, अन्तःकरण मे कीलित की तरह, काम के बाणो से विद्ध की तरह एव ध्यान रूप सूत्र से निविडता पूर्वक स्यून की तरह मुझ से सम्बद्ध है ।)
२. नैषध चरित–५, ६६.
३. मालती माधव–२, १३.
४. मालविकाग्निमित्र–३, १४.

ईर्ष्या

दूसरे के सौभाग्य, ऐश्वर्य, विद्या, आदर सम्मान आदि को देखकर उसे न देख सकने के कारण मन मे जो जलन या डाह उत्पन्न होती है वही ईर्ष्या कही जाती है। नाट्य शास्त्र मे वर्णित असूया नामक सञ्चारीभाव ईर्ष्या का ही पर्यायवाचा है। नारियो के मन मे यह ईर्ष्या अपनी सपत्नी की उन्नति को देखो एव प्रिय के अपने प्रति प्रेम के क्षीण जाने के कारण उत्पन्न होने वाली असहिष्णुता के फलस्वरूप उदित होती है। यह मनोभाव जलन के कारण तो उत्पन्न होता ही है, परन्तु इसकी पृष्ठ भूमि मे 'अहम्' की भावना भी अपना योग देती है।

वहुपत्नी प्रथा के कारण उपेक्षिता नारी के चित्त मे ईर्ष्या का उत्पन्न होना सहज एव नितान्त स्वाभाविक होता है। वह अपने कष्ट के दिनो को यथाकथञ्चित् व्यतीत करती है तो उसमे प्रतिहिंसा की भावना निसर्ग सिद्ध है।

राम को यह आशङ्का थी कि कही कैकेयी ईर्ष्या एव द्वेपवश उसकी माता कौसल्या को विप न दे दे —

"क्षुद्रकर्मा हि कैकेयी द्वेषादन्यायमाचरेत्।
परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम्।"[1]

अपने प्रिय की प्रेम पात्री होने के कारण उसके प्रति स्त्रियो का ईर्ष्यालु होना स्वाभाविक है। श्री कृष्ण ने जिस जिस अङ्गना की ओर प्रेम सिक्त दृष्टि से देखा वह तो लज्जित हुई अन्य स्त्रियाँ इससे ईर्ष्यालु होकर निःशङ्क अपने तीक्ष्ण कटाक्षो से आघात करने मे तत्पर हो गयी —

"या या प्रिया प्रेक्षत कातराक्षी सा सा प्रिया नम्रमुखी वभूव।
नि.शङ्कमन्या. सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमु कटाक्षैः।"[2]

यह प्रथा परिवार मे कलह को जन्म देती है तथा उसकी विषैली प्रतिक्रिया मानव जीवन मे अहितकर सिद्ध होती है। इसीलिए एक पत्नी व्रत के महान् आदर्श को प्राचीन मनिषियो ने पर्याप्त प्रशंसा की है। अन्ध मुनि ने दशरथ के हाथ मारे गए अपने

---

१. रामायण-अयोध्या काण्ड, ५३, १८.
२. शिशुपाल वध-३, १६.

पुत्र को यह आशीर्वाद दिया कि तुम उन दिव्य लोकों को प्राप्त करो, जहाँ एक पत्नीव्रत का आचरण करने वाले प्रयाण करते हैं।[1]

विरह

प्रिय वियोग नारी के जीवन में एक महान् अभिशाप है। विरह की तन्मयता में मानव अपनी प्रेयसी अथवा प्रेमी की स्मृति में सब कुछ भूल जाते हैं। लोक व्यवहार एवं आचरण का थोड़ा भी ज्ञान नहीं रहता। प्रीति के देने वाले उपादान चन्द्रमा, कमल, तड़ाग आदि उनके लिए विषाद के कारण बन जाते हैं —

"यदिन्दावानन्द प्रणयिनि जने वा न भजते।
व्यनक्तयन्तस्ताप तदयमति धीरोऽपि विषमम्।
प्रियङ्गु श्यामाङ्ग प्रकृतिरपि चापाण्डु मधुरम्।
वपु क्षाम क्षाम वहति रमणीयश्च भवति।[2]

प्रिय के आने में विलम्ब होने के कारण प्रिया का विरह उत्कटता को धारण कर लेता है। चन्द्रकान्त मणि की शिला पर पल्लव के सदृश अपने बाँये हाथ पर, प्रिय की चिन्ता में, अपने पीले मुख को रखकर रोती हुई प्रिया का स्मरण कर प्रिय का चित्त विरह से व्याकुल हो जाता है —

"शशिमणीशिला सेय विपाण्डुरमानन,
करकिसलये कृत्वा वामे घनश्वसितोद्गमा।
चिरयति मयि व्यक्ताकूता मनाक् स्फुरितैर्भ्रुवोः,
विरमितमनोमन्युर्दृष्टा मया रुदती प्रिया।[3]

विरह व्यथा मनुष्य को शून्य एव कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान से रहित बना देती है।

---

१. "या गति. सर्व साधूना स्वाध्यायात्तपसश्च वा।
या भूमिदस्याहिताग्नेरेकपत्नी व्रतस्य च।"
रामायण-अयोध्या काण्ड-६४, ४३.
"या हि शूरा गतिं यान्ति संग्रामेष्वनिवर्तिनः
हतास्त्वभिमुखा पुत्र गतिं तां परमा व्रज।"
रामायण-अयोध्या काण्ड-६४, ४१.

२. मालती माधव—३, ६.

३. नागानन्द—२, ६.

परिमथन करने वाला शरीर-दाह सर्वत्र फैल जाता है, चित्त की मूढता तत्तद्विषय ग्राहिका शक्ति को आच्छादित कर लेती है। मदनाग्नि से दग्ध हृदय उत्कण्ठा की अधिकता तथा काम राग को धारण करता हुआ अन्दर ही अन्दर जलता है और नायिका से तादात्म्य को भी धारण कर रहा है—

"प्रसरति परिमाथी कोऽप्ययं देहदाह',
तिरयति करणानां ग्राहकत्व प्रमोह: ।
रणरणकविवृद्धि बिभ्रदावर्तमान,
ज्वलति हृदयमन्तस्तन्मयत्वं च धत्ते ।"[1]

इष्ट व्यक्ति के ध्यान में तन्मय होकर मनुष्य स्वयं को विस्मृत कर देता है। प्रिय अथवा प्रेयसी की वियोगावस्था मे मनोभिराम वस्तुएँ भी कुरूप एव अरुचिकरप्र तीत होती हैं। प्रिय प्राण भी हृदय मे शल्य की तरह विद्ध करने लगते हैं। इस अवस्था मे परिवार के विभिन्न सदस्यों से भी घिरा हुआ मनुष्य स्वय को एकाकी अनुभव करता है—

"तदारम्याण्यरम्याणि प्रियाशल्य तदासव' ।
तदैकाकी सबन्धु. सन् इष्टेन रहितो यदा ।"[2]

नारी के गुण

नारी के रूप एवं यौवन से समन्वित हृदय की उदारता एव स्वभाव की मधुरता ही आदर्श नारीत्व की कसौटी है। उसका सारा शारीरिक सम्मोहन एव शृंगार और प्रसाधन पति की सेवा शुश्रूषा एव भक्ति भावना से ही परिपूर्ण होते हैं। वह अपनी सुशीलता एवं मनस्विता के आधार पर परिवार के विश्वास एव सम्मान को अनायास ही प्राप्त कर सकती है।

महाभारत मे मृदुता, तनुता, व्याकुलता आदि गुणो का परिगणन किया गया है।[3] नारी की पति के प्रति ऐकान्तिक निष्ठा एव सेवा भावना ही उसका सर्वतोपरि गुण माना गया है। पार्वती ने स्त्री धर्म के वर्णन मे नारी के कर्तव्यो पर पूर्ण रूप से विवेचन किया है।

"सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना ।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तु: सा धर्मचारिणी ।"[3]

---

१. मालती माधव—१, ४२.
२. किरातार्जुनीय—११, २८.
३. महाभारत—अनुशासन पर्व, १४६, ३५.

परुषाण्यपि चोक्ता या दृष्टा दुष्टेन चक्षुषा ।
सुप्रसन्नमुखी भर्तुर्या नारी सा पतिव्रता ।"[1]

या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत् ।
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी ।[2]

न भोगेषु न कामेषु नैश्वर्ये न सुखे तथा ।
स्पृहा यस्या यथा पत्यौ सा नारी धर्मभागिनी ।"[3]

स्त्री धर्म के इस अध्ययन के अनन्तर यह स्पष्ट हो जाता है कि पत्नी को प्रियम्वदा एव मधुर भाषिणी होना चाहिए। पति-शुश्रूषा ही उसका प्रधान कर्तव्य होता है। स्मित पूर्वाभिभाषिणी होना नारी के गृहस्थ जीवन मे सुख एव आनन्द की अभिवृद्धि करता है। आसक्ति रहित होकर उसे सदैव अपने पति का अनुगमन करने की चेष्टा करनी चाहिए—

"पति हि देवो नारीणा पतिर्बन्धु पतिर्गति ।
पत्या समागतिर्नास्ति दैवत वा यथा पति ।"[4]

शील

उपर्युक्त गुणो मे चरित्र की रक्षा को सर्व श्रेष्ठ एवं अत्यन्त श्लाघनीय नारी का गुण माना जा सकता है। स्त्रियाँ पति के अभाव मे भी चरित्र की रक्षा के साथ प्राण की रक्षा करती हैं—

"रहिता भर्तृभिश्चापि न क्रुध्यन्ति कदाचन ।
प्राणांश्चारित्रकवचान्धारयन्ति कुल स्त्रिय ।"[5]

मन, वचन एव कर्म से किसी अन्य पुरुष की कामना न करने वाली सुन्दर आचार एवं शुचिता से परिप्लुत नारी नारी-जगत् के समक्ष आदर्श रूप मे उपस्थित की जा सकती है—

---

१. महाभारत—अनुशासन पर्व, १४६, ४२
२. वही—१४६, ४५.
३. वही—१४६, ४७
४. वही—१४६, ५५.
५. वही—वन पर्व, ६५, २६

"कर्मणा मनसा वाचा पति शुश्रूषणे रता।
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी।"[1]

पहले मन से निश्चय करने के अनन्तर किया गया पति का वरण अविच्छिन्न एव अक्षुण्ण माना गया है। एक बार वरण किया गया पति चाहे गुणवान् हो अथवा गुणहीन और चाहे दीर्घ आयु वाला हो अथवा अल्पायु। सावित्री की यह घोषणा कि वह एक बार वरण किये हुए पति का परित्याग करके अन्य पति का वरण कदापि नही करेगी—सदैव नारी के चरित्र का अमूल्य आदर्श प्रस्तुत करती रहेगी—

"दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीय वृणोम्यहम्।"[2]

उसे तो पति के जीवन के अतिरिक्त कुछ भी नही चाहिए। पति के बिना न उसे सुख चाहिए, न स्वर्ग, न लक्ष्मी और न जीवन ही उसे अपेक्षित है—

"न कामये भर्तृ विनाकृता सुख, न कामये भर्तृ विना कृता दिवम्।
न कामये भर्तृ विना कृता श्रियम्, न भर्तृ हीनः व्यवसामि जीवितुम्।"[3]

कपोत ने अपनी पत्नी के शील के सम्बन्ध मे जो उद्गार प्रगट किये वे नारी के सदाचार की चरम परिणति के रूप मे स्वीकार किये जा सकते हैं—

"न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता।
ना तिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शयिते मयि।
हृष्टे भवति सा हृष्टा दुःखिते मयि दुःखिता।
प्रोषित दीनवदना क्रुद्धे च प्रिय वादिनी।"[4]

इस प्रकार पति का अनुसरण करने वाली पत्नी को पाकर पुरुष स्वय को धन्य एव अत्यन्त भाग्यशाली मानता है। ऐसी दयिता के साथ वृक्ष के मूल पर निवास भी प्रासाद के समान आनन्द दायक माना जाता है।[5]

---

१. महाभारत—वन पर्व, २९०, १४.
२ वही—२९४, २७.
३. वही—२९७, ५३.
४. वही—शान्ति पर्व, १४४, ८–९.
५. वृक्ष मूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम्।
प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तार इति निश्चितम्।
महाभारत—शान्तिपर्व, १४४, १२.

स्त्रियो का बुद्धियुक्त एव ज्ञान शील होना निसर्ग सिद्ध माना जाता है। पुरुष तो शास्त्रो के अध्ययन से पटुता प्राप्त करता है पर इसके विरुद्ध नारियाँ जन्म से ही चतुर एव ज्ञान सम्पन्न होती हैं—

"स्त्रियो हि नाम खल्वेता निसर्गादेव पण्डिताः।
पुरुषाणान्तु पाण्डित्यं शास्त्रैरेवोपजायते।"[1]

कालिदास ने इस तथ्य को परपुष्ट का निदर्शन देकर परिपुष्ट किया है। उनका विचार है कि ज्ञान शून्य मानवेतर कोकिल-जाया ही जब आकाश मे उड्डयन से पूर्व अपने शिशुओ का पालन पोषण काक कुल से कराती है तो मानव जाति की स्त्रियो का तो कहना ही क्या—

"स्त्रीणामशिक्षित पटुत्वममानुषीषु, सदृश्यते किमुत या· प्रतिबोधवत्य।
प्रागन्तरिक्षगमनात्स्वमपत्यजात, अन्यैर्द्विजै परभृताः खलु पोषयन्ति।"[2]

महाकवि भवभूति ने स्त्रियो को पवित्र एव जगत् पावनी माना है। जिस प्रकार तीर्थ का जल एवं अग्नि स्वय विशुद्ध हैं उसी प्रकार नारी की पवित्रता के लिए अन्य उपकरणो की आवश्यकता नही होती—

"उत्पत्तिपरिपूताया किमस्या पावनान्तरै।
तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यत. शुद्धिमर्हत.।"[3]

कुल की मान मर्यादा एव प्रतिष्ठा कुलवधू पर आश्रित रहती है। गुण ही पूजा एव सम्मान के भाजन हैं, उन्ही के कारण वश का गौरव एव परिवार की सुख और समृद्धि की अभिवृद्धि होती है।

नारी के दूषण

भारतीय वाङ्मय मे चरित्र एव पातिव्रत्य की प्रशसा के अतिरिक्त कई स्थान पर नारी के अवगुणो की भी चर्चा की गयी है। इन स्थलो के अध्ययन से स्त्री जाति के चरित्र पर प्रकाश डाला जा सकता है। नारी मे कुतूहल एवं उत्सुकता की भावना अत्यन्त तीव्र होती है। जब उसके मन मे किसी वस्तु को जानने अथवा प्राप्त करने की इच्छा

---

१. मृच्छकटिक—४, १९.
२. अभिज्ञान शाकुन्तल, ५, २२.
३. उत्तर रामचरित—१, १३.

जाग्रत हुई तो वह अदम्य हो जाती है। अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए उसे अपनी मान मर्यादा एव प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं रहता। उत्सुकता का यह दोष उसमे कभी अनुचित यौन आकाक्षा को भी जाग्रत कर देता है। दिव्य रति के कुतूहल से ही अहल्या ने स्वय को इन्द्र की काम पूर्ति के लिए प्रस्तुत कर दिया।'[1]

स्त्री रूपिणी उत्तर दिशा से अष्टावक्र के वार्तालाप मे नारी के इस दूषण की पुष्टि हो जाती है—

"नानिलोऽग्नि नं वरुणो नचान्ये त्रिदशा द्विज।
प्रिया. स्त्रीणा यथा कामो रति शीला हि योषितः।"[2]

रति शीला होना उतना महान् दूषण नही होता पर वह तो यहाँ तक कह जाती है कि एक सहस्र स्त्रियो मे यथा कथञ्चित् कोई एक स्त्री पतिव्रता हो सकती है—

"सहस्रे किल नारीणा प्राप्येतैका कदाचन।
तथा शतसहस्रेपुयदि काचित् पतिव्रता।
नैता जानन्ति पितर न कुल न च मातरम्।
न भ्रातॄन् न च भर्तार न च पुत्रान् न देवरान्।"[3]

शरोर एव मन की दुर्बलता नारी की एक और विशेषता है। नैराश्य और हृदय की क्षुद्रता—ये दोनो स्त्री स्वभाव के विशिष्ट लक्षण है। उनका चञ्चल स्वभाव उन्हें पथ भ्रष्ट कर पतन के गर्त मे ढकेल देता है—

"चल स्वभावा दु सेव्या दुर्ग्राह्या भावतस्तथा।
प्राज्ञस्य पुरुषस्येह यथा वाचस्तथा स्त्रिय।"[4]

उनकी जो कामना करता है वे उसी की अभिलाषा करने लगती है। पुरुष का सौन्दर्य अथवा उसकी आयु इनके लिए विशेष महत्त्व की वस्तु नही—

"स्त्रिय हि यः प्रार्थयते सन्निकर्षं च गच्छति।
ईषच्च कुरुते सेवा तमेवेच्छन्ति योषित.।"[5]

---

१. 'मतिञ्चकार दुर्मेधा देवराज कुतूहलात्।' रामायण—बालकाण्ड, ४८, १९.
२. महाभारत—अनुशासन पर्व, १९, ९१–९२.
३. वही—१९, ९२–९४.
४. वही—३८, २४.
५. वही— ३८, १५

नामा कश्चिदगम्यो हि नासाँ वयसि निश्चय ।
विरूप रूपवन्त वा पुमानित्येव भुञ्जते ।"[1]

स्त्रियो की पुरुष से तृप्ति नही होती । जिस प्रकार काष्ठो से अग्नि तृप्त नही होती नदियो से समुद्र एव प्राणियो से यम, उसी प्रकार पुरुषो से ये कभी तृप्ति का प्राप्त नही करती । व्यास का कहना है कि सुन्दर युवा पुरुष को देखकर उनकी काम लालसा अति तीव्र हो जाती है—

"इदमन्यच्च देवर्षे रहस्य सर्वयोषिताम् ।
दृष्टेव्व पुरुष हृद्यं योनि प्रक्लिद्यते स्त्रिया ।"[2]

मन्थरा के हाथो कैकेयी का प्रलोभीकरण यह सिद्ध करता है कि मन की चञ्चलता के कारण स्त्रियो के लिए कुशिक्षा ग्रहण करना सर्वथा सम्भव है ।

महर्षि व्यास ने स्त्रियो को अत्यन्त दोष दुष्ट, पापाचरणशील एव सर्पिणी के समान माना है—

'को जातु परभावा हि नारी व्यालीमिव स्थिताम् ।
वासयेत गृहे जानन् स्त्रीणा दोषो महात्यय ।"[3]

उन्होने एक स्थान पर यह भी स्वीकार किया है कि ऐसी दुराचारिणी स्त्री का दूर से ही परित्याग करना ही अभीष्ट होता है—

"कुभार्यांञ्च कुपुत्रञ्च कुराजान कुसौहृदम् ।
कुसम्बन्ध कुदेश च दूरत. परिवर्जयेत् ।"[4]

नारी की भावुकताभय दुर्बलता के कारण कोई भी लम्पट व्यक्ति अनुनय विनय करके उसके सौन्दर्य की प्रशसा एव जीवन के अन्यान्य सौख्यो का रगीला चित्र दिखाकर उसे प्रणय केलि के हेतु अपने वश मे कर सकता है । किसी अनिच्छुक रमणी के काम भाव को जाग्रत करने के लिए उसके बीतते हुये यौवन की ओर सकेत करना पर्याप्त है—

१. महाभारत–अनुशासन पर्व, ३८, १७.
२. वही–अनुशासन पर्व, ३८, २६,
३. वही–उद्योग पर्व, १७८, ४५.
४. वही–शान्ति पर्व, १३९, ९३.

"इद ते चारु सञ्जात यौवन ह्यतिवर्तते ।
यदतीतं पुनर्नैति स्रोत स्रोतस्विता यथा ।"[1]

स्त्रियो की दुर्बलता की ओर इंगित करते हुए महामुनि अगस्त्य ने राम से कहा था कि सृष्टि के आदि से ही स्त्रियो का यह स्वभाव रहा है कि वे अपने समस्थ पति का अवलम्बन करती हैं और विषमस्थ का परित्याग कर देती है। अपना घर बदलने मे विद्युत् की चपलता का, स्नेह बन्धन तोडने में शस्त्रों की तीक्ष्णता का और अकार्य करने मे गरुड और वायु की शीघ्रता का वे अनुकरण करती हैं।[2]

सीता के मुख से मर्मान्तिक आघात करने वाले वचन सुनकर लक्ष्मण ने सीता की भर्त्सना करते हुये कहा था कि स्त्रियाँ प्राय: विनय आदि गुणो से रहित, चञ्चल, कठोर एव परस्पर भेद डालने वाली होती हैं—

"स्वभावस्त्वेष नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते ।
विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकरा स्त्रिय:।"[3]

दुराचारिणी नारियो की भर्त्सना पूर्वक निन्दा करते हुये कौसल्या ने कहा कि युवती स्त्रियाँ असत्य परायण, विकारग्रस्त, हृदयहीन, पाप सकल्प, अनियन्त्रित एव क्षणिक अनुराग करने वाली होती है। उच्च कुल, विद्या, उपकार, दान, बन्धन—इनमें से कोई भी पाप कर्म से उन्हे निवृत्त नही कर सकता।[4]

उनका हृदय अस्थिर एव अनिश्चित होता है। इसीलिए राम ने भरत को परामर्श दिया था कि तुम्हे स्त्रियो का कभी विश्वास नही करना चाहिये, और न उन्हे गुप्त रहस्य ही बताने अपेक्षित हैं—

"कच्चिन्न श्रद्दधास्याना कच्चिद्गुह्य न भाषसे ।"[5]

---

१. रामायण—सुन्दर काण्ड, २०, १२.
२. वही—अरण्यकाण्ड, १३ ६.
३. वही—४५, २९–३० देखिये
   वाक्यमप्रतिरूपन्तु न चित्र स्त्रीषु मैथिलि ।" वही—४५, २९.
४. वही—अयोध्याकाण्ड, ३९, २१,–२२.
५. वही—१००, ४९

महाकवि अश्वघोष[1] के अनुसार विषयुक्त लताओ का स्पर्श करने से, सर्प युक्त गुफाओ को साफ करने से और अनावृत तलवार को पकडने से जी विपत्ति उपस्थित होती है उसी प्रकार स्त्रियो के सम्पर्क का परिणाम विपत्तिजनक होता है।

कालिदास ने स्त्री सम्पर्क को तपोविघ्नकारी एव पथ भ्रष्ट करने वाला कहा है-

"तमाशुविघ्न तपसस्तपस्वी वनस्पति वज्रभिवावभज्य ।
स्त्री सन्निकर्षं परिहर्तुमिच्छिन्नन्तर्दधे भूतपतिः सभूतः ।"[2]

भट्ट नारायण के अनुसार स्त्रियाँ अतिशीघ्र ही प्रभावित हो जाती है। सहवास के कारण अपने सान्निध्य मे रहने वाले व्यक्ति के दुर्गुणो एव दुर्भावनाओ से दूर रहने की क्षमता उनमे नही । विष वृक्ष पर अवलम्बित लता मधुर होते हुए भी मूर्च्छाकारिता आदि विष के गुणो से अभिभूत हो ही जाती है—

"स्त्रीणा हि साहचर्याद्भवन्ति चेतासि भर्तृसदृशानि ।
मधुरापि मूर्च्छयते विषविटपिसमाश्रिता वल्ली ।"[3]

विभीषण की दृष्टि मे परदारा सर्पिणी के समान है। रावण को परामर्श देते हुए उन्होने कहा कि वक्षस्थल रूपी फणधारी, चिन्तारूपी विष से युक्त, हास्य रूपी तीक्ष्ण दांतो वाला एव पाँच अँगुली के रूप मे पाँच शिर वाला यह सीता-रूपी महाव्याल है—

'वृतो हि वाह्वन्तर भोगराशिश्चिन्ताविष सुस्मित तीक्ष्णदष्ट्र ।
पञ्चाङ्गुली पञ्च शिरोऽतिकाय सीता महाहिस्तव केन राजन्।"[4]

नारी से सम्बन्धित उक्त तथ्यो के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इनमे से अधिकाश कटु उक्तियाँ उन व्यक्तियो के उद्गार हैं, जो किसी कारण से स्त्रियो से अपकृत, अतएव असन्तुष्ट एव रुष्ट रहे हैं। कैकेयी की स्वार्थपरता एव महत्वाकाक्षा से विचार शील महाराज दशरथ एव समस्त प्रजा क्रुद्ध एव दुखी थे। अतः उनके द्वारा की गयी नारी मात्र की निन्दा का अभिप्राय नारी मात्र को कलङ्कित करना कदापि नही माना जा सकता ।

---

१. "सविषा इव सश्रिता लता परिभृष्टा इव सोरगा गुहा: ।
विवृता इव चासयोधृता व्यसनान्ता हि भवन्ति योषित ।"
सौन्दर नन्द, ८, ३१.

२. कुमार सम्भव—३, ७४.

३. वेणी सहार—१, २०.

४. रामायण—युद्धकाण्ड, १४, २.

महाराज दशरथ ने इसी कारण कहा कि सभी स्त्रियाँ कैकेयी के समान शठ एवं स्वार्थान्धतापूर्ण नही होती—

"न ब्रवीमि स्त्रिय· सर्वा भरतस्येव मातर ।"[1]

इसके अतिरिक्त इन उक्तियो का उद्देश्य स्त्री निन्दा करना नही है प्रत्युत निन्दित आचरण से विमुख करने, सदाचार, पातिव्रत्य आदि को स्वीकार करने का आग्रह करना है । अतः विशेष परिस्थितियो एव विशेष नारी के विषय मे उद्भूत ये उक्तियाँ नारी मात्र के लिए एक निश्चित दृष्टिकोण निर्धारित करने मे अपर्याप्त हैं ।

नारी का स्वातन्त्र्य

शरीर एव मन की दुर्वलता, सद्य प्रभावित होना एव भावनाजन्य दुर्बलता के कारण महा मनीषियो ने नारी की रक्षा को पुरुष का प्रमुख कर्त्तव्य माना है। उसकी भावुकता एवं अवलात्व ने नारी की स्वेच्छाचारिता पर प्रतिबन्ध लगा कर उसे रक्षा की दृष्टि से पुरुष के आश्रित बना दिया है। नारी पर काम के अपरिमित प्रभाव एव आत्म महत्त्व की भावना ने भी उसकी स्वच्छन्दता का अपहरण करने मे समुचित योग दिया है ।

महर्षि व्यास ने स्त्री के रक्षण के द्वारा अपनी सन्तति एव आत्मा की रक्षा का होना स्वीकार किया है—

"यद्भार्या परिरक्षन्ति भर्तारोऽल्पवला अपि ।
भार्याया रक्ष्यमाणाया प्रजा भवति रक्षिता ।"[2]

महर्षि व्यास ने जीवन पर्यन्त स्त्री के स्वातन्त्र्य का निषेध किया है ।

"पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रास्तु स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।"[3]

समृद्धि काल मे भर्ता एव विपत्ति काल मे पिता ही स्त्री का आश्रय होता है ।

---

१. रामायण—अयोध्या काण्ड, १२, १०२.

२. महाभारत—वन पर्व, १२, ६८–६९.

३. वही—अनुशासन पर्व, ६४, १४ तथा २०, २१ । देखिये—
   (१) "गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मज. ।
   तृतीया ज्ञातयो राजन् चतुर्थी नैव विद्यते ।"
   रामायण—अयोध्या काण्ड, ६१, २४.
   (२) "नास्ति त्रिलोके स्त्री काचिद्या वै स्वातन्त्र्यमर्हति ।"
   महाभारत—अनुशासन पर्व २०, २० तथा द्रष्टव्य–वही २०, १४

"पतिर्वापि गतिर्नार्या पिता वा वरवर्णिनी ।
गतिः पतिः समस्थाया विषमे च पिता गति ॥

राम लक्ष्मण से कहते हैं कि स्त्री का सरक्षण एव भरण पोषण पुरुष की शक्ति एव श्रम पर निर्भर है ।[2] पति का यह प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है कि वह पत्नी की पूर्ण सावधानी से रक्षा करे ।[3] अन्यथा परिवार के भाल पर अपयश एव कलङ्क का टीका लगना असम्भव नही ।[4]

इससे स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि भारतीय परम्परा मे स्त्री जाति की पवित्रता एव विशुद्धि पर विशेष प्रश्रय दिया गया है । अक्षुण्ण पति-भक्ति नारी के हृदय मे एक ऐसा आत्म विश्वास उत्पन्न कर देती है कि दुष्टो एव लम्पटो के कुचक्र मे पडकर भी वह अपने सतीत्व की रक्षा करने मे समर्थ हो जाती है ।

भारतीय साहित्य मे नारी की शालीनता एव सच्चरित्रता की रक्षा के लिये आग्रह होने पर भी किसी प्रकार के बल प्रयोग को अनुचित एव नितान्त गर्हणीय माना गया है । क्रोधोन्मत्त हनुमान् तारा के समक्ष पहुँच कर अपने क्रोध का निवारण कर लेते है—

"नहि स्त्रीषु महात्मान क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम् ।"[5]

स्त्री वध

भारतीय काव्यो मे ऐसे अनेक तथ्य उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर स्त्री को अवध्या माना गया है ।[6] स्त्री का वध एक अनार्य कृत्य एव नितान्त जघन्य माना कार्य गया है । शूर्पणखा एव अयोमुखी के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि दुराचारिणी स्त्री के वध की अपेक्षा उसे विकृत या कुरूप कर देना अधिक उचित समझा गया है । ताडका का वध उसी अवस्था मे किया जाना उचित समझा गया जबकि समाज के हित की दृष्टि

---

१. महाभारत—उद्योग पर्व, १७६, ७-८
२. रामायण—अयोध्या काण्ड, ५३, ३.
३. "यथात्मनस्तथा दारा स्त्वया रक्ष्या विपश्चिता ।" वही-अरण्यकाण्ड ५०,८
४. "मातु कुल पितृ कुल यत्र चैव च दीयते ।
कुलत्रय सदा कन्या सशये स्थाप्य तिष्ठति ।" वही-उत्तर काण्ड,९, ११
५ वही—किष्किन्धाकाण्ड, ३३, ३६.
६. "अवध्या सर्वभूताना प्रमदा, क्षम्यतामिति ।"
वही-अयोध्याकाण्ड, ७८, २१

से उसे मारने के अतिरिक्त और कोई अन्य उपाय नही रह गया था। समाज विरोधी कार्यों मे योग देने वाली दुराचारिणी नारियो के वध की अनुमति देते हुए कालिदास ने राम के द्वारा मन से स्त्री दया एव धनुष से बाण को एक साथ मुक्त कराया—

"उद्यतैकभुजयष्टिमायती श्रोणिलम्बि पुरुषान्त्रमेखलाम् ।
ता विलोक्य वनिता वधे घृणा पत्रिणा सह मुमोच राघव.।"[1]

शूद्रक ने भी नारी के प्रति दुर्व्यवहार को नितान्त हेय बतलाया है—

"अग्राह्या मूर्धजेष्वेता स्त्रियो गुणसन्विता ।
न लता पल्लवच्छेदमर्हन्त्युपवनोद्भवा ।"[2]

कैकेयी की बुद्धि भ्रष्ट करने वाली मन्थरा एव उसकी स्वामिनी को मारने के हेतु कृतसकल्प शत्रुघ्न को भरत ने यह कहकर रोका कि स्त्रियो को अवध्य माना गया है और सम्भवत: राम भी इस जघन्य एव घृणास्पद कार्य से अप्रसन्न हो—

"हन्यामहमिमा पापा कैकेयी दुष्टचारिणीम् ।
यदि मा धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ।"

इमामपि हता कुब्जा यदि जानाति राघव: ।
त्वाञ्च माञ्च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ।"[3]

वध का निषेध करते हुए महर्षि व्यास ने वध के अयोग्य व्यक्तियो के परिगणन मे स्त्री, बाल, तपस्वी, भयभीत एव युद्ध न करने वाले का उल्लेख किया है। पशु पक्षियो मे भी स्त्री के वध का सर्वथा निषेध किया गया है—

" मा वधीस्त्वं स्त्रिय भीरु मा शिशु मा तपस्विनम् ।

---

१. रघुवस— ११, १७.

२ मृच्छकटिक ८, २१. रामायण-बालकाण्ड, अध्याय-२५-तुलना कीजिये
"एनाक राघव दुर्वृत्ता यक्षी परमदारुणाम् ।
गोब्राह्मण हितार्थाय जहि दुष्ट पराक्रमाम् ।"१५
नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम ।
चातुर्वर्ण्यहितार्थाय कर्तव्य राजसूनुना ।" १७-१८.

३. रामायण— अयोध्या काण्ड, ७८, २२–२३.

नायुध्यमानो हन्तव्यो न च ग्राह्या बलात्स्त्रियः ।
सर्वथा स्त्री न च हन्तव्या सर्वसत्त्वेषु केनचित् ।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्य मे नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण को अपनाया गया है। सदाचार एव शिष्टाचार के आधार पर नारी का सम्मान एव उसके गौरव की रक्षा प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। स्त्री मात्र का वध सर्वथा गर्हणीय एव हेय माना गया है। कुछ एक परिस्थितियो को छोडकर नारी को अवध्य मानना भारतीय सस्कृति के उदात्त एव समुन्नत दृष्टिकोण का परिचायक है।

नारी का पितृ कुल में निवास

नारी जीवन के गौरव एव प्रतिष्ठा की चरम उपलब्धि उसे पति के कुल मे निवास करने से ही प्राप्त होती है। प्राचीन भारतीय आदर्श के अनुसार विवाह के पश्चात् नारी का पितृकुल मे निवास अनुचित माना गया है। उसमे यश, चरित्र एव धर्म के लोप होने की आशङ्का सदैव वर्तमान रहती है।

महर्षि व्यास ने शकुन्तला के पति-गृह भेजने का आग्रह इसीलिए किया है—

"नारीणा चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्र्यधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ।"[2]

कालिदास के अनुसार, स्त्री का, चाहे वह पति की प्रिय हो अथवा अप्रिय, पति के घर पर दासी के रूप मे भी रहना श्रेयस्कर है। पातिव्रत्य का पालन करती हुई भी पितृ कुल मे रहने वाली स्त्रियो के विषय मे समाज अनेक शङ्काएँ करने लगता है—

"सतीमपि ज्ञातिकुलैकसश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमती विशङ्कते ।
अत समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः"।[3]

इसी कारण स्त्रियो पर पति की सर्वतोमुखी प्रभुता को स्वीकार किया गया है—

"तदेषा भवत. कान्ता त्यज वैना गृहाण वा ।
उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ।[4]

---

१. महाभारत— शान्तिपर्व, १३५, १३-१४, तुलना कीजिये—
"अवध्यास्तु स्त्रिय. सृष्टा मन्यन्ते धर्मचारिण" ।
वही—आदिपव, २१७, ४.

२ वही—आदिपव, ७४. १२

३. अभिज्ञान शाकुन्तल—५, १७.

४. वही ५, २६

नारी की शारीरिक दुर्बलता एवं सुकुमारता तथा पति की सर्वतोमुखी प्रभुता के ही कारण स्त्रियो का घर की सीमा मे रहना अनिवार्य हो गया। लम्पट एवं दुराचारी पुरुषो के दुष्ट चक्षुओ से रक्षा करने के लिए उन्हें अवगुण्ठन में रहना होता है। अयोध्या के राजमार्ग से पति के साथ जाते हुए सीता को देखकर जन समूह खिन्न होकर कह उठता है कि जिसे गगनधारी जीव भी नही देख पाते थे, उसी सीता को आज प्राकृत जन भी देख रहे हैं—

"या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः।"[1]

परन्तु विशेष परिस्थितियो मे इस मर्यादा को शिथिल भी किया जा सकता है। वाल्मीकि के मत मे विपत्ति काल मे, युद्धो, स्वयम्वरों, यज्ञो और विवाहादि अवसरो पर स्त्रियो को देखना दोषावह नही माना गया है —

"व्यसनेषु च कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयम्वरे।
न क्रतौ न विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियाः।"[2]

स्त्रियो की ओर देखने को एक अशिष्ट कर्म मानना सुसंस्कृत देश एव उसकी उन्नत सभ्यता एव उदात्त दृष्टिकोण की ओर इङ्गित करता हैं। महर्षि व्यास ने कहा है कि जिन नारियो को, पति के जीवित रहने पर, देवगण भी देखने मे असमर्थ थे, वैधव्य अवस्था मे प्राकृत जन भी उन्हें देख सकते हैं—

'अदृष्टपूर्वा या नार्यः पुरा देवगणैरपि।
पृथग्जनेन दृश्यन्ते तास्तदा निहतेश्वरा.।'[3]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नारी के चरित्र एवं शालीनता की

---

१. रामायण— अयोध्या काण्ड, ३३, ८.

२. वही— युद्ध काण्ड, ११४, २८। देखिये:—
"स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतद् वाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः।
निर्दोष दृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।"
प्रतिमा नाटक— १, २९.

१. महाभारत— स्त्री पर्व, १०, ८. - देखिये—
"अदृष्टपूर्वा या नार्यो भास्करेणापि वेश्मसु।
ददृशुस्ता महाराज जना याताः पुरं प्रति"। महभारत-शल्यपर्व,२९-७४,

रक्षा करने के हेतु उसका अदृश्य रहना एव अवगुण्ठन का आश्रय लेना भारतीय सदाचार की प्रमुख आधार शिला है।

नारी जीवन मे मातृत्व उसके गौरव मय जीवन की पूर्ण परिणति एवं व्यक्तित्व का असाधारण विकास माना जाता है। अपने अङ्ग प्रत्यङ्गो से हृदय के सुकुमार तन्तुओं को सँजोकर एक नूतन चेतन पदार्थ की सृष्टि करके उसका जगतीतल पर नवोन्मेष करना, उसके समस्त स्नेह एव सौन्दर्य की सफलता तथा उसके अस्तित्व की चरम प्रतिष्ठा है। निस्सन्तान होने का दु:ख नारी को निरन्तर कष्ट देता रहता है। सन्तति के अभाव में वन्ध्या स्त्री की दयनीयता एव विषाद अत्यन्त तीव्र एव असह्य हो जाते हैं। निस्सन्तान होना नारी मात्र के लिए एक महान् अभिशाप है। इस अवस्था मे उसका सारा जीवन शून्य, रसहीन एव निरन्तर मनोवेदना के रहने से अकर्मण्य बन जाता है। समाज को भी कुल क्रम की अविच्छिन्नता एव वश प्रवर्तन अत्यधिक अभीष्ट होता है।

उपर्युक्त अध्ययन के सिंहावलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि सस्कृत काव्यों मे उदारता एव अनुदारता, व्यावहारिकता एव आदर्शवादिता का सुन्दर समन्वय है। पति पत्नी के पारस्परिक सम्बन्ध का आधार एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था है, जो सौहार्द सहयोग के तन्तुओ पर अवलम्बित होने से अनुराग एव जीवन के प्रति उदार तथा उदात्त दृष्टिकोण की रचना करती है।

जीवन सहयोगी के चयन मे वैयक्तिक भावना अथवा पूर्व परिचय के लिए अवकाश न होते हुए भी सस्कृत काव्यो मे पर्याप्त उदारता का आभास मिलता है। वहाँ बहु पत्नी प्रथा के परिणाम स्वरूप होने वाले पारिवारिक सघर्ष की यदा कदा झाँकी मिल जाती है पर साथ ही एक पत्नी व्रत के महान् आदर्श को भी आँखो से ओझल नही किया जा सकता।

यद्यपि वैधव्य नारी के लिए घोरतम विपत्ति माना गया है तथापि विधवाओ का अनादर कही दृष्टि पथ मे नही आता। स्त्री के अस्खलित पातिव्रत्य को समाज मे आदर दिया जाता है तथा पातिव्रत्य का अनुशीलन करने वाली नारियो का जीवन श्लाघनीय एव अनुकरणीय होता है। पति की स्नेह-शील एव धर्माचरण में अभिन्न सहचरी होने से साध्वी, पति परायणा एव चरित्रवना पत्नी को गार्हस्थ्य जीवन मे श्रद्धा एव स्नेह प्राप्त होता है तथा उसका अधिकारपूर्ण एवं सुरक्षित पद उसके गौरव की अभिवृद्धि करता है।

शील और शोभा की प्रतिमूर्ति, लावण्य और सुकुमारता की निधि, सुख और सौभाग्य की केन्द्र बिन्दु तथा ममता एव आत्मीयता की अधिष्ठात्री नारी का समाज मे गौरवपूर्ण स्थान भारतीय सस्कृति की महनीयता, अनुपमता एव मार्मिकता को प्रतिष्ठित करता हैं।

राजनीति

पिछले परिच्छेदो मे व्यवहार की दृष्टि से नैतिक आदर्शों का सम्यक् अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है। सामाजिक व्यवस्था के विवेचन के अनन्तर राष्ट्र एव राजा के स्वरूप आदि विविध राज्य व्यवस्था से सम्बन्धित विषयो का अध्ययन युक्ति युक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है। राज्य व्यवस्था एव राष्ट्र की रूपरेखा पर भारतीय प्राचीन वाङ्मय का बहुमुखी, व्यापक एवं शाश्वत प्रभाव परिलक्षित होता है। राज्य व्यवस्था युग के साथ साथ परिवर्तन की विभिन्न अवस्थाओ मे होकर गतिशील होती रही है। सभ्यता के विकास को परम्परा मे जीवन की विसष्ठुलता की वृद्धि के साथ साथ विभिन्न सामाजिक वर्गों एव स्तरो की उत्पत्ति होती है। इसी सिद्धान्त के आधार पर विशेषत प्रारम्भिक युग के आर्यों एव अनार्यों के संघर्ष के कारण आर्य जनता मे क्रमश देवताओ की स्तुति करने वाले ब्राह्मण, धार्मिक कृत्य को प्रतिनिधि के रूप मे सम्पन्न करने वाले पुरोहित, शत्रु के आक्रमण से रक्षा करने वाले क्षत्रिय, राजा आदि का उदय हुआ।

राजा

'राजन्' शब्द से 'राजा' की निष्पत्ति हुई, जिसका सामान्यत अर्थ होता है राज्य करने वाला। भारत के प्राचीन मनीषियो ने प्रजा के अनुरञ्जन करने वाले व्यक्ति को राजा कहा है।[1]

विभिन्न आधि, व्याधि आदि विभीषिकाओ से प्रजा की रक्षा कर उसका हित सम्पादित करते हुए उसके सम्यक् अनुरञ्जन करने वाले व्यक्ति को राजा कहा जाता है। इसी अर्थ मे 'राजन्' शब्द का प्रयोग चिरकाल से होता चला आ रहा है।

न्याय के अनुकूल आचरण करने वाले एव अपनी सन्तति के समान प्रजा को

---

१. "राजा प्रकृति रञ्जनात्।" रघुवंश—४, १२.

रक्षा करने वाले राजा के राज्य मे प्रजा सुख और शान्ति के साथ निरन्तर समृद्धि को प्राप्त करती हुई उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है।

राजा का उद्भव

वैदिक युग का देवासुर सघर्ष आर्यों एव अनार्यों के परस्पर युद्ध, शत्रुता, द्वेष आदि का कारण माना जाता है। उनका यह व्यवस्थित सघर्ष अपनी जय पराजय के लिए सशक्त नेतृत्व की अपेक्षा रखता था। नेता के द्वारा सुव्यवस्थित सैन्य सचालन असुर विजय का कारण समझा गया। और यही से राज सस्था का उदय आरम्भ होता है—

"देवा सुरा वा एषु लोकेषु समयतन्त—ता स्ततोऽसुरा अजयन्।
देवा अब्रुवन्, अराजकतया वै नो जयन्ति। राजान करवामहा इति तथेति।"[1]

निर्वाचन के अनन्तर शपथ ग्रहण करना इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि आरम्भ मे राजा का पद वंश क्रमानुगत न होकर योग्यता के आधार पर था। समस्त प्रजा-जन एकत्रित होकर नव निर्वाचित राजा के लिए यह कामना करते थे कि वह स्वर्ग के समान अविचल, पृथ्वी के समान दृढ, विश्व के समान निश्चल एव पर्वत के समान अटल रहे।[2]

राजा को अपने कर्तव्य के प्रति सजग करती हुई प्रजा कहती है कि तुम दृढता से शत्रुओ का नाश करो तथा राष्ट्र का अहित करने वालो को पैरो के तले डाल कर कुचल दो। तुम्हारी दृढता के लिए यह समस्त प्रजा तुम्हारा निर्वाचन करती है।[3]

महाभारत के शान्ति पर्व मे युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से यह प्रश्न किया कि 'राजन्' शब्द का क्या अर्थ होता है तथा यह कैसे उद्भूत हुआ। मानव मात्र के अङ्ग प्रत्यङ्ग तथा बुद्धि एव क्षमता आदि समान है तो राजा और प्रजा मे यह अन्तर कैसा? इसके अतिरिक्त एकमात्र राजा की प्रसन्नता से सारा जगत् प्रसन्नता का अनुभव करता है तथा उसकी विपत्ति मे व्याकुलता का। सारा जगत् एक ही व्यक्ति को देवता मानकर नत मस्तक हो जाता है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुये भीष्म ने राजा, राज्य सस्था आदि के उद्भव पर तथ्य पूर्ण प्रकाश डाला है।[4]

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण-१, १४.
२. अथर्व वेद-६, ८७, १.
३, वही-६, ८८, ३.
४. महाभारत—शान्ति पर्व ५९, ५-२०.

कृत युग मे न राजा था और न राज्य, न दण्ड था न दण्ड धारक, समस्त प्रजा धर्म के अनुसार रक्षित होती थी। समय परिवर्तनशील है। क्रमश· प्रजा को मोह एवं अविवेक ने ग्रस्त कर लिया। कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञान-शून्य प्रजा धर्म के लोप होने से लोभ और काम के वशीभूत हो गयी। राग के अधीन होकर उन्होने गम्यागम्य, वाच्य अवाच्य, भक्ष्याभक्ष्य, दोष अदोष सभी को अपनाया। धर्म लोप के कारण धार्मिक-कृत्यो एव यज्ञ यागादिको का लोप होना नितान्त स्वाभाविक था। तदन्तर देवताओ की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने लोक मर्यादा की स्थापना के लिये एक राजा की सृष्टि की एव नीति शास्त्र का निर्माण किया।

राज धर्म का प्रतिपादन करते हुये भीष्म ने कुछ नैतिक सिद्धान्तो को प्रस्तुत किया है। काम, क्रोध, लाभ एव मान को दूर हटाकर प्राणिमात्र के प्रति सम भाव से आचरण करना एव सनातन धम के अनुसार व्यवहार करते हुये धर्म विमुख को दण्डित करना राजा का प्रमुख कर्तव्य कहा गया है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण समाज के गौरव एव प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुये प्रजाजन की वर्ण सङ्करता एव धर्म सङ्करता का उन्मूलन करके वेदोक्त दण्ड नीति मे प्रतिपादित नित्य कर्म का यथावत् अनुपालन करना भी राजा का प्रधान धर्म है।[1]

भीष्म के इस नीति पूर्ण उपदेश से यह तथ्य निकाला जा सकता है कि प्रजा का पालन एव अनुरञ्जन राजा का सर्व प्रमुख कर्तव्य है। निरडकुशता एव स्वेच्छाचारिता का पूर्णतया परिहार करके वह अपने जीवन को राज नियमो के द्वारा सुनियन्त्रित एव सुसयत रखता है। वह उन नैतिक नियमो की अवहेलना कदापि नहीं कर सकता। दण्ड नीति के द्वारा प्रतिपादित नियमो के आधार पर न्यायपूर्वक समभाव से शासन भार को वहन करना उसके जीवन का अङ्ग होता है।

इसके विपरीत शपथ ग्रहण करके भी प्रजा की रक्षा न कर प्रतिकूल आचरण करने वाले राजा को असत्य सन्ध कहा जाता है तथा वह प्रजा के द्वारा वध योग्य माना गया है—

"अह वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षनि भूमिपः।
स सहत्य निहन्तव्य: श्वेव सोन्माद आतुर·।"[2]

---

१. महाभारत-शान्ति पर्व, ५६, १०४-१०५, १०७. देखिये वही ५६, १२-१५

२. वही—अनुशासन पर्व, ६१, ३३.

राजा का स्वरूप

अराजकता को जीवन का अभिशाप बताते हुए भीष्म ने कहा है कि जहाँ राजा नही होता वहाँ 'मात्स्य न्याय' के अनुसार प्रजा जन एक दूसरे को कवलित करने के लिए उत्सुक हो जाते हैं।[1] राजा ही प्रजा के हित के लिए कृत सङ्कल्प होकर दृढता से व्यवस्था एव मर्यादा को स्थापित करने मे समर्थ होता है। राजनीति के क्षेत्र मे राजा का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान माना गया है। राज्य व्यवस्था राजा के विना कठिन ही नही प्रत्युत नितान्त असम्भव है। सारी शासन व्यवस्था का वह केन्द्र बिन्दु होता है, जिसके विना राज्य का सुचारु रूप से सञ्चालन कठिन हो जाता है। समस्त प्रजा जन राजा के भय से ही अपनी-अपनी मर्यादा मे स्थिर रहते हैं। लोक मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले व्यक्तियो को दण्डित कर उन्हे सत्पथ पर अग्रसर करना ही राजा का प्रधान कर्तव्य है। सस्कृत काव्य राजा, राजधर्म, राजनीति, राज व्यवहार आदि विषयक विवेचनो से परिपूर्ण एव अभिव्याप्त है।

अराजक राज्य मे विविध विपदाओ का साम्राज्य रहता है, प्रजा जनो की सुख, शान्ति एव समृद्धि सशयास्पद बन जाती है और राष्ट्र का पतन आरम्भ हो जाता है। महर्षि व्यास ने राजा को सत्य, धर्म, कुलवान् व्यक्तियो का कुल एव माता पिता के समान प्रजा का हितकारी माना है।[2]

महर्षि वाल्मीकि के अनुसार जो राजा प्रतिदिन प्रजा के कार्यों का सम्यक् अवलोकन नही करता वह निस्सशय घोर नरक का भागी होता है—

"पौर कार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने।
सवृते नरके घोरे पतितो नात्र सशयः।"[3]

भास के अनुसार गोप के अभाव मे अरक्षित गायो के नाश के समान अराजक प्रजा का नाश अवश्यम्भावी माना गया है।[4]

---

१. "अराजका प्रजा पूर्व विनेशुरिति न श्रुतम्। परस्पर भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्।" महाभारत-शान्तिपर्व, ६७, १७ और देखिये–वही-६७, ३-१६.

२. रामायण—अयोध्याकाण्ड, ६७, ८. द्रष्टव्य- वही- ६७, ८-३१.

३. वही— उत्तर काण्ड, ५३, ६.

४. प्रतिमा नाटक—३, २३. देखिये—
अराजके जनपदे दोषा जायन्त वै सदा।
उद्वृत्त सतत लोक राजा दण्डेन शास्ति वै। महाभारत--आदिपर्व ४१, २७

विनय एव मर्यादा की शिक्षा दीक्षा देने, आपत्तियो से रक्षा करने, भरण पोषण आदि विविध कृत्यो के द्वारा अपनी प्रजा के प्रति पितृवत् आचरण करने से वस्तुतः उसे ही पिता कहा जाता है—

"प्रजाना विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासा केवल जन्म हेतव· ।"[1]

भारतीय परम्परा मे राजा प्रजावर्ग की समष्टि, आत्मा का प्रतिनिधि रूप एवं विश्व नियन्ता परमेश्वर का वह प्रत्यक्ष विग्रह स्वरूप माना जाता है। वह दुर्लभ धर्म, जीवन एव लौकिक अभ्युदय का देने वाला माना जाता है—

"देवा मानुष रूपेण चरन्त्येते महीतले ।"[2]

इक्ष्वाकु कुल के राजाओ के गुण गणो का उल्लेख करते हुए महाकवि कालिदास ने राजाओ की विशेषताओ का विवरण प्रस्तुत किया है—

त्यागाय सम्भृतार्थाना सत्याय मितभाषिणाम् ।
यशसे विजगीषूणा प्रजायै गृहमेधिनाम् ।[3]

प्रजागण, जहाँ राजा को अपने हृदय के आराध्य देव के समान पूजा करना अपना धर्म समझते थे, वहाँ उनमे सभी सद्गुणो एव सभी सत् शक्तियो को प्रतिबिम्बित देखने की भी वे आशा रखते थे। वाल्मीकि के अनुसार,आदर्श राजा गुणवान्,पराक्रमी,धर्मज्ञ, उपकार मानने वाला, सत्यवक्ता, दृढ प्रतिज्ञ, सदाचारी, समस्त प्राणियो का हित साधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली, प्रियदर्शन, जितेन्द्रिय, क्रोध को जीतने वाला, कान्तिमान्, अनिन्दक और संग्राम मे अजेय योद्धा होता है।[4] वाल्मीकि ने वसिष्ठ के मुख से राजा को साक्षात् धर्म का अवतार ही कहलवाया है।[5]

आदर्श राजा के गुणो का वर्णन करते हुए प्रजा जन राम को सर्वथा योग्य एव

---

१ रघुवश—१, २४.

२. रामायण—किष्किन्धा काण्ड, १८, ४२--४४.

३. रघुवश—१, ५-८, तुलनीय बुद्धचरित—२, ५३.

४. रामायण—बालकाण्ड, १, २--४. देखिये : वही—बालकाण्ड, १,८-११. देखिये . वही-अयोध्या काण्ड, २, २८—४७.

५. वही—बालकाण्ड, २१, ६.

युवराज पद के सर्वथा उपयुक्त घोषित करते है। राम अपने बन्धुओ के समान प्रजाजनो से कुशल प्रश्न करते हैं, उनके दु.ख मे दुःखी होते हैं तथा उनके उत्सवो मे वह पिता के समान प्रसन्न होते हैं—[1]

"व्यसनेषु मनुष्याणां भृश भवति दु·खित ।
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ।"[1]

प्रजा वर्ग के सहर्ष अनुमोदन पर युवराज पद देने की कामना से राम को बुलाकर राजा दशरथ राजा के विविध कर्तव्यो के प्रति उन्हे सजग करते हैं—

"अमात्य प्रभृती. सर्वा· प्रकृतीश्चानुरञ्जय ।
कोष्ठागारायुधागारे: कृत्वा सन्निचयान् बहून् ।[2]

कार्य सिद्धि मे प्रारब्ध एव पुरुषार्थ--दोनो ही को साधारण कारण रूप मे स्वीकार किया गया है। परन्तु प्रधान होने के कारण राजा को पुरुषार्थ का आश्रय लेना अभीष्ट है। आरम्भ किये हुये कार्य मे बाधा उपस्थित होने पर भी, सन्ताप छोडकर कार्य मे निरन्तर लीन रहना ही राजाओ की उत्कट नीति है।[3]

दण्डकारण्य मे, राक्षस वध से चिन्तायुक्त होकर अहिंसात्मक कार्य से विरत होने का आग्रह करने वाली सीता को अपने धनुष का एकमात्र प्रयोजन राम ने यही बताया कि कही भी किसी दुःखी व्यक्ति का हाहाकार न सुनाई पडे—

"क्षत्रियै धार्यते चापो नार्त. शब्दो भवेदिति ।[4]

तपोनिष्ठ मुनियो की रक्षा करने के हेतु राम सीता और लक्ष्मण का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत हैं किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को, विशेषत. ब्राह्मणो के प्रति की गयी प्रतिज्ञा को, नही तोडना चाहते। उनके अनुरोध के बिना ही उनकी रक्षा करना राजा का धर्म है, उनकी रक्षा के लिए प्रतिश्रुत होकर तो कैसे विमुख हुआ जा सकता है ?[5]

वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करना राजा का प्रमुख ध्येय है। समाज विरोधी

---

१. रामायण—अयोध्याकाण्ड २, ३८, ४०, ४१.
२. वही— अयोध्या काण्ड, ४, ४३-४५.
३. महाभारत-शान्तिपर्व, ५६. १६.
४. रामायण— अरण्य काण्ड, १०' ३-४.
५. वही— अरण्य काण्ड, १०, १६ - २०.

प्रवृत्तियो मे योग देकर मर्यादा का उलङ्घन करने वाले अपराधी को दण्ड देना भी राज्य व्यवस्था को सुदृढ बनाता है। राज्य भार को वहन करने वाले राजाओ का यह शाश्वत कर्तव्य माना गया है कि वे प्रजाकी रक्षा के लिए जो भी कर्तव्य हों उनका यथावत् पालन करें।[1] चातुर्वर्ण्य के हित के उद्देश्य से दुराचारिणी स्त्री का वध भी राजा के लिए अभीष्ट हैं।[2]

प्रजा के रञ्जन मे ही राजा का सार्थक्य है। रघु का वर्णन करते हुए कालिदास ने कहा है कि जिस प्रकार आह्लादकत्व के कारण चन्द्रमा और प्रताप के कारण सूर्य की सार्थकता है उसी प्रकार प्रजाजनो को सन्तुष्ट एव प्रसन्न करने से रघु यथार्थ नाम वाले हुए—

"यथा प्रह्लादनाच्चन्द्र प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति रञ्जनात्।"[3]

महाकवि अश्वघोष ने भी राजा के गुणो का स्पष्ट एव रुचिर रूप से उल्लेख किया है। विषयों मे अनासक्ति, समृद्धि पाकर अनौद्धत्य, शरणागत रक्षा, धैर्य से अविचल होना, सत्पात्रो को दान देना, दुःखियो का दुःख दूर करना, शत्रुओ को परास्त कर यश-पताका को समस्त विश्व मे प्रसारित करना, पर पीडा आदि पापो से मुक्त रहकर सदैव पुण्यार्जन करना आदि उनमे प्रमुख रूप से माने जा सकते हैं।[4]

नीति शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित नियमो के अनुसार न्याय पूर्वक प्रजा का पालन एव भरण पोषण करना राजा के गौरव को अभिवर्धित करता हैं।[5]

प्रजाजनो की उन्नति करके उन्हें समृद्धि शाली बनाना राजा का कर्तव्य है। सत्य निष्ठता, दृढता तथा दान देकर पुनः वापस न लेना आदि को राजा के विशिष्ट गुणों मे समाविष्ट किया जाता है।[6]

---

१. रामायण—बाल काण्ड, २५, १८-१९.
२. वही— २५, १७.
३. रघुवंश—४, १२.
४. सौन्दरनन्द— २ (सर्ग) २, १०, १२, १६, २७.
५. रघुवंश— १७, ४९.
६. वही—१७, ४१.

"यदुवाच न तन्मिथ्या यद्ददौ न जहार तत् ।
सोऽभूद् भग्नव्रतः शत्रूनुद्धृत्य प्रति रोपयन् ।"[1]

राजा को व्यक्तिगत हितो एव सुख की अपेक्षा जन हित का विशेष ध्यान रखना चाहिये । जिस प्रकार वृक्ष सूर्य की प्रखर किरणो को अपने मस्तक पर सहन करता हुआ छाया के द्वारा आश्रित व्यक्तियो का सन्ताप मुक्त करता है उसी प्रकार राजा भी निरन्तर अनेक कष्टो को भोगता है ।[2]

दण्ड ग्रहण करके कुमार्ग पर जाने वाले व्यक्तियो को सन्मार्ग पर अग्रसर करने, पारस्परिक सघर्ष को शान्त करके उनकी रक्षा करने के द्वारा उनके बन्धु के समान आचरण करता हुआ राजा दीनो के हित सम्पादन मे सर्वेव निरत रहता है ।[4]

क्षत्रिय राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये कि सारे ससार की सुरक्षा-व्यवस्था हो सके तथा विनाश के मुख मे एक भी प्रजाजन न पड सके । कालिदास ने 'क्षत्र' शब्द का वाचक अर्थ 'नाश से रक्षण' किया है, जिसके विपरीत आचरण करने वाले पुरुष को राज्य और अपकीर्ति से मलिन प्राणो से कोई प्रयोजन नही—

" क्षतात्किल त्रायत इन्युदग्र क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ- ।
राज्येन किन्तद्विपरीतवृतेः प्राणेरुप क्रौश मलीमसैर्वा ।"[1]

अश्वघोष ने राजा के कर्तव्यो का संक्षेप मे अति रुचिर विवेचन प्रस्तुत किया हैं ।[5]

निरन्तर प्रजा के हित सम्पादन में निरत रहने वाले राजा के लिए विश्राम कहाँ ? सूर्य, पवन एव शेष ये सभी निदर्शन हैं कि पृथ्वी के भार को वहन करने वाले कभी विश्राम नहीं लेते—

"भानु सकृद्युक्त तुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।
शेषः सदैवाहित भूमिभार षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ।"[6]

---

१. रघुवश—१७, ४२.
२. अभिज्ञान शाकुन्तल— ५, ७.
३. वही— ५, ८.
४. रघुवश— २, ५३.
५. बुद्ध चरित— २, ४१.
६. अभिज्ञान शाकुन्तल— ५, ४.

तपस्वियो के निर्विघ्न एव रमणीय यज्ञ आदि धार्मिक कृत्य राजा की शक्तिमत्ता एव प्रजा पालन तत्परता के परिचायक हैं—

"रम्यास्तपोधनाना प्रतिहतविघ्ना क्रिया: समवलोक्य ।
ज्ञास्यसि कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति ।"[1]

प्रजाजन के दु खो से अनुतप्त होने तथा उन्हे अपने बन्धु के तुल्य समझने वाले राजा दुष्यन्त की यह घोषणा-बन्धु से वियुक्त कोई भी व्यक्ति उनका बन्धु है-राजा के स्नेह शील स्वभाव एव कर्तव्य परायणता का आदर्श प्रस्तुत करता है—

"येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना ।
स स पापादृते तासा दुष्यन्त इति घुष्यताम् ।"[2]

राजा के लिए सत्य निष्ठता की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए भीष्म ने कहा कि सत्य परायण राजा प्रत्येक प्रकार की सिद्धि को सरलता से प्राप्त कर लेता है। सत्य से अतिरिक्त कोई अन्य साधन नही, जो प्रजावर्ग न राजा के प्रति अटूट विश्वास को उत्पन्न करा सके ।[3]

गुण, शील, सयम आदि गुण राजा के चरित्र को उन्नत कर देते हैं । उदार एव मृदु स्वभाव वाला राजा श्री एव समृद्धि का अविच्छिन्न रूप से उपभोगक रता है ।[4]

राजा को आवश्यकतानुसार कोमलता एव कठोरता का समान रूप से अवलम्ब लेना चाहिये । अवसर आने पर जो मृदुता एवं कठारता का आचरण करता है वह समस्त कार्यों को सिद्ध करता है तथा शत्रु को अपने वशीभूत कर सकता है—

"काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रु चाप्यधितिष्ठति ।"[5]

महर्षि व्यास के अनुसार सदैव कोमलता पूर्ण व्यवहार करने वाले राजा की प्रजाजन अवहेलना करते हैं तथा एकान्तत. कठोरता का आश्रय लेने वाले राजा से प्रजा उद्विग्न हो उठती है—

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल— १, १३.
२. वही— ६, २३.
३. महाभारत— शान्ति पर्व, ५६, १८.
४. वही— ५६, १९.
५. वही— १४०, ६७.

"मृदुर्हि राजा सतत लङ्घ्यो भवति सर्वशः ।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्माद्भयमाश्रय ।"[1]

राजा का प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का जैसा व्यवहार होना चाहिये । जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपनी प्रिय एव हृद्य वस्तुओ का परित्याग करके अपने गर्भस्थ बालक के हित का ही सदैव ध्यान रखती है उसी प्रकार राजा को भी अपने व्यक्तिगत प्रिय, हित एव सुख का परित्याग करके प्रजा के हित साधन मे सलग्न रहना चाहिये—

"यथा हि गर्भिणी हित्वा स्व प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसशयम् ।"[2]

महाकवि भास के अनुसार श्रेष्ठ राजा वही है, जिसके अतिमानव गुणो की समस्त विश्व मे विमल ख्याति हो, जो शत्रुओ के लिए काल के समान भयकर हो, तेजस्विता मे जो इन्द्र के समान हो, आज्ञा पालकता के कारण जो समस्त भूमि की रक्षा करने मे समर्थ हो तथा गति मे जो करि शिशु के समान हो ।[3]

सेवको के साथ अधिक हास परिहास करना राजा के लिए उचित नहीं है । ऐसे मुँह लगे सेवक स्वामी की आज्ञा को भङ्ग करके राज्य मर्यादा का उलङ्घन करते हैं ।[4] कार्य के लिए भेजे गये वे गुप्त रहस्यो का उद्घाटन कर कार्य सिद्धि को सदिग्ध कर देते है । राजा के प्रति कुपित होते हुए वे उत्कोच ग्रहण करते हैं और इस प्रकार राजा को वञ्चित करके वे राज्य कार्य मे विघ्न उपस्थित कर देते हैं ।

कोषागार का धन धान्य परिपूर्ण रखना तथा सग्रह के द्वारा कुबेर के समान होना राजा के लिए नितान्त आवश्यक है । न्याय व्यवस्था मे यमराज का आदर्श उपस्थित करके[5] उसे दीन, हीन, वृद्ध, रोगी आदि का रक्षण एव भरण पोषण करना चाहिये । आपत्ति काल मे प्रजा की रक्षा करने के हेतु कोश की अभिवृद्धि करनी चाहिये । राष्ट्र रक्षा का मूल आधार कोश ही माना जाता है ,[6]

---

१. महाभारत— शान्ति पर्व, ५६, २१. देखिये : शिशुपाल वध, २, ८३.
२. वही—५६, ४५.
३. प्रतिमा नाटक— ६, ६.
४. महाभारत— शान्ति पर्व, ५६, ४९-५२.
५. वही—५७, १८.
६. वही—८७, २३.

भीष्म के अनुसार श्रेष्ठ राजा मे बुद्धिमत्ता, त्यागशीलता, शत्रुप्रो के छिद्रो के जानने मे तत्परता, उद्योग शीलता, कर्मठता, आत्मश्लाघा का अभाव, आदि गुणों की अपेक्षा की जाती है। जिस राजा के द्वारा आरम्भ किये हुए समस्त कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होते हैं वह श्रेष्ठ राजाओ मे परिगणित किया जाता है। जो राजा समस्त वर्ण आश्रम धर्म को सम्यक् जानता है, उसके यश की वृद्धि होती है।[1]

ब्राह्मणो को अदण्ड्य बताते हुए भीष्म ने कहा है कि क्षत्रिय ब्राह्मणो से उद्भूत हुए हैं। उनका तेज अन्यत्र तो प्रभावशाली होता है परन्तु अपने कारण के प्रति स्पर्धा करने पर वह स्वय शान्त हो जाता है।[2] परन्तु समान प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देने वाले ब्राह्मण का वध धर्म नाशक नही होता तथापि ब्राह्मण रक्षणीय ही माना गया है। महा पातकी ब्राह्मण भी राज्य सीमा से बहिष्कार्य होता है।[3]

दयालुता एव सत्यवादिता को राजा के कर्तव्यो मे प्रमुख पद का अधिकारी माना गया है। दयालु राजा ही प्रजा के अनुरञ्जन मे समर्थ होता है।

व्यसनो का त्याग करने वाला राजा प्रजा वर्ग में आदर एव सम्मान प्राप्त करता है। व्यसन राजा को पतित एव पथ भ्रष्ट कर देते हैं तथा ऐसे राजा से प्रजा उद्विग्न हो उठती है।[4]

धैर्य धारण कर उद्योग मे निरत राजा सभी आपत्तियो के निवारण करने मे सफल हो सकता है। उद्योग छोड़ कर स्त्री की भाँति बैठे रहने वाले राजा का विनाश अवश्यम्भावी होता है। सात अङ्गो से युक्त राज्य की रक्षा करना, प्रजाजनो का हित सम्पादन,चातुर्वर्ण्य का अनुपालन, वर्ण सकरता से रक्षा करते हुये प्रजा को मर्यादित करना आदि को राजा के विविध कर्तव्यो मे प्रमुखता दी जाती है।[5] जो राजा अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है वह प्रजाजनों से आदर पाने का अधिकारी नही माना जाता।[6]

---

१. महाभारत—शान्ति पर्व, ५७, ३०-३२.
२. वही—५६, २४.
३. वही—शान्ति पर्व, ५६, ३१, देखिये—मृच्छकटिक- ९, ३९.
४. वही— ५६, ४४.
५. वही— ५७ अध्याय- ११, १३, १५, १६.
६. रामायण—अरण्य काण्ड, ३३, ३.

महर्षि व्यास ने इसीलिए राजा को भार्या अथवा धन से प्रथम स्थान दिया है । सर्व प्रथम राजा की कामना करनी चाहिये तदन्तर भार्या एव धन की । राजा की अनुपस्थिति मे भार्या एव धन भी सशय ग्रस्त हो जाते हैं—

राजानं प्रथम विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ।''[1]

सदाचार का परित्याग करने वाले राजा के राज्य मे रहने का भी धर्म नही है। न्याय भ्रष्ट राजा की अनाचारिता के कारण समस्त प्रजाजन उसकी निन्दा एव भर्त्सना करते हैं ।[2]

राजा प्रजा के लिए पिता के समकक्ष होता है, एव पिता के समान व्यवहार करने पर वह अपनी प्रजा से मान, प्रतिष्ठा, आदर, सम्पत्ति आदि प्राप्त करता है ।

नारद के अनुसार आदर्श राजा का व्यक्तित्व आकर्षक एव प्रभावोत्पादक होता है । शारीरिक दृष्टि से वह स्वस्थ, हृष्टपुष्ट, भव्य एवं मनोहर होता है । मानसिक दृष्टि से वह बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, ज्ञानी, वेद-वेदाङ्ग-तत्वज्ञ, धनुर्वेद मे प्रवीण, धर्मज्ञ, अखिल शास्त्रो का मर्मज्ञ, स्मरण शक्ति युक्त एव प्रतिभासम्पन्न होता है । नैतिक दृष्टि से वह धैर्यवान्,जितेन्द्रिय, सत्य प्रतिज्ञ, पवित्र, यशस्वी, श्री सम्पन्न तथा उदात्त विचार एव उदार हृदय वाला होता है । वह समस्त प्रजा का सरक्षक होता है, धर्मानुसार न्याय वितरण करना उसका कर्तव्य होता है । बलिषड्भाग कर रूप मे पाने के बदले राजा पर दुष्टो का दलन और साधुओ के सरक्षण का भार आ पडता है ।[3]

राज्य मे कही पाप की प्रबलता होने पर, कही दुर्भिक्ष अथवा महामारी होने पर, कही सघर्ष, अशान्ति अथवा अकाल मृत्यु होने पर तथा कही प्रजागण के मानव जीवन के आध्यात्मिक आदर्श से च्युत होने पर राजा को ही उनका उत्तरदायी माना जाता है—

''राजन् प्रजासु ते कश्चिदपचार: प्रवर्तते ।
तमन्विष्य प्रशमयेर्भवितासि ततः कृती ।''[4]

---

१. महाभारत—शान्ति पर्व, ५७, ४१,
२. नैषध चरित— १, १२८.
३. रामायण— बालकाण्ड, १, ८-१६.
४. रघुवश— १५, ४७.

राजा धर्म का प्रतिष्ठापक होता है। राजा के जीवन मे अधर्म को आश्रय मिलना प्रजा के लिए अहित कारक है।

जिस प्रकार राजा प्रजा का निर्णायक होता है उसी प्रकार प्रजा भी राजा के कार्यों का निर्णय करती है। राजा के पारिवारिक एव राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक व्यापार पर प्रजा की प्रखर दृष्टि रहती है, क्योकि उसकी जीवन धारा पर ही सारे राष्ट्र का हित अहित अवलम्बित होता है। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार राजा के नैतिक जीवन का प्रजा पर प्रभाव पडता है—

"यथा हि कुरुते राजा प्रजा तमनुवर्तते।"[1]

राज धर्म का प्रतिपादन करते हुए व्यास ने कहा है कि राजा को समान विभाग करके स्वय उपयोग करना चाहिये। दीनो की रक्षा करना, राष्ट्र को शत्रु से बचाकर शत्रुओ का दलन करना, शरणागत की पुत्रवत् रक्षा करना तथा मर्यादा की स्थापना करना आदि राजा के प्रमुख धर्म कहे गये हैं। मित्रो को उन्नत करना तथा अमित्रो का दमन करके साधुओ की पूजा करना राजा का कर्तव्य है।[2] धर्म का आचरण राजा के जीवन का प्रमुख अङ्ग होता है। यदि कोई राजा धर्म पूर्वक आचरण करता है तो वह देवता के समान होता है अन्यथा वह नरक का भागी होता है—

"राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति।"[3]

अधर्म से पृथ्वी विजय की अभिलाषा करना राजा के लिये हानिकारक है—

अधर्म युक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च।
सादयत्येव राजानं महीञ्च भरतर्षभ।"[4]

महर्षि कुणिक के द्वारा धृतराष्ट्र को दिये गये उपदेश मे राजा के धर्म का

---

१. रामायण— उत्तर काण्ड, ४३, १९. देखिये—
महाभारत— शान्ति पर्व, ९१, ७-१०.

२. वही—९१, ३०-५८.

३. वही—९०, ४.

४. वही—९६, १-२, देखिये : वही–९५, १७ तथा वही-१३४, ६.
वही–६६; ३३. और देखिये : वही– अध्याय ६८; १५, १७, २०.

सम्यक् विवेचन उपलब्ध होता है।[1] संस्कृत काव्यो मे राजधर्म के विषय मे प्रभूत एव प्रचुर विवेचन किया गया है, परन्तु विस्तार के भय से उसे यहाँ उद्धृत करना सर्वथा सम्भव नही। आदर्श राजा एव राज्य वही है, जहा के प्रजाजन सम्पन्न, समुन्नत, प्रसन्न एव राज-भक्ति से परिप्लुत हो एव जहां सेवक आदि पूर्णतया सन्तुष्ट हो—

"यस्य स्फीतो जनपद: सम्पन्न प्रिय राजक:।
सन्तुष्ट भृत्य सचिवो दृढमूल: स पार्थिव।"[1]

प्रजा का रञ्जन करने के लिये राजा के लिये किसी भी वस्तु विशेष से स्पृहा रखना उचित नही। पिता की आज्ञा से वन वास की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर राज्य प्राप्त करने वाले राम धर्म, अर्थ और काम तथा अनुजो के साथ स्पृहा रहित होकर समान व्यवहार करने लगे।[2]

राजा मे दया दाक्षिण्यादि गुणो का होना अत्यन्त अनिवार्य माना गया है। राजा के मित्र एव सेवक वर्ग गुणो के कारण हृदय से उसकी सुख एव समृद्धि की कामना करते हैं। उग्रता अथवा भय का उपयोग किये बिना ही समस्त प्रजा पुष्प माला के समान उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करती है—

"न तेन सज्य क्वचिदुद्यत धनु, कृत नवा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमि वास्य शासनम्।"[3]

वसिष्ठ से आज्ञा पाकर राम ने प्रजा रञ्जन के हेतु समस्त संसार के प्रेम को को और सीता को भी छोड़ने की घोषणा की—

"स्नेह दया च सौख्य च यदि वा जानकी मपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।"[4]

किसी भी कार्य वश लोक का अनुरञ्जन करना राजा का उत्कृष्ट कर्तव्य है। राम एव प्राणो को त्यागते हुए दशरथ ने उस कर्म को प्रख्यात किया है।[5] राम भी अपने

---

१. महाभारत—आदि पर्व १४०, ६-२३.
२. वही—शान्ति पर्व, ६६, १७
३. रघुवंश— १४, २१.
४. किरातार्जुनीय— १, २१.
५. उत्तर राम चरित— १, १२.

उसी कर्तव्य को लक्ष्य मे रखकर बाल्य काल से पोषित, अत्यन्त प्रिय एवं पृथक् न रह सकने वाली प्रिया को, घर मे पाली हुई गृह शकुन्तिका को वधिक के समान, मृत्यु के मुख मे देने को प्रस्तुत हैं।[1]

राम की कर्तव्य परायणता एवं लोकराधनता से प्रसन्न होकर गङ्गा ने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की। प्रजा की रक्षा एव लोकानुरञ्जन इक्ष्वाकु कुल के राजाओ का कुल धर्म है। प्रजा के अविश्वास के कारण परिवाद से भयङ्कर अकीर्ति को बढती हुई देखकर राम ने सीता का परित्याग किया। लोक सेवा का इससे उत्कृष्ट निदर्शन अन्यत्र दुर्लभ है।[2]

ऐसे वीर राजा कर्तव्य निरत होकर प्राणो की आहुति देने मे भी संकोच नहीं करते। वीर क्षत्रिय की मृत्यु पर उसकी पत्नी शोच्य नही मानी जाती। वेदोक्त विधान के अनुसार अगणित यज्ञ सम्पन्न करने वाले, बन्धुजनो के रक्षक, शत्रुओ के मर्दन करने वाले, आश्रितो का पालन पोषण करने वाले तथा युद्ध मे अठारह अक्षोहिणी सेनाओं के महान् पराक्रम सम्पन्न नायको को सन्तप्त करने वाले वीरो की पत्नियो को धन्य कहा गया है।[3]

दानशीलता

परम धर्म निष्ठ होने के साथ साथ राजा को अत्यन्त दानी भी होना चाहिये। राजा अपना सर्वस्व देकर स्वय को कृतकृत्य मानता है। महाराज रघु एव महर्षि कौत्स के सवाद मे दान लेने एव दान देने के चरम आदर्श का प्रतिष्ठापन हुआ है। राजा याचक की कामना से अधिक देने के लिए आग्रह शील है परन्तु निस्पृह याचक अपेक्षित धन से अधिक लेना नही चाहता। राजा की दान शीलता एव याचक की निस्पृहता नितर स्पृहणीय है।

> "जनस्य साकेत निवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्य सत्त्वौ।
> गुरुप्रदेयाधिकनिस्पृहोर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च।"[4]

दान शौण्ड होना राजाओ का परम धर्म है। याचक उनके द्वार से कभी भी असफल होकर नही लौटते। सत्पुरुष धन का आदान मेघो की तरह दूसरो के लिए करते हैं। महाराज रघु ने "विश्वजित्" नामक यज्ञ मे अपना सर्वस्व ब्राह्मण आदि को दान में दे दिया था—

---

१. उत्तर रामचरित— १, ४५. २. उत्तर रामचरित— ७, ६.
३. उरुभङ्ग— १, ५२. ४. रघुवश— ५, ३१.

"स विश्वजित माजह्रे यज्ञ सर्वस्व दक्षिणाम् ।
आदान हि विसर्गाय सता वारि मुचामिव ।"[1]

महाकवि कालिदास ने इस तथ्य का उल्लेख किया है कि रघुवंशी राजाओं मे प्राणो की याचना करने वाले व्यक्ति की याचना भी कदापि निष्फल नही होती ।[2]

दान शीलता के साथ साथ प्रजाजन के लिए राजा भाग्य एव पुरुषार्थ का आश्रय ग्रहण करता है ।जीवन मे समृद्धि एव समुन्नति भाग्य एव पुरुषार्थ के आधार पर प्रतिष्ठित होती है । कुशल व्यक्ति केवल भाग्य का ही अवलम्ब नही करता अथवा पुरुषार्थ पर ही निर्भर नही रहता, वह तो इन दोनो को समवेत रूप मे ग्रहण करता है—

"नालम्वते दैष्टिकता न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ।"[3]

महर्षि व्यास ने भी कहा कि अकेला भाग्य अथवा अकेला पुरुषार्थ कार्य सिद्धि का कारण नही होता ।[4]

विवेक

विवेक के द्वारा राजा पुरुषार्थ और भाग्य के समवेत रूप को प्रश्रय देता है । वह किसी भी कार्य को पूर्ण विचार विमर्श के अनन्तर आरम्भ करके उसमे पूर्ण सफलता का अधिकारी होता है । पूर्वापर विरोधी कार्यों को करने वाला व्यक्ति दुःख को प्राप्त करता है ।[5]

भूत काल की वस्तु का परित्याग कर आने वाली वस्तु का जो अवलम्बन लेता है, लोक उसे तिरस्कृत एव अवमानित करता है ।[6]

एकाएक विवेचन किये बिना किसी कार्य को नहीं करना चाहिये । सम्यक् प्रकार से विचार न करना आपत्ति का कारण माना जाता है । गुण पर प्रश्रय देने वाली सम्पत्तियाँ विवेकी पुरुष को मनोनीत करती है—

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदा पदम् ।
वृणुते हि विमृश्य कारिणं गुणलब्धाः स्वयमेव सम्पद ।"[7]

१. रघुवंश–४, ८६.
२. वही–११, २
३. शिशुपाल वध–२, ८६.
४. महाभारत–सौप्तिक पर्व, २, ३.
५. रामायण–युद्धकाण्ड, १२, ३२.
६. महाभारत–आदिपर्व, २३३, १५.
७. किरातार्जुनीय—२,३०.

नीति विशारदो ने विचार पूर्वक किये गये कार्य को कृषि के समान सुन्दर फलदायी माना है। विवेकशील पुरुष का यह कर्तव्य माना गया है कि वह कर्तव्यो को बीज के समान मानकर उन्हे विचार जल से सिंचित करे।[1]

वात आदि विघ्नो से सुरक्षित एव सुव्यवस्थित प्रदीप जिस प्रकार अन्धकाराच्छन्न वस्तु का दर्शन कराने मे समर्थ होता है उसी प्रकार कर्तव्यानुष्ठान के समय विवेकी पुरुष के संकल्प विकल्प मे पडने पर उसका सम्यक् अभ्यस्त एव परिशुद्ध शास्त्र ज्ञान ही उसके कर्तव्य पथ का आलोकन करता है।[2]

'शठे शाठ्य समाचरेत्' के अनुसार, जो अविवेक शील पुरुष दुष्टो के साथ दुष्टता का व्यवहार नहीं करते, वे परिणाम मे पराभव को प्राप्त होते हैं। वे मायावी वञ्चक सरल चित्त वाले व्यक्तियो के अन्त करण के रहस्यो को जानकर उनकी हानि करते हैं।

"व्रजन्ति ते मूढधिय. पराभव भवन्ति मायाविषु ये न मायिन ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसवृताङ्गान्निशिता इवेषव ।"[3]

बुद्धि के अनुसार पूर्ण निश्चय करके सत्पुरुष जिस मत को निश्चित करता है, वही उसके लिए उपकारक होता है।[4]

राजा के इन कर्तव्यों के अतिरिक्त धर्म समवेत नीति का उपदेश महाभारत के शान्तिपर्व मे उपलब्ध होता है। चातुर्वर्ण्य की रक्षा तथा वर्णों की सकरता रहित अवस्थिति की सृष्टि करना राजा का प्रधान कर्तव्य है—

"चातुर्वर्ण्यस्य धर्मश्च रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसङ्कररक्षा च राज्ञा धर्म सनातन. ।"[5]

दीनो का रक्षक एव समृद्धि शान्तियो का अन्वेषक भी उसे होना चाहिये।[6]

सज्जनो के सुरक्षित धन का कदापि उसे अपहरण नहीं करना चाहिये तथा असत् पुरुषो से लेकर सत् पुरुषो को उसे दान देना चाहिये।[7]

---

१. किरातार्जुनीय—२, ३१. २. वही—२, ३३.
३. वही—१, ३०. ४. महाभारत—सौप्तिक पर्व, ३, १४.
५. महाभारत—शान्ति पर्व, ५७, १५.
६. वही—५७, १६. ७. वही—५७, २१.

विरोधी प्रवृत्तियो मे भाग लेकर लोक मर्यादा का उलङ्घन करने वाले गुरु को भी दण्डित करना राजा का कर्तव्य है—

"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानत: ,
उत्पथ प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वत. ।"[1]

'नारद' ने युधिष्ठिर से यही प्रश्न किया कि क्या तुम अर्थ, धर्म एवं काम का ठीक से विभाग करके सेवन करते हो ?

"कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयता वर ।
विभज्य काले कालज्ञ: सदा वरद सेवसे ।"[2]

त्रिवर्ग

प्रजा रञ्जन के विविध कार्यों को सम्पादन करता हुआ राजा अपने तथा प्रजा के हित के लिए त्रिवर्ग का सेवन करता है। धर्म राजा को ससार मे सुख, समृद्धि, कीर्ति एव आनन्द की प्राप्ति कराता है तथा मरणोपरान्त उसे मोक्ष प्रदान करता है । अर्थ से वह राज्य की व्यवस्था सुख एवं सुविधापूर्वक कर सकता है । काम उसके व्यक्तिगत आनन्द एव सुख की सृष्टि करता है । कुशल राजा को यही अनुकूल प्रतीत होता है कि वह अनासक्त होकर इन तीनो पुरुषार्थों का यथोचित विभाग करके सेवन करने का प्रयास करे । ये पुरुषार्थ परस्पर सघर्ष करते हुए उसके अभ्युदय मे सहयोग प्रदान करते हैं—

"असक्तमाराधयतो यथायथ विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान्न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ।"[3]

मनीषियो के धर्म और काम धर्म के लिए ही होते हैं । लोक मर्यादा की स्थिति के लिए अपराधियो को दण्ड देते हुए तथा सन्तान के लिए विवाह करने वाले राजा अर्थ और काम का सेवन भी धर्म के ही लिए करते हैं—

"स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ।"[4]

तीनों पुरुषार्थों के साथ सम वृत्ति रखने वाले राजा किसी से विशेष स्पृहा नहीं

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व, ५७, ७; तुलना कीजिये—रामायण—अयोध्या काण्ड, २१, १३.
२. महाभारत— सभा पर्व, ५, २०.
३. किरातार्जुनीय— १, ११.
४. रघुवंश— १, २५.

रखते। वे धर्म को अर्थ और काम से, अर्थ को धर्म और काम से तथा काम को धर्म और अर्थ से कभी पीडित नहीं करते—

" नाधर्ममर्थकामाभ्या बबाधे न च तेन तौ।
नार्थकामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु।"[1]

धर्म

महर्षि व्यास ने यज्ञ यागादि, अध्ययन, दान, तप, सत्य, धैर्य, क्षमा और लोभ का अभाव – ये धर्म के आठ प्रकार परिगणित किये हैं।[2]

इसके अतिरिक्त दु.खी को भोजन एव शयन, थके हुए को आसन, तृषित को जल, एव भूखे को भोजन देना भी धर्म के अन्तर्गत समझा जाता है।[3]

यह सनातन आचारधर्म अपनी नैतिकता एव आदर्श रूपता का प्रतिरूप है। इस धर्म के आचरण से न केवल अपना ही प्रत्युत समस्त प्रजा का हित सम्पादित किया जा सकता है।

धर्म की विपत्ति ही धार्मिक व्यक्तियो की विपत्ति मानी जाती है। जो आपत्ति मे भी धर्म का पालन एव अनुशीलन करता है वही उत्तम पुरुष है।

"आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः।
व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते।"[4]

अर्थ

अर्थ की पुष्कलता एव बाहुल्य से राजा समस्त प्रजाजन को सुख–समृद्धिशाली बना सकता है। कोश की सम्पन्नता के कारण ही लोग धनिक राजा का आश्रय ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार चातक जल से परिप्लुत मेघ का अभिनन्दन करता है उसी प्रकार प्रजाजन सम्पन्न राजा की ओर देखते हैं—

"को ऽनेना श्रयणीयत्व मिति तस्यार्थं सग्रहः।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकै रभिनन्द्यते।"[5]

---

१. रघुवश— १७, ५७.
२. महाभारत— वन पर्व, २, ७५.
३. वही— २, ५४–५.
४, महाभारत-आदि पर्व, १५५, १४.
५. रघुवंश–१७, ६०.

कर

अर्थ सञ्चय कर नीति को जन्म देता है। राजा प्रजा से ही कर रूप मे उत्पादन का षष्ठांश ग्रहण करता है। इस प्रकार लिये हुए धन का प्रजा के हित साधन मे ही वह व्यय करता है। सूर्य पृथ्वी से जल ग्रहण कर उसे सहस्र गुण करके वर्षा कर देता है। इसी प्रकार राजा भी प्रजा से धन को एकत्रित कर सुख समृद्धि के रूप मे उसका उपयोग करता है।

"प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।"[1]

नन्दिनी के दूध दुह कर पीने का आग्रह करने पर दिलीप ने वत्स एव हवन से अवशिष्ट एव रक्षित पृथ्वी के षष्ठाश की तरह उस दूध को लेना स्वीकार किया।[2]

यज्ञ यागादि धार्मिक कृत्यो के निर्विघ्न सम्पादन का दायित्व राजा पर रहता है। विघ्नो से तपश्चर्या एव चोरों से सम्पत्ति की रक्षा करता हुआ राजा विविध वर्णों एव आश्रमो के व्यक्तियो से षष्ठांश का अधिकारी बन जाता है।

"तपो रक्षन् स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च सम्पदः।
यथास्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरिव षडंशभाक्।"[3]

अन्याय पूर्वक राजा को कर नही ग्रहण करना चाहिये। किसी को पीडा पहुँचा कर कर ग्रहण करना राजा को अयश एव अकीर्ति से युक्त कर देता है।[4]

अन्य वर्णों से कर रूप मे जो धन प्राप्त होता है वह नश्वर है किन्तु तपोनिरत ऋषि गण तप का जो षष्ठाश देते हैं वह कदापि नष्ट नहीं होता—

"यदुत्तिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तद्धनम्।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।"[5]

नीतिकारो की मान्यता है कि राजा को प्रजा से कर उसी प्रकार ग्रहण करना

१. वही--१, १८. २. वही--२ ६६. ३ रघुवंश--१७, ६५.
४. सौन्दर नन्द-१,५६, देखिये-बुद्धचरित-२, ४४.
५. अभिज्ञान शाकुन्तल-२, १३.

चाहिये जैसे कि भौंरा पुष्प को क्षति पहुंचाये बिना मधु पी लेता है तथा मालाकार बागके वृक्षों को तोड़े बिना पुष्प चयन करता है।[1]

इस प्रकार उपार्जन किया हुआ अर्थ प्रजा की सुख-समृद्धि के साधन एकत्रित करने तथा राष्ट्र की शासन व्यवस्था को सुदृढ एवं सुव्यवस्थित बनाने के उपयोग में आता है।

अनासक्त राजा यथोचित कर ग्रहण करके प्रजा का अतिशय प्रीति पात्र एवं आदर भाजन बन सकता है।

काम

राजा के व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय जीवन में काम का अत्यन्त महत्त्व है। पाँचों इन्द्रियाँ, मन एवं हृदय जब किसी विषय का आस्वाद करते हुए प्रीति युक्त हो जाती हैं, यही कर्मों का उत्तम फल काम है।

"इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।
विषये वर्तमानानां या प्रीतिरुपजायते।
स काम इति मे बुद्धिः कर्मणां फलमुत्तमम्।"[2]

काम की भावना सृष्टि के आदिकाल से चली आ रही है। इसका प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। जिस व्यक्ति के प्रति काम जाग्रत होता है उसके प्रति दया एवं प्रेम का सूत्रपात स्वतः ही हो जाता है।[3]

इच्छा करती हुई स्त्री के साथ संगम करने से सुख शतशः अथवा सहस्रशः बढ़ जाता है किन्तु प्रतिवाद करती हुई स्त्री के कारण वह समूल नष्ट हो सकता है—

"कामामां कामयमानस्य शरीर सुखावहे।"
इच्छन्तीं कामयमानस्य प्रीतिर्भवति शोभना।"[4]

विपरीत बुद्धि तथा कैकेयी के मोह जाल मे फँसकर असहाय हो गये थे। राजा दशरथ को कामात्मा नाम से बोधित किया गया है। राम का वनवास एव राजा की बुद्धि को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म और अर्थ के पहले काम का स्थान है—

"इव व्यसनमालोक्य राज्ञश्च मतिविभ्रमम्।
काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः।"[1]

दशरथ की अपनी पत्नी के प्रति सीमातीत आसक्ति के कारण ही कुत्सा के साथ भाव व्यक्त किये गये हैं—

"वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्।"[2]

धर्म और अर्थ का परित्याग कर केवल काम का ही सेवा करना बुद्धिनाश के माध्यम से धर्म और अर्थ का भी नाश करता है।[3]

काम के उपभोग से काम का शमन नही होता। घी से अग्नि के समान वह निरन्तर वृद्धिगत होता रहता है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगे शाम्यति।
हविषा कृष्णवत्मेव भूय एवाभि वर्धते।"[4]

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन मे धर्म, अर्थ और काम का अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान है। अर्थ का मूल धर्म है तथा अर्थ का फल काम है।[5] वे तीनो परस्पर गहनता से सम्बन्धित है। मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह इन तीनो को समान आदर के साथ यथावसर निस्पृह एव आसक्ति रहित होकर सेवन करे।

प्रतिज्ञा पालन

प्रतिज्ञा पालन को राजा के कर्तव्यो मे प्रमुखता दी जाती है। अपने कर्त्तव्य के प्रति दृढता उसको श्लाघनीय बना देती है। वीरो का यह भूषण है। भीम के द्वारा की गयी शत्रुवध की प्रतिज्ञा उसके हृदय की दृढता और अटलता की परिचायिका है।[6]

---

१. वही— अयोध्याकाण्ड, ५२, १३, ६. २. वही— ५३, ६.
३. महाभारत— शान्ति पर्व, १२३, १५--१६.
४. वही— आदि पर्व, ७५,५० तथा वही ८५, १२.
५. 'वर्ग मूल सदैवार्थः कामोऽर्थ फल मुच्यते।' महाभारत शान्तिपर्व, १२१, ४
६. वेणी सहार— १, २१.

वीरो के लिए शत्रु की प्रतिज्ञा को भङ्ग करना अत्यन्त हर्ष का कारण होता है--

"अथ मिथ्याप्रतिज्ञोऽसौ किरीटी क्रियते मया।
शस्त्र गृहाण वा त्यक्तवा मौली वा रचयाञ्जलिम्।[1]"

प्रतिज्ञा को पूरी करके वीर अपने हृदय मे हर्ष एव गर्व से विभोर हो जाता है।[2]

आत्मश्लाघा

प्रतिज्ञा की घोषणा करते हुए वीर राजा कभी आत्म श्लाघा के वश मे पडकर स्वय के गुणानुवाद एव दूसरो की निन्दा करने मे निरत हो जाते हैं। आत्मश्लाघिता की पराकाष्ठा रावण की उक्तियो मे दृष्टिगोचर होती है। राम को रावण अपनी अङ्गुली के समान भी नहीं मानता।[3] वह विश्वमे किसी को अपने समान पराक्रमी नही समझता—

"न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषु नर्षिषु।
अह पश्यामिलोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत्।"[4]

हनुमान् के आचरण मे आत्मश्लाघिता का अभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है। वह रावण की प्रशसा किये विना नही रहता—

"अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः।
अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता।"[5]

यदि वह अधर्मी नही होता तो वह राक्षस राज देव लोक के रक्षक होने का भी अधिकारी होता—

---

१. वेणी संहार— ३, ४२. २. वही— ६, ३७.

३. रामायण— अरण्य काण्ड, ४८, १९.

४. वही— ५५, २०, देखिये : "इन्द्रोवा शरण तेऽस्तु प्रभुर्वा मधुसूदन। मच्चक्षुष्पथमासाद्य सजीवो नैव यास्यति।" अभिषेक नाटक— १, १२.

५. रामायण— सुन्दर काण्ड, ४९, १७.

"यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः ।
स्यादय सुरलोकस्य शक्रस्यापि च रक्षिता ।"

राम भी उसकी तेजस्विता की प्रशसा किये विना नही रहते ।[2]

राम के आचरण से यह तथ्य निकाला जा सकता है कि आत्मश्लाघा दम्भियो एव दर्प युक्त पुरुषो का असदाचरण है । राजा का आत्मश्लाघिता से सदैव मुक्त रहना नितान्त अपेक्षित है ।

निन्दा

आत्म श्लाघिता के समान ही राजाओ के लिए निन्दित जीवन व्यतीत करना महान् अभिशाप है । अहित की भावना से किसी की यथार्थ अथवा कल्पित बुराई करना निन्दा कहा जाता है । निन्दा को अत्यन्त गर्हणीय कहा गया है ।

राम सीता-विषयक लोकापवाद को अकल्पनीय कलंक के रूप में प्रादुर्भूत हुआ मानते हैं —

"राजर्षि वशस्य रवेः प्रसूतेरुपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम् ।
मत्त. सदाचारशुचे कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ।"[3]

निन्दा के कारणभूत व्यक्ति का परित्याग ही श्रेयस्कर है । सीता को निर्दोष मानते हुए भी लोकापवाद की महिमा को समझकर राम सीता के परित्याग का निश्चय करते हैं ।[4]

राजा के लिए इससे अधिक और क्या निन्दा जनक विषय हो सकता है कि कोई शास्त्र का पारगामी महर्षि अपनी गुरु दक्षिणा के लिए याचना करे और असफल मनोरथ होकर वापस लौट जाय-

"गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघो. सकाशादनवाप्य कामम् ।
गतो वदान्यान्तरमित्यय मे माभूत्परीवाद नवावतार. ।"[5]

निन्दनीय पाप कृत्यो के विषय मे चर्चा करना भी अश्रेयस्कर माना जाता हैं—

---

१. रामायण —सुन्दर काण्ड, ४९, १८. २. वही-- युद्ध काण्ड, ५९, २८.
३. रघुवश-- १४, ३७. ४. वही-- १४, ४०. ५. वही—५ २४.

"आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत् ।
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ।"[1]

प्रतिशोध

निन्दा के कारण अथवा पराजय से प्रतिशोध की भावना जाग्रत होती है। शत्रु के द्वारा किये गये अपकार का बदला चुकाने की अभिलाषा मानव मे स्वभावतः होती है। दुर्योधन के द्वारा किये गये अपकारो से उत्पन्न होने वाले अपमान जन्य प्रतिशोध की अग्नि से ओत प्रोत भीम की धृतराष्ट्र के प्रति उक्ति इसी तथ्य को व्यक्त करती है। भीम की उक्ति में आत्मश्लाधिता एव प्रतिशोध की भावना का समन्वित रूप दृष्टिगोचर होता है।

"चूर्णिताशेषकौरव्यः क्षीवो दु शासनासृजा ।
भङ्क्ता सुयोधनस्योर्वो र्भीमोऽयं शिरसाञ्चति ।"[2]

पूर्व-प्रतिज्ञानुसार भीम दुर्योधन को युद्ध भूमि मे मारकर पीने से बचे हुए उसके रक्त से द्रौपदी के केशो को सँवार कर प्रतिशोध की अग्नि का शमन करता है।[3]

मृगया

पराक्रम हीनता के कारण प्रतिशोध लेने में असमर्थ राजा लोग अपनी प्रतिशोध की भावना को वन्य पशु आदि का संहार कर निवृत्त करते है। धर्म शास्त्र के अनुसार आखेट को बुरा नहीं माना गया है।

"मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
स्मर सुन्दर मां यदत्यजस्तव धर्म. सदयो दयोज्वल' ।"[4]

अपने कुल के बल हीन प्राणियो को खाने वाले मत्स्यो को, कोटर के वृक्षो को हानि पहुँचाने वाले पक्षियो को तथा निरपराध तृणो को पीडा देने वाले मृगो को मारने में राजगण पाप के भागी नही समझे जाते।[5]

कालिदास के अनुसार मृगया एक महान् गुण माना गया है। मृगया के सन्दर्भ में भागने एव मृग का अनुसरण करने से शरीर हलका होता है, भय एव क्रोध मे प्राणियो

---

१. शिशुपाल वध— २, ४०.
२. वेणी संहार—५, २८.
३. वही—६, ४१.
४. नैषध चरित—२, ६।
५. वही— २, १०.

के विकार युक्त चित्त का परिज्ञान होता है एव लक्ष्य सिद्धि के कारण धनुर्धारियो का वह उत्कर्ष है ।[1]

मृग के द्वारा यह पूछने पर कि सब प्राणियो के हितकर इस काल मे मैथुन मे निरत मृग का वध किसे अभीष्ट होगा, पाण्डु उत्तर देते है कि शत्रु वध मे जो वृत्ति मानी जाती है वही मृगो के वध मे भी इष्ट है अत. छल छद्म, माया अथवा निष्कपट भाव से मृगो का वध गर्हणीय नही है-

"शत्रुणाँ या वधे वृत्ति· सा मृगाणा वधे स्मृता ।
अच्छद्मना मायया च मृगाणा वध इष्यते ।"[2]

राजा के दोष

महर्षि वाल्मीकि ने राजाओ के आचार एव व्यवहार का विवेचन राम और भरत के प्रश्नोत्तार के माध्यम से कराया है । उसी मे राजा के दोषो की भी परिगणना यथार्थ एव यथावत् रूप से की गयी है । राजाओ के प्रमुख १४ दोष माने जाने हैं उनसे राजाओ को सदैव मुक्त रहना चाहिये । वे हैं - नास्तिकता, असत्य भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घ सूत्रता, ज्ञानी पुरुषो का सङ्ग न करना, विपरीत बुद्धि वाले मूर्खों से परामर्श लेना निश्चित किये हुए कार्यो को शीघ्र न आरम्भ करना, गुप्त मन्त्रणा को प्रगट कर देना, माङ्गलिक कृत्यो का अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओ पर एक साथ आक्रमण कर देना ।[3]

इनके अतिरिक्त राजा को स्वेच्छाचारी नही होना चाहिए । नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह, आदि का अविवेक पूर्ण उपयोग करना उनके लिए समीचीन नही—

"नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि ।
राजवृत्तिरसकीर्णा न नृपाः काम वृत्तय. ।"[4]

राजा को अनावश्यक हिसा से बचना चाहिए । एक के अपराध के लिए अनेक का सहार उचित नही ।[5]

---

१. अभिज्ञान शाकुन्तल— २, ५.
२. महाभारत— आदिपर्व, ११८, १९, १२–१३.
३. रामायण— अयोध्याकाण्ड, १००, ६५–६७.
४. वही— किष्किन्धा काण्ड, १७, ३०–३१.
५. वही— अरण्यकाण्ड, ६५, ६. "नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि ।"

राजा का एक यह दोष कहा गया है कि वे चाटुकारी वञ्चक व्यक्तियो के द्वारा अपनी मिथ्या प्रशंसा को सत्य मानकर उसके अनुसार ही आचरण करते हुए प्रजाजन के समक्ष उपहासास्पद बन जाते है। सदा सत्य बोलने वाले व्यक्ति भी तृष्णा के कारण राजा की मिथ्या प्रशसा मे सलग्न हो जाते हैं जो निस्पृह एव आसक्ति रहित है, राजा तृण के समान उनके तिरस्कार का विषय होता है।[1]

राजा एवं प्रजा

लोक मर्यादा एव समाज मे व्यवस्था को स्थापित करने के हेतु ईश्वर ने राजा की सर्जना की। अष्ट-लोकपालो के अ श से परिप्लुत एव समस्त शक्तियो से ओत प्रोत राजा की देवी सृष्टि लोक रक्षा एव समाज के कार्यों को यथाक्रम व्यवहृत करने के हेतु भूमण्डल पर उदित हुई। यही कारण है कि भारतीय प्रजा ने राजा को ईश्वर के समान मानते हुए कदापि उसका विरोध करने की चेष्टा नही की। भारतीय धर्म ग्रन्थो मे सदा से ही इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। भारतीय परम्परा की यह मान्यता रही है कि आठो लोक पालो के तेज से समाविष्ट राजा का लोक की रक्षा के लिए ही अवतरण होता है। उसमे ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा भारतीयो की अपनी विशेषता है। धर्म प्राण इस देश मे जातीय जीवन, समाज, राष्ट्र सभी कुछ धर्म की भावना से अनुप्राणित हैं। राज्याभिषेक के समय किये जाने वाले धार्मिक विधान उसमे देवत्व को प्रतिष्ठित करते हैं। भारतीय वाङ्मय इस बात का साक्षी है कि इस देश मे राज सत्ता को सदैव श्रद्धा एव आदर दिया गया है। राष्ट्र के विरुद्ध विद्रोह की भावना इसी कारण यहा नही विकसित हो सकी। कुछ एक विरोधी तत्त्वो के यथा कथचित् दर्शन होते हैं परन्तु राजद्रोह सदा से ही अत्यन्त गर्हणीय एवं सर्वथा हेय माना जाता रहा है।

राज्य, स्वराज्य, साम्राज्य और महाराज्य आदि शब्दो का यथावसर राज्य के अर्थ मे प्रयोग होता रहा है, परन्तु वैदिक साहित्य की प्रमुख देन है 'राष्ट्र' शब्द। यह शब्द आर्यों की राष्ट्रीय भावनाओ एव अनुभूतियो से समाविष्ट तथा उनके सगठन की मार्मिक अभिव्यक्ति का परिचायक है। 'राष्ट्र' शब्द मे आर्यों का देश, समाज, राज्य, जाति बन्धन एव सस्कृति निहित है। उनकी यह कामना सदैव रहती है कि राष्ट्र के वीर सेनानी क्षत्रिय, वीर, धनुर्धर लक्ष्यवेधी और महारथी बनें।[2] प्रजा के अभ्युदय के लिए अपना सर्वस्व देने

---

१. मुद्राराक्षस— ३, १६.
२. "आराष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायताम्।"
यजुर्वेद—२२, २२।

को प्रस्तुत रहना तथा उनकी रक्षा के हेतु सतत जागरण शील रहना आर्य जनता मे प्रजा के प्रति पूर्ण विश्वास के उत्पन्न होने का कारण होता था। वैदिक वाङ्मय मे इस भावना को प्रोत्साहन एव परिपुष्टि प्राप्त हुई है।

इसी कारण से राजा विचार विमर्श करने के लिए चतुर एव ज्ञान सम्पन्न मन्त्रियो को नियुक्त करता था व अवसर आने पर समग्र जनता को भी एकत्रित करके उससे भी परामर्श ग्रहण करना अपना कर्तव्य समझता था। मधुमक्षिका जिस प्रकार पुष्पो से मधु का चयन करती है उसी प्रकार राजा भी प्रजा को पीडा पहुँचाये विना यथोचित धनको कर के रूप मे ग्रहण करता है। इस प्रकार उपलब्ध धन का वह प्रजा के हित मे उपयोग करता है। सूर्य, जिस प्रकार, पृथ्वी से जल ग्रहण कर उसे बहुगुणित रूप मे वर्षा कर देता हैं उसी प्रकार राजा भी उस 'कर' के द्वारा प्रजा की सर्वतोमुखी उन्नति करता हुआ राज्य मे सुख और समृद्धि की वर्षा करता है।

राजा और प्रजा के पारस्परिक सम्बन्ध परस्पर आबद्ध हैं। राजा के द्वारा प्रजा-पालन एवं प्रजा की राजा के प्रति भक्ति, श्रद्धा एव प्रेम एक दूसरे के कारण एव कार्य हैं। यदि प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रमुख उद्देश्य है तो साथ ही साथ यह भी स्वत. सिद्ध है कि प्रजा भी अत्यन्त विशुद्ध अन्त:करण मे राजा के प्रति आदर भावना एव भक्ति भावना को दृढमूल करे तथा मन, वचन एवं कर्म से राजा के कार्यो मे पूर्ण सहयोग प्रदान करे।

जिस राजा के राज्य मे प्रजा अन्यान्य कष्टो एव दैवी विपदाओ को भोगती है उसका जीवन ही नितराम् व्यर्थ है—

"धिक् तस्य जीवित राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति।
अवृत्यान्यमनुष्योऽपि यो वैदेशिक इत्यपि।"[1]

प्रजा के प्रति अपने कर्तव्य पालन के हेतु राजा की सर्वस्व परित्याग कर देने की घोषणा, उसकी प्रजा को उसमे अनुरक्त कर देती है।[2]

प्रजा

श्रेष्ठ राजा के आश्रय मे प्रजा-जन सुसम्पन्न एव समृद्धिशाली होते हैं।

---

१. महाभारत—शान्ति पर्व, १३०, ३४.

२. उत्तर रामचरित—१, १२.

रामायरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राम के राज्य मे अयोध्या एवं उसके जनपदो की आर्थिक स्थिति अत्यन्त समुन्नत थी। प्रजा का जीवन स्तर ऊंचा था तथा सभी पूर्ण ज्ञानवान् एवं कुशल थे। राजा से प्रजा का घनिष्ठ सम्बन्ध उनके पारस्परिक आदान प्रदान, प्रजा की राज भक्ति, राजा की कर्तव्य परायणता आदि सामाजिक जीवन का आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं।

अश्वघोष ने गायो की सुसम्पन्नता को बताकर तात्कालिक राज्य समृद्धि की ओर संकेत किया है—

"पुष्टाश्च तुष्टाश्च तदास्य राज्ये साध्व्वो रजस्का गुणवत्पयस्का:।
उदग्रवत्से. सहिता वभूवुर्बंह्व्यो वहु क्षीरदुहश्च गाव:।"[1]

प्रजा की समृद्धिशालिता राजा के विशुद्धाचरण एव मर्यादा के पालन पर निर्भर रहती है। शान्तनु के राज्य मे वन्धुओ का असम्मान करने वाला, अदाता, व्रत का पालन न करने वाला, असत्याचरण शील एव हिमक कोई भी नही था। प्रजा जन दुर्भिक्ष भय एव रोग भय से मुक्त होने से स्वर्ग के समान सुखी थे। पति पत्नी परस्पर कभी सदाचार भङ्ग नही करते थे।[2] किसी ने रति के लिए काम का सेवन नही किया, काम के लिए धन की रक्षा नही की, धन के लिए किसी ने धर्माचरण नही किया और धर्म धर्म के लिए किसी ने हिंसा नही की—

"कश्चित् सिषेवे रतये न काम कामार्थमर्थं न जुगोप कश्चित्।
कश्चिद्धनार्थं न चचार धर्मं धर्माय कश्चिन्न चचार हिंसाम्।"[3]

सभा

शासन प्रवन्ध मे राजा का दक्ष एवं विद्वान् होना नितान्त अपेक्षित है। सामान्यतः शासन सम्बन्धी सभी महत्त्व पूर्ण प्रश्नो पर प्रजा अथवा प्रजा के द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि सभा का परामर्श लेना सर्वथा समीचीन होता है।

सभा एव सभासदो के कर्तव्यो का विवेचन करते हुए राम कहते हैं कि वह सभ सभा नहीं जहा वृद्ध पुरुप न हो, वे वृद्ध वृद्ध नही जो धर्म सगत परामर्श न देते हो, वह धर्म धर्म नही जो सत्य न हो और वह सत्य सत्य नहीं जो निश्छल और स्वतः प्रेरित न हो—

· बुद्ध चरित— २, ५. २ वही— २, ११ व १३.
३. वही—२, १४.

"न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्य यच्छलेनानुविद्धम् ।"[1]

सभासदो का यह परम कर्तव्य होता है कि वे असत्य का आश्रय कदापि न लें । जो सभासद सत्य बात जानते हुए भी मौन रहता है, वह असत्यवादी कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त जो सभासद स्वार्थ, क्रोध, लोभ या भयवश सत्य भाषण रूप अपने कर्तव्य से विमुख होते हैं, वे नरक मे पहुँच कर दण्ड के भागी होते हैं।[2]

राजा के द्वारा, सभासदो के समक्ष प्रस्ताव मात्र, रखना उचित माना गया है । अन्तिम निर्णय तो प्रजा वर्ग के अधीन होता है । दशरथ ने राम का नाम राज्याभिषेक के लिए प्रस्तावित कर परिषद् के पक्षपात हीन एव योग्य निर्णय के लिए आग्रह किया ।[3]

प्रजा जन ईश्वर के समान राजा का आदर सम्मान करना अपना प्रमुख कर्तव्य समझते हैं । प्रवास से लौटे हुए राजा दिलीप का स्वागत सत्कार करते हुए प्रजाजन राजा के लिए सर्वस्व समर्पण के लिए प्रस्तुत हैं —

"तमाहितोत्सुक्यमदर्शनेन प्रजा. प्रजार्थव्रतकर्षिताङ्गम्
नेत्रै. पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम् ।"[4]

कोसल राज्य की सुख समृद्धि का कारण प्रजा पालक इक्ष्वाकु नरेशो का उदार, न्यायपूर्ण एव धर्म परायण शासन था । राम के पूर्वज 'अनरण्य' के शासन मे अयोध्या मे न कभी दुर्भिक्ष पडा, न अनावृष्टि हुई और न चोरो से ही भय उत्पन्न हुआ ।[5]

शासन

आदर्श शासन प्रबन्ध ही देश की सर्वतोमुखी समृद्धि का मूल आधार होता है । सुव्यवस्थित शासन मे प्रजा-वर्ग अत्यन्त प्रसन्न, धर्मात्मा, धन-धान्य-सम्पन्न एव लोभ रहित रहते हैं । राम राज्य के वर्णन मे शासन की आदर्श व्यवस्था के सहज ही दर्शन हो जाते है—

नित्य प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ।[6]

---

१. रामायण— उत्तर काण्ड (प्रक्षिप्त १३ सर्ग) ३४.
२. वही— उत्तरकाण्ड (प्रक्षिप्त १३ सर्ग) ३५
३. वही— अयोध्या काण्ड, २, १३. ४. रघुवंश— २, ७३.
५. रामायण—अयोध्या काण्ड, ११०, १० ६. वही—काव्य, १, ६०-६३

प्रजा की सुख एवं समृद्धि का इससे अच्छा और क्या स्वरूप हो सकता है। समस्त प्रजा को एकत्रित करके उनका मत जानने से पूर्व उस विषय मे अपने मन्त्रिमण्डल के साथ विचार विनिमय करना उचित प्रतीत होता है महाराज दशरथ ने मन्त्रि-परिषद् के साथ परामर्श करके प्रजा की धारणा एव अभिलाषा को जान लिया था।[1]

रावण के राज्य मे भी एक परामर्शदात्री सभा का विवरण प्राप्त होता है। रावण इस तथ्य से भली भाति अवगत था कि सत्परामर्श ही सफलता की मूल आधार-शिला है—

"मन्त्रमूल हि विजय प्रवदन्ति मनिषिणः।"[2]

सभासदो के आचार का रुचिर विवेचन रावण की सभा के अधिवेशन मे उपलब्ध होता है। सभासदो मे से कोई भी वृथा शब्द नही करता, कोई असत्य भाषण नही करता एव सभी राजा की ओर अभिमुख होकर आसीन होते थे।[3]

राज सभा मे सभासदो के आचार एव व्यवहार का एक निर्धारित नियम रहता है। राजा के समक्ष अत्यन्त नम्रता एवं परम आदर पूर्वक वार्तालाप करना सभा का शिष्टाचार माना जाता है। इसके अतिरिक्त बडो के बीच मे छोटे व्यक्तियो को बोलना उचित नही।[4]

शासन व्यवस्था को स्थापित करने के लिए राजा को विभिन्न वर्ग को व्यक्तियो से यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। कुछ व्यक्तियो को अनुनय से, लोभियो को दान देकर, मानियो को यथावसर सम्मान देकर, एव भयभीत को सान्त्वना के द्वारा प्रसन्न करना चाहिये-

"क्रुद्धाननुनये. सम्यग् धनै र्लुब्धानुपार्जयेः।
मानिनो मानये. काले त्रस्तान् पौलस्त्य सान्त्वये।"[5]

मन्त्री

राज्य की शासन व्यवस्था मे मन्त्री परिषद् का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अधिकाशतः मन्त्री पर राज्य का समस्त भार आश्रित रहता है।

---

१. रामायण—अयोध्या काण्ड, १. ४२.
२. वही—युद्ध काण्ड, ६, ५.
३. वही—११, ३२,
४. नैषध चरित—१२, ५६.
५. भट्टी काव्य—१६, २४.

मन्त्रियो के गुण विशेषों का विवेचन चित्र कूट पर भरत को दिये गये राम के उपदेश में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता हैं। अमात्यगण शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन, वाह्य चेष्टाओ से मनकी इच्छाओ को जानने के वाले सुयोग्य होने चाहिये। मेघावी, शूर' वीर, चतुर एवं नीतिज्ञ अमात्य यदि एक भी हो तो वह राज्य को सुख और समृद्धि प्रदान कर सकता है। राजा सुतरान् परीक्षा करके पूर्वजो के समय से विश्वसनीय, तथा अन्त एव वाह्य चेष्टाओ एवं क्रिया कलाओ से पवित्र अमात्यो को उत्तम कार्य मे नियुक्त करता है।[1]

इसके अतिरिक्त दशरथ की मन्त्रि परिषद् के मदस्यो के विपग मे कहे गये तथ्य मन्त्रि के गुणो के आदर्श रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं।[2]

उन मन्त्रियो मे कोई ऐसा न था, जो काम, क्रोध, या स्वार्थ के वशीभून होकर असत्य भाषण करता हो। अपने अथवा शत्रु पक्ष के राजाओ की कोई भी बात उनमे छिपी नही रहती थी। पर राजा क्या कर चुके हैं. क्या कर रहे हैं और क्या करना चाहते हैं—ये सभी तथ्य उन्हे गुप्तचरो के द्वारा ज्ञात होते रहते थे। वे अवसर आने पर अपने पुत्र को भी उचित दण्ड देने मे सकोच नही करते थे-

":क्रोधात्कामार्थहेतोर्वा न ब्रूयुरनृत वचः।
तेषामविदित किञ्चित स्वेपु नास्ति परेपुवा।

क्रियमाण कृत चापि चारेणापि चिकीर्षितम्।
प्राप्त कालं यथा दण्ड धारयेयु सुतेष्वपि।"[3]

मन्त्रियो के साथ परामर्श करके किसी कार्य को आरम्भ करना सफलता का प्रमुख आधार माना जाता है—

"मन्त्र प्रतिदिन तस्य वभूव सह मन्त्रिभि·।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते।[4]

तत्त्व के अर्थ को पूर्णतया यथावत् जानने वाला व्यक्ति भी अकेला कर्तव्य कार्य मे सन्देह युक्त ही रहता है—

---

१. रामायण—अयोध्या काण्ड, १००, १५, २४, २६.
२. वही—वाल काण्ड ७, ६—८
३. वही—७, ६-११ ४. रघुवश—१७, ५०,

"मम तावन्मतमिद श्रूयतामङ्ग वामपि ।
ज्ञातसारोऽपि खल्वेक. सदिग्धे कार्यवस्तुनि ।[1]

श्रेष्ठ राजा विश्व मे अजित पद को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त नीति विशारद मन्त्रियो के साथ बैठकर विचार विमर्श करते हैं तथा मुक्ति लाभ के हेतु यथार्थ तत्व दर्शी योगियो का साहचर्य करते हैं ।[2]

मन्त्री का प्रमुख कर्तव्य है—राजा को उचित मार्ग का दिग्दर्शन कराना । राजा और मन्त्री जब दोनो एकमत होकर कार्य करते हैं तभी राज्य मे सुख और समृद्धि एवं अभ्युदय होता है—

"स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिप हितान्न यः संश्रृणुते स किं प्रभुः ।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पद "[3]

राजा और मन्त्री दो स्तम्भ होते है । इन दोनो ही के अत्यन्त कुशल एवं ज्ञानवान् होने पर राज्य लक्ष्मी स्थिर रहती है किन्तु उनमें से एक के अक्षम होने पर वह उनका परित्याग कर देती है ।[4]

सा स्त्री स्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतर जहाति ।[5]

नीतिज्ञ एव विज्ञ मन्त्रि से पृथक् किया गया लोक व्यवहार से शून्य एवं मन्द बुद्धि राजा राज्यभार को क्षण भर भी वहन नही कर सकता ।[6]

माघ कवि का कहना है कि गुणो के यथायोग्य कार्य न करने से राज्य कार्य को विघ्नित करने वाले, कपट वेश धारण करके वस्तुत: शत्रु तुल्य व्यवहार करने वाले दुष्ट मन्त्रियो का परित्याग कर देना चाहिये ।[7]

अमात्यो के नानाविध कर्तव्यो का परिगणन रावण सभा के वर्णन मे किया गया है । मिथ्या वादी, दुष्ट एव पर स्त्री लम्पट मनुष्यो का पूर्ण परिचय प्राप्त करके समस्त राष्ट्र मे शान्ति स्थापित करना, विधान एव नियमो के प्रति सजग करते हुए प्रजा जनो को सत्य, नीति, धर्म और सदाचार के नियमो का उल्लघन करने से रोकना आदि को उनके उत्तरदायित्व मे प्राथमिकता दी गई है ।[8]

१. शिशुपाल वध—२, १२ २. रघुवश—८, १७,
३. किरातार्जुनीय—१, ५ ४. मुद्राराक्षस—४. १३
५. मुद्राराक्षस—४, १३, ६. वही—४, १४,
७. शिशुपाल वध—२, ५६ ८. रामायण—युद्ध काण्ड, ११,२५-२६

मन्त्रियो का यह प्रमुख कर्तव्य होता है कि वह राजा को दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त होने से रोके ।[1] भर्त्सना पूर्वक रावण से यह कहा गया कि उत्पथ से तुझे न रोकने वाले ये तेरे मन्त्री वध्य है—

"वध्या. खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण ।
ये त्वामुत्पथमारूढ न निगृह्णन्ति सर्वशः ।[2]

राजनीति का प्रमुख अङ्ग है 'मन्त्रगुप्ति' । परस्पर विचार विनिमय करके निश्चित किया गया मन्त्र राजा के द्वारा अत्यन्त गुप्त रखा जाता है—

"नास्य छिद्र पर. पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मन. ।

मन्त्र को विजय का मूल माना जाता है । उत्तम, मध्यम एव अधम--तीन प्रकार से मन्त्रो का वर्गीकरण किया गया है — नीतिज्ञ मन्त्रिगण किसी विषय पर एकमत हो वह मन्त्र उत्तम माना गया है । अनेक मतो पर विचार विनिमय के अनन्तर जो एक मत निर्धारित किया जाय वह मध्यम तथा जहाँ ऐकमत्य नही हो वह अधम मन्त्र कहा जाता है ।[4]

मन्त्र गुप्ति एव हर्ष, शोकादि भावो को प्रगट न होने देने वाले राजा के कार्य पूर्व जन्म के सस्कार के समान फलो के अनुमान से किये जाते हैं—

फलानुमेया: प्रारम्भा. सस्कारा: प्राक्तना इव ।"[5]

बुद्धि एव मन्त्र-शक्ति युक्त उत्साह के आधार पर राजा को अपने अभ्युदय के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये, क्योकि ये दोनो उदित होने वाली प्रभु शक्ति के मूल कारण हैं—

"प्रज्ञोत्साहवत स्वामी [illegible]तेताधातुमात्मनि ।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या. [illegible]गीषोरात्मसम्पद. ।[6]

भारतीय शासन परम्पर[illegible] मे प्राय: ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज पद का अधिकारी

१. मुद्राराक्षस—३, ३२
२. रामायण—अरण्य काण्ड, ४१, ६.
३, महाभारत—शान्तिपर्व [illegible] ८३-५५,, तथा आदिपर्व, १३६, ६-८
४. रामायण—युद्ध काण्ड, ६, १२-१५
५.—रघुवश १, २०.
६. शिशुपाल वध- २ ७६.

होता है, किन्तु साथ मे उसका गुणी एव धर्मात्मा होना भी आवश्यक है। राजा ययाति ने ज्येष्ठ पुत्र यदु को राज्य न देकर अपने आज्ञाकारी कनिष्ठ पुत्र पुरु को राज्य दिया—

"माता पित्रो र्वचनकृत् हित. पथ्यश्च यः सुनः।
सर्वमर्हति कल्याण कनीयानपि सत्तम।"[1]

पुत्र के अभाव मे राजा के कनिष्ठ भाई को युवराज बनाने का उल्लेख प्राप्त है। राम के पुत्र न होने के कारण राज्याभिषेक के समय भरत को ही युवराज बनाया गया था। दुर्योधन के शासन काल मे दु:शासन को युवराज के पद पर आरूढ किया गया।[2]

पुत्र को राज्य भार देकर वार्धक्य मे राजा यति के समान वन के वृक्षो को अपने निवास का आश्रय बनाते थे—

"भवनेषु रसाधिकेषु पूर्वं क्षितिरक्षार्थमुषन्ति ये निवासम्।
नियतैकयतिव्रतानि पश्चात्तरुमूलानि गृहीभवन्ति तेषाम्।"[3]

इस प्रकार की ही अभिव्यक्ति कण्व के द्वारा दिये गये शकुन्तला के उपदेश मे दृष्टिगोचर होती है।[4]

न्याय व्यवस्था

न्याय वितरण राजा का प्रमुख कर्तव्य माना गया है। न्याय तन्त्र मे वादी एव प्रतिवादी के तर्क पूर्ण तथ्यो का सम्यक् अध्ययन कर निष्पक्ष निर्णय को अभिनिवेश दिया जाता है। परम्परा से स्थापित राज धर्म के अनुसार योग्य न्यायाधीशो के द्वारा पूर्ण परी. क्षण कराकर राजा स्वय अभियुक्तो के लिए दण्ड विधान करे। निरपराध के आँसू राजा के पुत्र, धन, धान्य आदि सर्वस्व का नाश कर देते हैं—

"यानि मिथ्याभिशस्ताना पतन्त्यश्रूणि राघव।
तानि पुत्र पशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः।"[5]

न्याय के इस सिद्धान्त का प्रति पालन राम एव भरत के प्रश्नोत्तर में सुस्पष्ट रूप से किया गया है।[6] शासन व्यवस्था मे दण्ड विधान का विशेष महत्त्व माना जाता है।

---

१. महाभारत—आदिपर्व, ८५, २५-३०.   २. किरातार्जुनीय—१, २२.
३. अभिज्ञान शाकुन्तल—७, २०; देखिये—रघुवंश ३, ७०.   ४. वही—४, २०
५. रामायण—अयोध्या काण्ड, १००, ५६   ६. वही—१००, ५६-५८

अपराधियो को दण्ड देकर लोक मर्यादा की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है ।[1]

अपराध का निर्णय करने के लिए विष, जल, तुला एवं अग्नि के द्वारा परीक्षा करनी चाहिये । केवल शत्रु के कहने मात्र से दण्ड देने वाला अविवेकी राजा अपने वश का सर्वनाश करता है ।[2]

अधिकरण मे न्यायोचित मार्ग से हटकर वादी एव प्रतिवादी मिथ्या अभियोग को प्रस्तुत करते है, सज्जन भी अपने दोषो को प्रगट नही करते अतः वादी एव प्रतिवादी के तर्क के आधार पर किया गया निर्णय दोष पूर्ण होकर राजा को पाप मे डालता है ।[3]

आधिकरणिक

निष्पक्ष एव यथार्थ निर्णय देने के लिए आधिकरणिक का न्याय विधान से पूर्ण परिचित एव विविध गुण समन्वित होना नितान्त आवश्यक है । वह शास्त्रो मे निष्णात हो, कपट का आचरण करने वाले व्यक्तियो के पहचानने में दक्ष हो, उसमे वक्तृत्व कला हो तथा वह क्रोध न करे; मित्र एवं अमित्र के साथ पक्षपात रहित होकर तर्क वितर्को के आधार पर ही उत्तर देने वाला हो; दीनों का रक्षक एव धूर्तों को दण्ड देने वाला हो एव धर्म के अनुसार निर्लोभ होकर आचरण करता हुआ वह राजा के क्रोध से प्रजा जनो की निरन्तर रक्षा करता रहे ।[4]

अधिकरण के अध्यक्ष की असावधानता एवं अविवेक से व्यवहाराग्नि में गिराये गये सहस्रो निष्पाप व्यक्ति मृत्यु मुख मे पदार्पण करते है तथा इस प्रकार से पापाचरण से राजा के अमङ्गल के साधन भी बनते है ।

> ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभि. परिपातिता ।
> स्थाने खलु महीपालाः गच्छन्ति कृपणा दशाम् ।[5]

दण्ड विधान की कठोरता से राज्य मे प्रजा वर्ग भय के कारण मर्यादा का उल्लङ्घन नही करता—

> "आकर्षन्तु सुबध्वैन श्वभि. सखाद्यतामथ ।
> शूले वा तिष्ठतामेव पाट्यता क्रकचेन वा ।"[6]

---

१. महाभारत—आदिपर्व—४१, २८ । तुलनीय—वही—वनपर्व, १५०, ३९

२. मृच्छकटिक—९, ४३ ३. मृच्छकटिक—९, ४, ४ वही—९, ५.

५. मृच्छ कटिक—९, ४०. तथा द्रष्टव्य—वही—९, ४१. ६. वही-१०, ५४.

द्यूत क्रीडा मे हारे हुए व्यक्ति के प्रति किये गये दण्ड विधान से दण्ड की वीभत्सता का परिचय मिल सकता है। जो दिन भर सिर नीचा किये लटकता नही रहा, घसीटने से पत्थर के चिन्ह जिसकी पीठ मे अ कित नही हुए, जिसकी जघाए प्रतिदिन कुत्तो के द्वारा नोची नही गयी, ऐसे अत्यन्त कोमल व्यक्ति का द्यूत क्रीडा से कोई प्रयोजन नही।[1]

न्याय व्यवस्था एव शासन व्यवस्था का समुचित रूप से सचालन करने के कारण राजा सदैव पराधीन रहता है। पर हित निरत राजा स्वय का हित चिन्तन नही कर सकता। यदि वह प्रजा जन के हित के लिए अपना स्वार्थ परित्याग करता है तो वह वस्तुतः क्षिति पालक के आनन्द का उपयोग करने मे अक्षम है। इस प्रकार स्वार्थ से पर-मार्थ को श्रेयस्कर मानता हुआ लोकरञ्जन मे निरन्तर व्यस्त रह कर राजा केवल कष्ट ही भोगता है।[2]

राज्यश्री की आराधना करना सर्वथा सरल नही है। यह लक्ष्मी अत्यन्त उग्र व्यक्ति से उद्विग्न होती हैं परिभव के भय से कोमल व्यक्ति के पास नही ठहरती, मूर्ख से द्वेष करती है एव अत्यन्त विद्वानो से भी प्रेम नहीं करती, वीरो से डरती है, तथा नितान्त भीरुओ का परिहास करती हैं, अत. स्वेच्छाचारिणी वेश्या के समान यह कष्टसेव्य है।[3]

राज्य प्राप्ति को महर्षि व्यास ने परतन्त्रता कहकर कष्ट दायक बताया है।

पाण्डवो के दौत्य कर्म के लिए जाने पर कृष्ण से दुर्योधन ने कहा कि राज्य का वीर एव सहृदय राजकुमार ही भोग कर सकते हैं। राज्य का मूल्य तो वीरता है। वह न तो मागा ही जाता है और न दीन व्यक्तियो को दिया ही जाता है।[4]

नीति

राजनीति एव व्यवहार का विवेचन रामायण एव महाभारत मेप्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है। मुद्राराक्षस मे चाणक्य नीति की विविधता के सुतरा दर्शन हो जाते हैं : कही वह नीति प्रगट होती है तो कही अतिगहन, कही समस्त अङ्गो से परिपूर्ण है तो कही अतिकृश, कही इसका बीज नष्ट होता प्रतीत होता है तो कही उसका विशद फल परिलक्षित होता है।[5]

---

१. मृच्छकटिक—२, १२. २. मुद्रा राक्षस—३, ४.

३ तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते। मुद्राराक्षस–३, ५.

४. दूत वाक्य—१, २४. ५. मुद्राराक्षस—५, ३.

नीति के आधार पर किया गया कार्य अर्थसिद्धि को सम्पन्न करने वाला होता है। अपना अपयश हटाकर शत्रु पर डालने तथा अपने राज्यार्ध के अधिकारी शत्रु का नाश करने वाले राजा की नीति का एक ही बीज अनेक फल देता है।[1]

नीति का आश्रय लेने से मित्र शत्रु बन जाते हैं और शत्रु गण मित्रता को प्राप्त होते हैं—

"मित्राणि शत्रुत्वमुपानयन्ती मित्रत्वमर्थस्यवशाच्च शत्रून्।
नीतिर्नयत्यस्मृतपूर्ववृत्ता जन्मान्तर जीवत एव पुन्सः।"[2]

नीति मे शूरता एव नय का कान्त समन्वय ही राज्य को दृढता एव समृद्धि प्रदान करता है। शूरता हीन राजनीति कायरता है तथा नीति हीन शूरता केवल पशुता है—

"कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापद चेष्टितम्।
अतः सिद्धिः समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः।[3]

समय पर आरम्भ किया हुआ कार्य परिणाम मे सिद्धि को देता है।[4]

राजा की उग्रता नीति की रुचिर साधिका है। विना उग्रता का आश्रय लिये राजा अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग शत्रुओ का दमन नही कर सकता।[5]

राजा के विरुद्ध बोलने अथवा आचरण करने वाले व्यक्ति के हृदय मे दृढमूल जीवित-नाश का भय राजदण्ड का प्रमुख आधार माना जाता है।

"स्मरतापि भय राजा भय न स्मरता पि वा।
उभाभ्यामपि गन्तव्यो भयादप्यभयादपि।"[6]

इस प्रकार यातना मात्र से प्राण दण्ड तक अपराधो का दण्ड देना राज्य को सुदृढ बनाता है।

'राजाज्ञा वलीयसी' के अनुसार राजा की आज्ञा अविचारणीय एव अनुल्लघनीय होती है। आज्ञापालन कराने की क्षमता ही राजा का प्रमुख सूत्र है। अधिक भूषण आदि के उपयोग से राजा नही होता—

---

१. मुद्राराक्षस—२, १९
२. वही—५, ८.
३. रघुवश—१७, ४७.
४. वही—१२, १९.
५. दूत घटोत्कच—१, ३२.
६. बालचरित—२, १३.

"भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः ।
परैरपरिभूताज्ञस्त्वमिव प्रभुरुच्यते ॥"[1]

किसी विशेष कारण से ही किन्ही व्यक्तियो को विधाता ने प्रबल पराक्रम की निधि के रूप मे उत्पन्न किया है । अपनी दण्ट्रा भङ्ग को जिस प्रकार सिंह सहन नही कर सकता उस प्रकार राजा भी आज्ञा भङ्ग को नही सह सकते ।[2]

इसी तथ्य को चन्द्रगुप्त के विषय मे भी विशाख दत्त ने अभिव्यक्त किया है ।[3] एक साधारण पुरुष भी अपने आनन्द मे भङ्ग को सहन नही कर सकता, उसका तो कहना ही क्या जो लोकोत्तर तेज को धारण करने वाला है—

"सद्य. क्रीडारसच्छेद प्राकृतोऽपि न मर्षयेत् ।
किन्नु लोकाधिक तेजो बिभ्राण पृथिवीपतिः ।"[4]

यही कारण है कि राजा के विरुद्ध आचरण करने वाले व्यक्ति का अहित निश्चित होता है । यदि प्राण, वैभव, कुल, वंश आदि की रक्षा अपेक्षित है तो राजा का अहित सर्वथा परित्याज्य होता है ।[5]

सेवक

राज्य व्यवस्था मे सेवक का अत्यन्त प्रमुख स्थान है । मन, वचन एव कर्म से स्वामी का हित सम्पादन करना ही सेवक का प्रमुख कर्तव्य है । गुणो के आधार पर सेवको का उत्तम, मध्यम एव अधम-इन तीन भागो मे वर्गीकरण किया गया है । स्वामी के द्वारा सुदुष्कर कार्य मे नियुक्त कियेजाने पर जो उस कार्य को अत्यन्त अनुराग एव भक्ति से सम्पन्न करता है वह उत्तम सेवक की श्रेणी मे रखा जाता है । जो स्वामी के प्रिय एव उत्कृष्ट कार्य को तत्परता से करता हुआ भी सम्पन्न न कर सके वह मध्यम कोटि का सेवक माना जाता है, और जो अपने स्वामी के कार्य को न करने के लिए कृत सकल्प होता है वह अधम सेवक माना गया है ।[6]

सेवक के विशेष गुणो का विवेचन करते हुए विदुर ने कहा कि जो स्वामी के अभिप्राय को जानकर आलस्य छोड सभी कार्यों को यथावत् सम्पन्न कर स्वामी का हित करता है तथा स्वामी मे अनुरक्त है वही श्रेष्ठ भृत्य है—

---

१. मुद्रा राक्षस—३, २३. २. वही—३, २२ ३. वही—४, १०.
४. वही—४, १०. ५. वही-७, १.
६. रामायण-युद्धकाण्ड, १, ८-१०

"अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः शक्तिश्च आत्मेव हि सोनुकम्प्य. ।"[1]

स्वामी के द्वारा किसी विशेष कार्य मे नियोजित भृत्य के लिए यह सर्वथा अपेक्षित है कि मिथ्या भाषण अथवा प्रतिकूल आचरण करके उसकी कदापि प्रवञ्चना न करे। सेवक ही स्वामी के अङ्ग हैं—

"क्रियासु युक्तै र्नृप चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधुसाधु वा हित मनोहारि च दुर्लभ वच. ।" [2]

दुःख सुख मे समान रूप से स्वामी का अनुसरण करने वाले भृत्य का यह परम कर्तव्य है कि वह स्वामी की हित कामना से प्रेरित होकर अनुचित एव अहितकारक प्रवृत्तियो मे निरत अपने स्वामी को भले कार्यों मे प्रवृत्त करे—

"विरोधि सिद्धेरिति कर्तुमुद्यत, स वारित किं भवता न भूपतिः ।
हिते नियोज्य. खलु भूतिमिच्छता सहार्थनाशेन नृपोऽनुजीविना ।"[3]

स्वामी की आज्ञा की अवहेलना करना सत्सेवक के लिए समीचीन नही है,[5] विशेषत, उस अवस्था म जब कि वह संकट ग्रस्त हो ।[4]

वक अपने स्वामी से सेवा रूप अनुग्रह की सतत अकाङ्क्षा करते है। उसे छाया के समान अपने स्वामी को आज्ञा का अनुसरण करना चाहिये ।[6]

स्वामी के द्वारा प्राप्त होने वाली आज्ञा का अनुपालन न करके उसके समक्ष उपस्थित होना सेवक के हित मे हानिकारक होता है। रक्षा के हेतु दी गयी वस्तु को नष्ट करके सेवक स्वय अक्षत अवस्था मे स्वामी के समक्ष उपस्थित नही हो सकता--

"भवानपीद परवानवैति महान् हि यत्नस्तव देवदारौ ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्यमग्रे विनाश्य रक्ष्य स्वयमक्षतेन ।"[7]

इसके अतिरिक्त सेवक के प्रति स्वामी का व्यवहार सौहार्दपूर्ण एव आत्मीयता परक होना चाहिये। हित सम्पादन मे निरत सेवको के प्रति जो कोप नही करता उस स्वामी के प्रति सेवक विश्वास पूर्ण होते हैं तथा विपत्ति पडने पर वे उसका साथ नही छोडते ।

---

१. महाभारत-उद्योग पर्व, ३७, २५.
२. किरातार्जुनीय-१, ४.
३. वही-१४, ८.
४. भट्टी काव्य-७, ६२.
५. वही-६, ६२.
६. रघुवश-२, ६.
७. वही-२, ५६.
८. महाभारत-उद्योग पर्व, ३७, २२.

इस तथ्य को भारवि ने भी दुर्योधन के राज्य की शासन व्यवस्था की चर्चा करते हुए अभिव्यक्त किया है। राजा दुर्योधन निरहकार होकर सेवको के साथ सर्वदा प्रीति पात्र मित्रो के समान सन्मान पूर्ण व्यवहार करता है—

"सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविन समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभि.।
स सन्तत दर्शयते गतस्मय कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्।"[1]

दूषण से युक्त सेवक का परित्याग ही नीति है। जो आज्ञा पाने पर स्वामी के वचन का आदर नही करता, कार्य मे नियुक्त किये जाने पर उत्तर देता है, बुद्धि का गर्व धारण करता है तथा स्वामी की इच्छा के विरुद्ध वचन कहता है अथवा विरुद्धाचरण करता है, उसका परित्याग ही उचित उपाय है।[2]

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी और सेवक का परस्पर आनुकूल्य ही राज्य मे सुख और समृद्धि की अभिवृद्धि कर सकता है। सेवक की स्वामी के प्रति पूर्ण भक्ति एवं अनुरक्ति तथा कार्य तत्परता सेवक की गुण गरिमा को अनुपेक्षणीय एव श्लाघनीय बना देते हैं, इसी प्रकार स्वामी का वात्सल्य एव स्नेह भृत्यो के हृदय मे अटल विश्वास एव सरक्षण-भावना को जन्म देता है।

राज्याङ्ग

समस्त राज्य को शासन सूत्र मे आबद्ध करने के हेतु राजा के लिये विभिन्न राज्य के अगो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना नितान्त अपेक्षित है। शासन व्यवस्था पर राज्य की समृद्धि एव समुन्नति निर्भर रहती है।

राज्य की रक्षा के हेतु राजा के लिए किन्ही नीतियो का आश्रय लेना पडता है। शस्त्र प्रयोग से राजा अपने बाह्य अथवा आभ्यन्तर शत्रुओ का दमन करने मे समर्थ हो सकता है परन्तु बुद्धि के द्वारा निश्चित कार्य सिद्धि अनायास ही प्राप्त हो जाती है। बुद्धि रूप शस्त्र वाला, प्रजा रूप अङ्गो वाला, मन्त्र गुप्ति रूप कवच वाला, गुप्तचर रूप नेत्रो वाला तथा दूत रूप मुख वाला राजा अपनी कार्य सिद्धि मे सफलता प्राप्त कर लेता है—

"बुद्धिशस्त्र. प्रकृत्यङ्गो घनसवृत्तिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुख. पुरुष· कोऽपि पार्थिव।"[3]

---

१. किरातार्जुनीय—१, १०.   २. महाभारत—उद्योग पर्व, ३७, २६.
३. शिशुपाल वध—२, ८२.

नीतिज्ञो ने छ: गुण, तीन शक्तिया, तीन उदय एवं तीन सिद्धियो का उल्लेख किया है जिनके अनुसार मन्द बुद्धि भी शास्त्रो का अध्ययन करके इनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकता है—

"षड् गुणा: शक्तयस्तिस्र: सिद्धयश्चोदयास्त्रय ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ।"[1]

शासन सूत्र को सम्यक् सचालित करने के लिए राजा मन्त्र की गुप्ति के द्वारा राज्य की रक्षा कर सकता है। दुर्ग आदि कार्यों के आरम्भ मे उपाय; मनुष्य और द्रव्य सम्पत्ति, देश-काल, आपत्ति के प्रतीकार के साथ अर्थ सिद्धि-नीति-शास्त्र के विद्वान् इन पांचो को मन्त्र के अङ्ग स्वीकार करते हैं।[2]

माघ की सम्मति मे सहाय आदि इन पांच अङ्गो के अतिरिक्त राजाओ का अन्य कोई मन्त्र ही नही है—

"सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ।"[3]

शक्ति की रक्षा राजा का प्रमुख कर्तव्य है। राजा की नीति-निपुणता इसी मे है कि सर्प के मस्तक पर स्थित मणि के समान उस के शक्तित्रय को शत्रु प्राप्त न कर सके तथा वह स्वय, लोहे को चुम्बक के समान शत्रुओ के शक्तित्रय को हठात् ग्रहण करले।[4]

महर्षि नारद ने राज धर्म का विवेचन करते हुए युधिष्ठिर से पूछा कि तुम्हारा राज्य मन्त्र को गुप्त रखने वाले अत्यन्त ज्ञानवान् मन्त्रियो से सुरक्षित तो हैं।[5]

अपने देश मे, दुर्ग मे, शत्रुओ एव मित्रो की सेना मे वृद्धि, क्षय एव स्थान का गुप्तचरो के द्वारा सम्यक् परिचय प्रतिदिन प्राप्त करना राजा के लिये नितान्त अपेक्षित है।

"तस्मात् देशे च दुर्गे च शत्रुमित्र बलेषु च ।
नित्य चारेण बोद्धव्यं स्थान वृद्धि, क्षयस्तथा ।"[6]

---

१. शिशुपाल वध—२, २६.
२. भट्टी काव्य—१२, ६२.
३. शिशुपाल वध—२, २८.
४. रघुवंश—१७, ६३.
५. महाभारत—सभापर्व. ५ २१, २६-२८.
६. वही—वनपर्व १४९, ४०.

वृद्ध, विशुद्ध एव राज्य हित मे तत्पर रहने वाले कुलीन ब्राह्मण के साथ मन्त्रणा करना कार्य सिद्धि का प्रदाता माना जाता है—

"मन्त्रमूला नयाः सर्वे चाराश्च भरतर्षभ ।
सुमन्त्रितेन या सिद्धिस्ता द्विजैः सह मन्त्रयेत् ।"[1]

मन्त्रणा

मन्त्र गुप्त रखना राज्य की आधार शिला है, मन्त्र भेद से राज्य भेद एव अव्यवस्था होना सम्भव है । यही कारण है कि नीति वेत्ता रहस्य पूर्ण मन्त्रणा करने के लिए स्त्रीजन, मूर्ख, बालक, लोभी, लघु एव उन्मत्त जन का परिहार आवश्यक मानते हैं—

"स्त्रिया मूढेन बालेन लुब्धेन लघुनापि वा ।
न मन्त्रयीत गुह्यानि येषु चोन्माद लक्षणम् ।"[2]

अपने आश्रित एव अनुरक्त प्रजा वर्ग को अनुग्रह की दृष्टि से देखना चाहिये तथा अशिष्ट एव मर्यादा का उल्लघन करने वाले व्यक्ति का निग्रह नीति के अनुकूल माना गया है ।[3]

इस प्रकार निग्रह एव अनुग्रह के द्वारा प्रजा के साथ व्यवहार करने वाला राजा लोक मर्यादा को सुव्यवस्थित एव दृढ बनाने मे समर्थ होता है—

"निग्रहानुग्रहैः सम्यक यदा राजा प्रवर्तते ।
तदा भवन्ति लोकस्य मर्यादा सुप्रतिष्ठिताः ।"[4]

राजनीति को विशाखदत्त ने अत्यन्त जटिल एव कष्टो से परिपूर्ण बताया है। आरम्भ मे कार्य सिद्धि का बीज बोया जाता है, बीजो के उद्भिन्न होने पर उसके अत्यन्त गहन फल को प्रकाश मे लाना होता है, तदन्तर बुद्धि वैभव से उस बिखरे हुए कार्य कलाप को समेटने का प्रयास करना पडता है ।[5]

तेजस्विता

तेजस्वी होना राजाओ का आभूषण है । तेजस्वी के प्रभाव का अभिभव उसकी

---

१. महाभारत—वन पर्व, १४६, ४३. २. वही—१४६, ४४
३. वही—१४६, ४८. ४. वही—१४६, ३६.
५. मुद्राराक्षस—४, २.

मृत्यु से भी बढकर होता है। वह दूसरे के द्वारा किये गये अपमान को कदापि नही सह सकता। स्वभाव मे व्याप्त होने के कारण उसका यह अपना स्वाभाविक धर्म है।[1]

पराक्रम शाली एव तेज से ओत प्रोत राजा किसी अन्य व्यक्ति की प्रशसा को सहन नही कर सकते यह--उनका स्वभाव ही होता है। सिंह किस फल की आकांक्षा से गरजते हुए मेघो को देखकर गर्जना करता है—

"किमवेक्ष्य फल पयोधरान्ध्वनत प्रार्थयते मृगाधिप ।
प्रकृति खलु सा महीयसा सहते नान्य समुन्नतिं यया।"[2]

तेजस्वी के गौरव एव सम्मान के लिए सभी व्यक्ति तत्पर रहते हैं। जिस प्रकार दूर रहने पर भी पचाग्नि मे सूर्य को पाँचवी अग्नि माना जाता हैं उस प्रकार दूर रहने पर भी उसकी गणना तेजस्वियो मे स्वत· ही करली जाती है—

तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।
पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम् ।[3]

'वीर-भोग्या-वसुन्धरा' के अनुसार वीर को प्रतिष्ठा सृष्टि के आदिकाल से प्रण पालक, दृढता से आप्लावित, गम्भीरता से परिप्लुत, शत्रुओ के मर्दन करने वाले एव स्वातन्त्र्य प्रेमी के रूप मे होती आयी है। वह अपने एक मात्र साहस एव पराक्रम के कारण कठिन से कठिन कार्य को भी आरम्भ कर अकेला ही उसे सरलता से सम्पादन कर लेता है। उसका स्वय का हाथ ही उसका सहायक होता है। सिंह के साहस एव पराक्रम विषयक प्रीति मे अभिलाषा युक्त, शब्द करने वाले नखो से भीषण, स्वत: प्रादुर्भूत होने वाले कपोल से झरते हुए मद जल से सिक्त मुख वाले गजेन्द्र के मस्तक की हड्डियो के विदारण मे अद्वितीय वीर अकेला ही कार्य सिद्धि मे समर्थ होता है[4]

वीर मे निर्भीकता एव अखण्ड साहस का स्रोत सदैव अक्षुण्ण रहता है। उसकी दृष्टि त्रिलोकी के बल के उत्कर्ष की तृण के समान अवज्ञा करने वाली है, गाम्भीर्य एव दर्प से युक्त उसकी गति पृथिवी को अवनत सी कर रही है तथा बाल्यावस्था मे भी वह गिरि के समान गौरव का धारण करने वाला है।

---

१. उत्तर रामचरित—६, १४. २—किरातार्जुनीय—२ २१.
३. शिशुपाल वध—२, ५१
४. मालती माधव—८, ७; तुलना कीजिये—नागानन्द-३, १६.

"दृष्टि स्तृणीकृत जगत्त्रय सत्त्वसारा धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुता दधानो वीरो रस: किमयमेत्युत दर्पसारः ।"[1]

अपने अनुज लव का राजा की सेना के द्वारा आयोधन सुनकर कुश ससार से 'राज शब्द' को नाम शेष करने के लिए उद्यत हो जाता है तथा क्षत्रियो की शस्त्राग्नि को बुझा देने के लिए कटि बद्ध हो जाता है—

"आयुष्मत किल लवस्य नरेन्द्रसैन्यैरायोधन ननु किमात्थ सखे तथेति ।
अपास्तमेतु भुवनेतु च राजशब्द क्षत्रस्य क्षत्रशिखिनः शममद्य यातु ।"[2]

शत्रुओ का दलन किये बिना मोक्ष प्राप्ति का भी वीर निरादर करता है। अपनी कुल लक्ष्मी का उद्वार किये बिना मोक्ष को भी वह विजय लक्ष्मी की प्राप्ति मे विघ्न मानता है।[3]

सामर्थ्य शाली पुरुष याचना के द्वारा किसी वस्तु को प्राप्त करने की अपेक्षा उसे बल पूर्वक ग्रहण करना उचित समझते हैं। यदि पुरुषार्थ है तो भोगने से कोई प्रयोजन नही।[4]

वीर पुरुष अपने प्राणपरित्याग के द्वारा भी अपने पराक्रम से कार्य को सम्पन्न करना चाहता है। वीर पुरुषोचित आचरण करता हुआ या तो वह युद्ध स्थल मे प्राण देने के लिए तत्पर है अथवा पिता के निधन पर माता के नेत्रो से प्रवहमान अश्रु, वक्षताडन, हाहाकार युक्त आर्तनाद आदि शत्रु-पत्नियो पर डालकर पिता को तिलाञ्जलि देना चाहता है।[5]

क्षत्रिय जाति अथवा कोई विशिष्ट जाति वीरता का आधार नही होती सत्कुल मे जन्म ग्रहण करना भाग्याधीन है परन्तु पुरुषार्थ तो वीर के स्वय के अधीन

१, उत्तर रामचरित–६, १९, तुलना कीजिये--वही–५, १,३.

२. वही–६, १६.   ३. किरातार्जुनीय—११, ६६.

४ वही—१४, २०.

५. मुद्राराक्षस—४, ६, देखिये—वेणी सहार—६, ५.

होता है । कर्ण की यह उक्ति वीरोचित मर्यादा एव गौरव को मूर्त रूप में प्रतिष्ठापित करती है—

"सूतो वा सूतपुत्रो को वा यो वा भवाम्यहम् ।
दैवायत्त कुले जन्म मदायत्त तु पौरुषम् ।[1]

वीरता मे छल कपट का आश्रय नही लिया जाता है ।[2] आह्वान करने पर वीर बालक धनुष लेकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाता है। जिस प्रकार सिह मेघ गर्जन सुनकर द्विरदो के दर्प दलन से विरत होता है उसी प्रकार लव भी चन्द्र केतु के द्वारा चुनौती को सुनकर सेनाओ के विनाश से निवृत होकर युद्ध के लिए अभिमुख होता है ।

"विनिर्वर्तित एष वीरपोतः पृतनानिर्मथनात्त्वयोपहूत ।
स्तनयित्नु रवादिभावलीनामवमर्दादिव दृप्त सिहशाव. ।"[3]

अपने वचन का पूर्णतया निर्वाह करने वाले दृढ प्रतिज्ञ वीरो की ससार मे प्रतिष्ठा बढती है। वीरो का यह सदा से व्रत रहा है कि चाहे प्राण चले जाय पर वे अपने वचन पर अटल रहते है—

'सहिष्ये शतमागासि सूनोस्त इति यत्त्वया ।
प्रतीक्ष्य तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे प्रतिश्रुतम् ।[4]

वीर पुरुषो से युद्ध करने मे तेजस्वी पुरुष को अपार हर्ष का अनुभव होता है ।[5] दर्प युक्त पुरुषो का दलन करने वाले एव प्रदीपाग्नि से प्रदीप्त विरोधी वीरो से युद्ध होने पर वीर अपने धनुष को धन्य मानता है ।[5]

वह अपनी अथवा परकीय वस्तु को तुल्य ही समझता है । जहाँ वह निवास करता है वही उसका राज्य है ।[6]

इसके विपरीत निस्सार तृण के समान पराक्रम हीन पुरुष, जो तुच्छ शत्रु के भी सामने कातरता पूर्ण एव अपमान जनक जीवन व्यतीत करते है, वे समाज के दूषण एव

---

१. वेणी सहार—३, ३७. २. शिशुपाल वध—१६,५८.
३. उत्तर रामचरित--५, ८. ४. शिशुपाल वध--२, १०८
५. उत्तरराम चरित--६, १८, तुलना कीजिये-- वही --५. २६.
६. शिशुपाल वध--१७, ५०.

कलङ्क के प्रतिरूप हैं। तृण तुल्य सारहीन वस्तु भी उनकी अपेक्षा श्रेयस्कर मानी जाती है—

"स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि।
निदर्शनमसाराणा लघुलहुतृणं नरः।"[1]

जिस पुरुष मे वीरता का अभाव होता है तथा जो शत्रुओं का प्रतीकार करने मे अशक्त है, वह विपत्ति ग्रस्त होकर अपना गौरव, राज्य लक्ष्मो एव भाविनी उन्नति को खोकर अनेक कष्टो का अनुभव करता है—

"विपदोऽभिभवन्त्यविक्रम रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्नपदं नृपश्रियः।"[2]

राजाओ का तेज किसी अकार्य अथवा असत् आचरण करने से भी दूषित हो जाता है। युधिष्ठिर का उदग्र पराक्रम सम्पन्न क्षत्रियोचित तेज उनके द्यूत क्रीडा में आसक्त होने के कारण अवश्य ही नष्ट हो गया—

"यदूर्जितमत्युग्र क्षात्र तेजोऽस्य भूपतेः।
दीव्यताक्षैस्तदानेन नून तदपि हारितम्।"[3]

इसके अतिरिक्त राजाओ का एक और भी महान् दूषण माना जाता है कि वे अपने प्रचण्ड तेज से प्राप्त किये गये फल का स्वयं ही उपभोग करलें। अपने पराक्रम से प्राप्त लक्ष्मी का जब वे अकेले ही भोग करते हैं तो वे अनेक कष्टो को आमन्त्रण देते हैं-

"स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्राय, सीदन्ति दुःखिताः।'

शत्रु के द्वारा तिरस्कृत एवं अपमान जन्य दुःख से पीडित होकर निन्दित जीवन यापन को नीतिज्ञो ने अत्यन्त गर्हणीय एव धिक्कार के योग्य माना है।

अपमान को शान्त रहकर सहन करने वाले व्यक्ति से वह धूलि उत्तम है जो पैर से ताडित होकर अनादर कर्ता के मस्तक पर पैर रखती है—

---

१. शिशुपाल वध— २, ५०. २. किरातार्जुनीय — २, १४.
३. वेणी संहार— १, १३, ४. मुद्रा राक्षस— १, १६

"पादाहत यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वर रज ।"[1]

माघ कवि ने अपमान से निन्दित जीवन यापन करने वाले पुरुष का जन्म निरर्थक माना है । जन्म ग्रहण कर केवल माता को कष्ट देने के अतिरिक्त उसके जीवन का कोई अन्य फल नही होता ।

पराक्रम के द्वारा प्रतिकार करने मे असमर्थ शक्तिहीन पुरुष प्रलाप करता हुआ वाणी मात्र से ही अहित कर सकता है ।[3]

पराक्रम से रहित व्यक्ति, जो शत्रु के समृद्धि एव समुन्नति पूर्ण राज्य मे दीन की तरह सेवा करता है, विद्वान् लोग उस जीवन से मरना अच्छा बताते है—

"य. सपत्नश्रिय दीप्ता हीनश्री पर्युपासते ।
मरणं शोभन तस्य इति विद्वज्जना विदु ।[4]

प्रमाद करने वाला वीर पुरुष मनुष्य लोक मे महिमा को प्राप्त करके भी पर्वत के शिखर के समान कीचड मे फँसे हुए गजराज की तरह दु ख पाता है ।[5]

मित्रता

राज्य की शासन व्यवस्था मे मित्र और शत्रु दोनो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है । मित्र सहायता के द्वारा राज्य की पृष्ठभूमि को सुदृढ बनाता हुआ राजा के सकटावस्थ होने पर उसकी रक्षा का पूर्ण प्रयास करता है । मित्रता चिरस्थायिनी एव मङ्गलकारिणी होती है, इसके विपरीत समृद्धियाँ क्षणिक एवं नश्वर हैं । इसीलिये भारवि ने सम्पत्ति लाभ एव मित्र लाभ - इन दोनो मे मित्र लाभ को ही श्रेयस्कर माना है ।[6]

समान स्तर के व्यक्तियो मे ही मित्रता श्रेयस्करी होती हैं । पराक्रमशाली वीर राजाओ की नीच एव धनहीन व्यक्ति मित्रता से होना सम्भव नही ।[7]

---

१. शिशुपाल वध— २, ४६.
२. वही— २, ४५.
३. वेणी सहार ५, ३१.
४ महाभारत आदिपर्व, ७६, १३.
५. भट्टी काव्य–१०, ७३.
६. किरातार्जुनीय—१३, ५२.
७. महाभारत—आदि पर्व, १३१,५. तथा वही—१३०, ६—११, तुलना कीजिये—किरातार्जुनीय—१४, २२.

ययोरेव समं वित्त ययोरेव सम श्रुतम् ।
तयो विवाह· सख्य च न तु पुष्टविपुष्टयो: ।

सुग्रीव को कृच्छ्र मे देखकर राम ने बालि वध के द्वारा उसके कष्ट निवारण की प्रतिज्ञा की। मित्र के हेतु धन, सुख और शरीर का भी त्याग करना न्याय सङ्गत है—

"धन त्याग. सुख त्यागो देह त्यागोऽपि वा पुन ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेह दृष्ट्वा तथाविधम् ।"[1]

सदैव प्रिय कहने वाले मित्र स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते हैं परन्तु अप्रिय किन्तु हितकारक परामर्श देने वाले बिरले ही होते हैं—

"सुलभा· पुरुषा, राजन् सतत प्रियवादिन· ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ ।"[2]

कष्ट एव विपत्ति मे पडने पर ही मित्र की परीक्षा होती है—

"तृणोल्कया ज्ञायते जातरूप वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधु. ।
शूरोभयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीर. कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ।"[3]

हित चाहने वाले मित्रगण राजा के हित के लिये प्राणपण से चेष्टा करते है। शत्रुओ के द्वारा किये गये अपकार एव अपमान जन्य व्यवहार के तथ्य पूर्ण वृत्तान्त के पूर्णतया निवेदन करने मे उसके मन मे किसी प्रकार की भावना उत्पन्न नही होती। हित की कामना करने वाले मित्र वर्ग व्यर्थ की प्रिय लगने वाली बात कदापि नहीं कहते

"कृत प्रणामस्य मही महीभुजे जिता सपत्नेन निवेदयिष्यत ।
न विव्यथे तस्य मनो नहि प्रिय प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिण. ।"[4]

मित्रो का वर्गीकरण करते हुए माघ कवि ने मित्र एव शत्रु को सहज, प्राकृत, एव कृत्रिम – इन तीन भागो मे विभक्त किया है। कृत्रिम मित्र एव शत्रु अपने व्यवहार से होता है। साम, दाम आदि उस मित्रता एव शत्रुता के कारण है। कार्यवश होने के कारण कृत्रिम मित्र अथवा शत्रु को सर्व प्रमुख कहा है—

---

१. रामायण—किष्किन्धा--८, ६. २. रामायण—युद्धकाण्ड, १६, २०-२१.
३ महाभारत—उद्योगपर्व, ३५,४६ ४. किरातार्जुनीय—१, २.

"सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यत: ।
स्याताममित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ।"[1]

मित्र बिना कहे भी आपत्ति मे मित्र की सहायता करने के लिये प्रस्तुत रहता हैं । जैसे स्वयमेव वायु अग्नि की सहायता के लिये तत्पर रहता है—

"मधुश्च ते मन्मथ साहचर्यादसावनुक्तोऽपि सहाय एव ।
समीरणो नोदयिता भवेति व्यादिश्यते केन हुताशनस्य ।"[2]

प्राणि मात्र की मनोवृत्ति शत्रु एव मित्र की परिचायिका होती है । का हर्ष अथवा उद्विग्नता शत्रुना एव मित्रता के माप दण्ड हैं । अर्जुन शूकर को आता हुआ देखकर, मन की विक्षुव्यता के कारण, उसे शत्रु समझ लेता है ।[3]

महापुरुषो की सहायता से तुच्छ व्यक्ति भी महान् कार्य को सम्पादित कर सकता है —

"बृहत्सहाय: कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ।"[4]

समृद्धि एवं वैभव के नष्ट होने पर भी जो पुरुष मित्र का साथ नही छोडता, वस्तुत: वही मित्र सच्चा मित्र है । वैभव को दशा मे तो सभी सहायक बनते ही हैं । निर्धनता मे सहयोग देना ही मित्रता की कसौटी है ।[5]

उपर्युक्त अध्ययन को सार रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है कि अहित से रोकना, हित मे लगाना, विपत्ति मे साथ देना ही मित्र की परिभाषा है—

"अहितात्प्रतिषेधश्च हिते चानुप्रवर्तनम् ।
व्यसने चापरित्यागस्त्रिविध मित्र लक्षणम् ।"[6]

शत्रुता

मित्र के समान शत्रु भी राजा के लिए अनुपेक्षणीय हैं । राज्य में बाह्य एवं आभ्यन्तर -- ये दो प्रकार के शत्रु दृष्टि गोचर होते हैं । आन्तरिक शत्रु राज्य मे निवास

---

१. शिशुपाल वध— २, ३६.
२. कुमार सम्भव— ३, २९.
३. किरातार्जुनीय— १३, ६.
४. शिशुपाल वध— २, १०००.
५. बुद्ध चरित— ११, ४.
६. शिशुपाल वध— ४, ६४.

करते हुए षड्यन्त्र आदि कुत्सित एवं गर्हित आचरणों के द्वारा राज्य की पृष्ठभूमि को अस्थिर बनाते है। बाह्य शत्रु अन्य देशो के राजा होते हैं, जिन्हे युद्ध के द्वारा अपने वश मे करके ही राजा सुख और समृद्धि को स्थापित कर सकता है।

शत्रु के विषय मे नीतिकारो की यही धारणा है कि जब तक एक भी शत्रु जीवित है तब तक सुख प्राप्त नही हो सकता।

"ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्।
पुर: क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम्।"[1]

राजनीतिज्ञ विद्वानो ने शत्रु और रोग को समान कहा है। बढते हुए रोग के समान उदीयमान शत्रु भी अत्यन्त घातक सिद्ध होता है। अपना हित चाहने वाले व्यक्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह उठते हुए शत्रु की ओर से कदापि असावधान न रहे—

"उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च।"[2]

शत्रु जो, बार बार अपकार करता हुआ अहित सम्पादन मे लीन रहता है, उस अपकार निरत शत्रु का नाश ही सर्वोत्तम नीति है।[3]

मानी लोग शत्रुओ का समूल नाश किये बिना उदित नही होते। । इस विषय मे गाढान्धकार को नष्ट कर उदित होने वाले भगवान् भास्कर ही निदर्शन हैं—

"समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः।
प्रध्वसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः।"[4]

धूलि को बिना पङ्किल बनाये जिस प्रकार जल भूमि पर अपना स्थान नही बना सकता उसी प्रकार शत्रु को बिना समूल नष्ट किये राजा की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं—

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठां खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कता धूलिमुदक नावतिष्ठते।"[5]

शत्रु, चाहे कितनी भी दीनता प्रदर्शन करता हुआ जीवन याचना करे परन्तु

१. शिशुपाल वध— २, ३४.　२. वही— २, १०.
३, भट्टी काव्य— ६, १०२.　४. शिशुपाल वध—२, ३३.
५. वही—२, ३४.

उसको जीवन दान देना नीतिसगत नही। उसका तो वध ही अभीष्ट माना गया है—

"अवित्रो न विमोक्तव्य कृपण वह्वपि ब्रुवन्।
कृपा न तस्मिन् कर्त्तव्या हन्यादेवापकारिणम्।"[1]

नीति के अनुसार सम्मुख आये हुए शत्रु का जो वध नही करते वे कुल परम्परा सेआयी हुई एवं न्याय के अनुसार प्राप्त हुई राज्य लक्ष्मी का भी शीघ्र ही त्याग करते हैं।[2]

प्रबल शत्रु के साथ विरोध होने पर मनुष्य को इसके प्रति पूर्णतया सावधान रहना चाहिये। जो व्यक्ति क्रोध एव दर्पयुक्त शत्रु के साथ वैर करके उसके प्रति उदासीन हो जाता है अथवा उसकी अपेक्षा करता है, उसका नाश सम्भव हैं—

"विधाय वैर सामर्षे नरोऽरौ य उदासते।
प्रक्षिप्योदर्चिष कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम्"[3]

युद्ध क्षेत्र मे सम्मुख युद्ध करते हुए शत्रु का वध एक पुण्य कर्म[4] माना जाता है। नाश की बुद्धि रखने वाले शत्रु का नाश वीरो के लिए सब से महान् लाभ माना गया है।[5]

वीर पुरुष शत्रुओ के द्वारा की गयी दुर्दशा को अभिशाप समझते हैं। जिनका बल एव पराक्रम शत्रु से तिरस्कृत एव अपमानित नही है उनका दैवाधीन पराभव भी उत्साह वर्धक होता है—

"द्विषन्निमिता यदिय दशा तत समूलमुन्मूलयतीव मे मन।
परैरपर्यासित वीर्यसम्पदा पराभवोप्युत्सव एव मानिनाम्।"[6]

शत्रु को परास्त करके उसके समक्ष नम्रता का व्यवहार करना नीति के अनुकूल है। पराक्रम से शत्रु के पराजित हो जाने पर उसके समक्ष विजेता का नम्र होना उसकी कीर्ति को उन्नत एव उसके यश का प्रसार करता है—

---

१ महाभारत-शान्तिपर्व, १४०, ५२, देखिये २. भट्टी काव्य—६, १०५
३. शिशुपाल वध—२, ४२. ४ शिशुपालवध—२, १०६.
५. किरातार्जुनीय—१३, १२. ६ वही—१, ४१.

"राघवोऽपि चरणौ तपोनिधे क्षम्यतामितिवदन्समस्पृशत् ।
निर्जितेषु तरसा तरस्विना शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये ।"[1]

शत्रु के प्रति पूर्ण सतर्कता से व्यवहार करके राजा उसे अपने वश मे कर सकता है। विश्वस्त के समान, किन्तु अविश्वस्त रहकर शत्रु के साथ प्रीतिपूर्ण व्यवहार करता हुआ वह उसे अपने वश मे रख सकता है—

"अमित्रमुपनेवेत विश्वस्तवदविश्वसन् ।
प्रियमेव वदेन्नित्य नाप्रिय किञ्चिदाचरेत् ।"[2]

शत्रु क्रोध के द्वारा नही प्रत्युत साम, दाम, भेद एव दण्ड के द्वारा पराजित किया जा सकता है—

"साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनेति युधिष्ठिर: ।
अमित्र यतते जेतु न रोषेणेति मे मति. ।"[3]

यथा समय शत्रु के प्रति राजा को विविध साम आदि उपायो को प्रयुक्त करना चाहिये।[4] अनुकूल आचरण से शङ्का रहित होकर मित्र की भी सेवा करनी चाहिये—

प्रणिपातेन दानेन वाचा मधुरया ब्रुवन् ।
अमित्रमपि सेवेत न च जातु विशङ्कयेत् ।"[5]

स्व राष्ट्र एव परराष्ट्र चिन्तन करता हुआ तन्त्र एव अवाप का पूर्ण ज्ञाता, राजा, योगो से अपने तथा शत्रु के राष्ट्र को वशीभूत करके सरलता से शत्रुओ का दमन करने मे समर्थ हो सकता है—

"तन्त्रवापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता ।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रव: ।"[6]

युद्ध के समय शत्रु पर प्रहार करना ही सफल नीति रीति है। शत्रु रूप में उप-

---

१ रघुवश—११, ८९.　　२. महाभारत—शान्ति पर्व, १०३, ६.
३. महाभारत (गोरखपुर सस्करण)-आदिपर्व, १६६,७.
४. वही-शान्ति पर्व, १०३, २८　५. वही-१०३, ३०.　६. शिशुपाल वध-२, ८८

स्थित होने पर वहाँ सम्बन्ध अथवा स्नेह बन्धन कोई स्थान नही रखता। अत्यन्त तेजस्वी शत्रु पर शस्त्र प्रहार करने के अतिरिक्त और क्या गति है। जिस शस्त्र को प्रहार करने लिए वीर न मिले वह शस्त्र भी निरर्थक है, शस्त्र उद्यत करने पर भी युद्ध से पराङ्मुख होने वाले वीर का जन्म भी निष्फल है।[1]

शत्रु के मित्र कृच्छ मे तथा अपने मित्रो के उपचय मे नीतिज्ञ राजाओ की विजय निहित है। शत्रु मित्र नाश से दुखी हो तथा स्वय सैन्य संयुक्त एवं हित चिन्तक मित्र से समवेत हो तभी आक्रमण करना विजयार्थियो की उत्तम नीति है।

नीतिकारो की यह धारणा है कि अपनी उन्नति एव शत्रु की विपत्ति के समय युद्ध करना विशेष हितकर है-

"आत्मोदय. परज्यानि र्द्वय नीतिरितियती।
तदुरीकृत्य कृतिभिर्वाविस्पत्य प्रवक्षते।"[2]

किन्तु नीतिज्ञो ने मानियो के लिए इस नीति को लज्जाजनक बताया है। जिस प्रकार राहु पूर्ण चन्द्रमा पर ही आक्रमण करता है उसी प्रकार समृद्धि से परिपूर्ण शत्रु पर आक्रमण करना मानी पुरुष की शोभा की अभिवृद्धि करता है तथा उसके हर्ष का कारण होता है।[3]

शत्रु की समृद्ध अवस्था मे तथा अपनी विपत्ति मे युद्ध आरम्भ करना सर्वथा अहितकर होता है। काम आदि विकारो के वशीभूत अत्यन्त मूर्ख मन्त्रियो एव सेवको से युक्त एव मित्रो से रहित राजा को योग्य मन्त्रणा देने वाले व्यक्तियो से परिवृत, मित्र युक्त एव शत्रु रहित प्रबल शत्रु से युद्ध करना उचित नही।[4]

विजय प्राप्ति के हेतु राजाओ को नाना विध नीतियो का आश्रय लेना पडता है। शत्रुओं मे भेद डालने, गुण मे अनुरक्त प्रजा को आश्वस्त करने, विजय यात्रा के समय पृष्ठ सेना की व्यवस्था करने एव शत्रु के नाश के लिए अपेक्षित समस्त साधनो की व्यवस्था करने के द्वारा ही राजा पूर्णतया विजय प्राप्ति मे सफल हो सकता है।[5]

मित्र के विपत्ति मे होने पर राजा बिना विशेष प्रयत्न किये सरलता से शत्रु को

---

१. उत्तर राम चरित-५, १६.
२. शिशुपाल वध-२, ३०
३. शिशुपाल वध-२, ६१
४. भट्टी काव्य-१२, ३६.
५. स्वप्नवासवदत्त--५, १२.

पराजित कर सकता है। मित्र के अभाव मे शत्रु गण गति मति हीन होकर पराक्रम से युद्ध करने मे असमर्थ होता है।[1]

चतुरङ्ग बल एवं कोश के कारण समुन्नत राजा के द्वारा अपने हीन एव असमान शत्रु से युद्ध नही करना चाहिये। सबल के द्वारा हीन का वध निष्प्रयोजन होता है तथा सबल की पराजय होने पर तो महान् अनिष्ट होने की आशङ्का रहती है —

दण्डेन कोशेन च मन्यसे चेत् प्रकृष्टमात्मानमरेस्तथापि।
रिक्तस्य पूर्णेन वृथा विनाश. पूर्णस्यभङ्गे बहु हीयते च।"[2]

युद्ध का आदर्श नियम यही है कि योद्धा गण अपने समकक्ष योद्धाओ से ही युध्द करें।[3]

शत्रु के समक्ष युध्द करते समय शत्रु को भी समान साधन एवं सुविधा प्रदान करके ही युध्द करना वीरो का धर्म हैं। नीति विशारदो की यह धारणा है कि इस प्रकार समान स्तर पर युद्ध करने से वीरो का सत्कार होता है। इसके अतिरिक्त क्षत्रिय के सनातन धर्म की रक्षा होती है। वीरो की यही आचार पद्धति हैं—

'एष साग्रामिको न्याय: एष धर्मः सनातन:।
इय हि रघुसिहाना वीरचारित्र पद्धति।"[4]

सुख की निद्रा मे सोये हुए, शस्त्रो का परित्याग करने वाले, रथ आदि छोडकर भूमि पर खडे हुए, शरण मे आकर दीनता की भिक्षा मागने वाले, केश फैलाये तथा भग्न रथ वाले व्यक्तियो पर प्रहार करना अत्यन्त निन्दनीय माना गया है।[5]

अर्जुन का शूरता का उल्लेख करते हुए प्रजाजन उसकी यह कहकर भूरि भूरि प्रशसा करते हैं कि वह सोये हुए, प्रमत्त, शस्त्र का त्याग करने वाले, अन्जलि बांधकर प्राण याचना करते हुए, और बाल फैलाकर भागते हुए व्यक्ति पर प्रहार नही करता—

"न च सुप्त प्रमत्त न्यस्तशस्त्र कृताञ्जलिम्।
धावन्तं मुक्तकेश वा हन्ति पार्थो धनञ्जय।[6]

---

१. दूत वाक्यम्—१, ६.   २. भट्टी काव्य—१२, ४३.
३. रघुवश ७, ३७,   ४, उत्तर रामचरित—५, २२, देखिये वही-५,२०.
५. महाभारत—सौप्तिक पर्व—६, ११-१३. नारथिन. पादचारमभियुञ्जन्ति।
६. महाभारत— सौप्तिक पर्व-- ६, १२५, देखिये--वही-- ६२१--२३.

शरणागत को त्राण देना भी परम पुण्य कर्म माना जाता है। जो शरणागत की रक्षा नही करता उसे ब्राह्मण वध, गो वध या करने वाले पापी के समान पाप का भागी माना जाता है।[1]

विभीषण को आया हुआ जानकर शरणागत की रक्षा के लिए राम का आग्रह नैतिकता का चरम आधार है।[2]

कुशल युद्ध कला वही है, जहाँ शत्रु के साधनो का उपयोग शत्रु के विरुद्ध ही किया जाय और वह शत्रु का ही नाश करे।[3]

वीरो की सेना युद्ध विजय का अपूर्व साधन होती है। निश्चित लक्ष्य को दृष्टि मे रखकर युद्ध करने वाले स्नेह के बन्धन मे नितरा आवद्ध एव राजभक्ति के कारण स्वामी का हित चाहने वाले वीर योद्धा गण स्वामी की विजय के आधार स्तम्भ है।[4]

राजा को अपने वीर योद्धाओ का सम्मान तथा उनके प्रति अत्यन्त अवधानता से व्यवहार करना चाहिये। वीर सैनिको के विशिष्ट गुणो का विवेचन करते हुए भारवि ने कहा है कि वीर महा बलिष्ठ एव धनुर्धर हो, जिन्हे अपने वश का गर्व हो, जो युद्ध भूमि मे अनेक बार विजय प्राप्त कर चुके हो, जो स्वामी के द्वारा पूर्ण रूप से सत्कृत एव समादृत हो, उत्कोच से दूर रहने वाले, अवसर पर प्राणो का भी परित्याग करने वाल, स्वार्थ सिद्धि की भावना से मुक्त एवं राजा की कल्याण कामना करने वाले हो—

> "महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृत. सयति लब्धकीर्तय:।
> न सहतास्तस्य न भिन्नवृत्तय' प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभि. समीहितुम्।"[5]

वीर योद्धा सेना मे स्वतः ही पहिचाना जा सकता है। उनकी वीरता, दया, निर्भीकता आदि उसका स्वय ही परिचय दे देते हैं।[6]

जो राजा शत्रु के उन्नति कारक उद्योगो के नाश एव अपने सावनो के उपचय मे सदैव तत्पर रहता है तथा अपने गुप्त रहस्यो को प्रकाशित न होने देता हुआ दूसरे पर व्यसनो एव दुर्बलताओ मे प्रहार करता है उसकी विजय अवश्यम्भावी होती है।[7]

---

१. महाभारत— वन पर्व, १३१' ६ २ रामायण—युद्धकाण्ड, १८, २७-२९.
३. मुद्रा राक्षस— २, १५. ४. वही— ५, १०.
५. किरातार्जुनीय—१, १९. ६. रघुवश— १७, ६१.
७. शिशुपाल वध— २,९२.

असम्मान से असन्तुष्ट अन्तरङ्ग अमात्य सेवक आदि के क्रोध से प्रादुर्भूत अल्प मात्र भी विग्रह राजा का सर्वनाश कर सकता है—

"अणुरप्युपहन्ति विग्रह, प्रभुमन्तः प्रकृति प्रकोपजः।
अखिल हि हिनस्ति भूधर तरुशाखान्तनिघर्षजोऽनलः।"[1]

षाड्गुण्य

राज्य की वैदेशिक नीति का सचालन षाड्गुण्य के सिद्धान्त के आधार पर सुचारु रूप से किया जा सकता है। सस्कृत काव्य साहित्य मे षाड्गुण्य का विशद विवेचन उपलब्ध होता है। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव एव सश्रय—ये विदेश नीति के प्रमुख अङ्ग माने जाते हैं।

प्रत्येक राष्ट्र को कुछ राष्ट्रो से मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना पडता है। शत्रु के पराजित करने मे मित्र का महान् सहयोग होता है। मित्र राष्ट्रो की सहायता से शत्रु से युद्ध का आयोजन किया जाता है। युद्ध घोषणा के अनन्तर शत्रु पर आक्रमण करना होता है। शत्रु-राज्य के निकट पहुँच कर कुछ समय वहाँ ठहरकर कूट नीति आदि द्वारा शत्रु पक्ष मे भेद उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार इन छः गुणो का राज्य की विदेश नीति मे अत्यन्त महत्त्व पूर्ण स्थान है।

सन्धि

सन्धि करना अथवा उसे भङ्ग करना राजा के हित मे होना चाहिये। सन्धि के अनुसार दो राजाओ मे परस्पर कुछ नियम निर्धारित किये जाते है जिनका पालन दोनो पक्षो को करना पडता है। कुशल राजा पर-राष्ट्र से सन्धि करके अपने साधनो की वृद्धि के प्रति सचेष्ट रहता है तथा क्षमता एव योग्यता को प्राप्त करके सन्धि भङ्ग भी कर डालता है।[2]

सन्धि हो जाने के कारण शत्रुओ के प्रति अपने क्रोध रूपी अग्नि को शान्तकर वे लोग सानन्द रहते है, तथा विग्रह हीन होकर वे अपनी उन्नति मे लग जाते है।[3]

पूर्वापकारी शत्रु के साथ सन्धि करना न्याय सङ्गत नही प्रतीत होता। वीर तो सग्राम भूमि मे क्रोध से समस्त शत्रुओ का मथन करने के लिए उद्यत रहता है।[4]

---

१. किरातार्जुनीय— २, ५१.
२. भट्टी काव्य—१३, ३० ३. वेणी सहार—१, ७.
४. वही—१, १५, तुलनीय—वही—५, ७ तथा वही—१, १२

शत्रु के द्वारा किये गये दुर्व्यवहारो को स्मरण कर हृदय मे विद्वेष की अग्नि दहकती रहती है। परन्तु सन्धि के नियम भी मान्य होते हैं इसीलिये वीर योद्धा शैशव काल से चली आ रही अपनी शत्रुता का प्रतिकार करने के हेतु सन्धि को भङ्ग करने के लिए सन्नध्द होते हैं।[1]

नीति वेत्ताओ का इस विषय मे यह परामर्श है कि उपकार करने वाले शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिये परन्तु अपकार करने वाले मित्र से नही—

"उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा।
उपकारापकारो हि लक्ष्य लक्षणमेतयो:।[2]

नारद ने सन्धि एव विग्रह को राजनीति का अनिवार्य अङ्ग माना है। राजा को यथावसर सन्धि, विग्रह आदि का नियमन अवश्य करना चाहिये।

"कच्चित् सन्धि यथा काल विग्रह चोपसेवसे।
कच्चित् वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुमन्यसे।"[3]

विग्रह

सन्धि के समान ही विग्रह भी कम महत्त्वपूर्ण नही है। दो शत्रु राष्ट्रो मे परस्पर कही मित्रता स्थापित न हो जाय इसलिए राजा को पूर्ण सावधानी के साथ उनमे परस्पर विद्वेष उत्पन्न करा देना चाहिये। अनुराग प्रदर्शित करके अपनी समुन्नति के लिए उनसे सन्धि स्थापित करना अपना हित कारक है।[4]

सहनशील, समर्थ, अत्यन्त मानी एव शत्रुओ से अभेद्य अपने सेवको की पूरी तरह परीक्षा करके दुर्गों मे उन्हें प्रतिष्ठित करना चाहिये और दो शत्रु राजाओ मे परस्पर विग्रह कराकर अपनी वृध्दि की ओर सतत सचेष्ट रहना चाहिये।[5]

निर्बल राजा जब शत्रु को परास्त करने मे असमर्थ हो तो स्वयं दुर्ग आदि की अभिवृध्दि करता हुआ दो राजाओ मे परस्पर युध्द कराये। जिस प्रकार चण्डाल वराह को वश मे करने मे समर्थ नही होता तो उससे कुत्ते को लडाकर उसे मार डालता है। इसी प्रकार चतुर राजा भी अपने शत्रु से अन्य राजा को लडाकर स्वय चुप चाप बैठकर

---

१. वेणी सहार—१, १०. २. शिशुपाल वध—२, ३७.
३ महाभारत—सभा पर्व, ५, २५–२६.
४. भट्टी काव्य—१२, ३१. ५. वही—१२, ३२.

अपने राज्य की अभिवृद्धि एव समुन्नति मे तत्पर रहता है।[1]

यान

शत्रु पर आक्रमण करने के हेतु प्रयाण को यान कहा जाता है। अपनी प्रभु शक्ति के बढने पर कोई भी नीतिज्ञ राजा शत्रु पर अभियान करना अपना गौरव समझता है। कोई नीतिकार अपनीशक्ति के उपचय पर तथा कोई शत्रु के उपचय अथवा विपत्ति ग्रस्त होने पर आक्रमण करना अनुकूल कहते हैं—

स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसने परे।
यानमाहुस्तदासीन त्वामुत्थापयति द्वयम्।[2]

शत्रु को व्यसन मे पडा हुआ जानकर वेग से उस पर अभियान करना विजय लाभ का कारण है।[3]

युद्ध के प्रयाण के लिए अपने नगर एवं दुर्गो की रक्षा करनी चाहिये तथा विघ्न हारक मागलिक कृत्यो का सम्पादन करके सबल सेना के साथ विजय यात्रा के लिए प्रयाण करना चाहिये।[4]

बाहर से नगर मे साधन सामग्री न पहुँच सके तथा शत्रु की सीमित सेना चारो ओर से रक्षण न पाकर वहीं किंकर्तव्य विमूढ हो जाय, इसलिये युद्ध के समय नगर का अवरोध करना विजय प्रद सिद्ध होता हैं। जिस प्रकार गर्जना के साथ धारासार वर्षा करती हुई मेघ माला पर्वत शिखिर को आवृत कर लेती है उसी प्रकार गम्भीर गर्जना करती हुई गज घटा मद जल की वर्षा से शत्रु के नगर को सिक्त करती हुई उसे चारो ओर से घेर लेती है।[5]

आसन

शत्रु पक्ष की प्रबलता एव अपने विजय लाभ को सशयित समझने वाले राजा का यह कर्तव्य है कि वह मौन धारण कर आसीन रहे। जब विजगीषु राजा के लिए विग्रह, सन्धि एवं शत्रुनाश अपने लिए लाभ प्रद एव हितकारक न प्रतीत हो तो उसे चुपचाप बैठकर

---

१. भट्टी काव्य—१२, ३३.
२. शिशुपाल वध—२, ५७.
३. महाभारत—सभापर्व, ५, ५७,
४. रघुवश—४, २६.
५, मुद्राराक्षस—४, १७.

उचित अवसर की प्रतीक्षा करनी चाहिये ।[1]

निर्बलता के कारण शत्रुओ को परास्त करने मे अक्षम राजा दो शत्रुओ मे परस्पर श्वा और वराह के समान विग्रह कराके स्वय दुर्ग आदि की वृद्धि-करता हुआ मौन का आश्रय लेकर बैठा रहे ।

"शक्तोति यो वा द्विषतोऽभिहन्तु विहन्यते नाप्यबलै र्दिषद्भि. ।
स श्वा वराह कलह विदध्यादासीत दुर्गादि विवर्धयश्च ।"[2]

द्वैधीभाव

राजा को जब एक से सन्धि तथा अन्य से विग्रह करने मे लाभ दृष्टिगोचर होता हो तो नीति कुशल राजा द्वैधीभाव का आश्रय ग्रहण करे । दोनो ओर सन्धि और विग्रह से अपनी वृद्धि का विचार कर एक शत्रु के साथ सन्धि और उसके सहायक अभियुक्त के साथ विग्रह करना नीति सगत है । विजगीषु राजा इस प्रकार अपने एव शत्रु के बलाबल का विचार कर विजय प्राप्त कर सकता है-

"एकेन सन्धि कलहोऽपरेण कार्योऽभितो वा प्रसमीक्ष्य वृद्धिम् ।
एव प्रयुञ्जत जिगीषुरेता नीतीर्विजानन्नहितात्मसारम् ।"[3]

सश्रय

जब अकेला राजा बल हीन होने के कारण अपनी रक्षा करने मे समर्थ न हो तो उस स्थिति मे उसे किसी अन्य राजा के आश्रय मे चले जाना चाहिये—

"प्रयाणमात्रेण परे प्रसाध्ये वर्तेतयानेन कृताभिरक्ष ।
अशक्नुवन्कर्तु मरेर्विघात स्वकर्म रक्षाश्च पर श्रयेत ।"[4]

महाकवि कालिदास ने भी समुद्र की अनेक पर्वतो को आश्रय स्थान बताकर सश्रय नीति का प्रतिपादन किया है । जिस प्रकारपक्षो को काटने वाले इन्द्र से पीडित होकर शतशः अथवा सहस्रशः पर्वत समुद्र का आश्रय ग्रहण करते हैं उसी प्रकार कष्ट देने वाले शत्रुओ से आत्म रक्षा करने मे अशक्त राजा धर्म प्रधान मध्यम राजा का आश्रय ग्रहण करते है—

---

१. भट्टी काव्य—१२, २६.
२. वही—१२, ३३,
३. वही—१२, ३५.
४. वही—१२, २४.

"पक्षच्छिदा गोत्रभिदात्तगन्धा शरण्यमेन शतशो महीध्रा ।
नृपा इवोपप्लविन परेभ्यो धर्मोत्तर मध्यममाश्रयन्ते ।'[1]

भारतीय युद्धनीति की उल्लेखनीय विशेषता है उसमे 'धर्म युद्ध'। यहाँ युद्ध का अर्थ हत्या नही है। भारतीय राजनीति पूर्णतया धर्म भावना पर अवलम्बित है। आत्म रक्षा एव अपने आदर्श की रक्षा के लिए युध्द एव शत्रुओ का संहार भी अपेक्षित हो जाता हैं तथापि धर्म प्राण भारतीय जीवन मे धर्म को विस्मृत नही किया जा सकता। लोक मर्यादा की प्रतिष्ठा एव लोक रक्षा के लिए अनेकानेक युद्ध लडे गये, असख्य वीर पुरुषों का सहार हुआ तथापि वे सभी युद्ध के नियमो से सदैव आवध्द रहते थे। सोये हुये, पीठ दिखाकर भागते हुए, शस्त्र हीन एव शरण की याचना करते हुए शत्रु का नाश भारतीय धर्म युध्द के अनुसार नितान्त गर्हणीय माना जाता रहा है। धर्म युध्द मे सामने लडकर प्राण देने के महत्त्व का गुणगान इस धर्म प्रधानता की ओर ही सकेत करता है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता हैं कि भारत मे राजनीति एव धर्मनीति मे पूर्ण सामजस्य की प्रतिष्ठा हुई है। धर्म से विरहित राजनीति केवल प्रभुता है। उससे राष्ट्र मे शान्ति एव समृद्धि की प्रतिष्ठा कदापि सम्भव नही। यही कारण है कि प्राचीन भारत मे सैनिक शिष्टाचार एव नैतिकता को बडा प्रश्रय दिया जाता रहा है। राजाओ एव योद्धाओ के लिए सामरिक मान्यताओ एव परम्पराओं का पालन करना अनिवार्य अङ्ग माना गया है।

कौटिल्य[2] के अनुसार तीन प्रकार के विजयी राजा बताये गये हैं– धर्म विजयी, लोभ विजयी, असुर विजयी। विजित के आत्म समर्पण से ही सन्तुष्ट हो जाने वाला राजा धर्म विजयी कहा जाता है। भारतीय वाङ्मय मे धर्म विजयी राजाओ के अनेक उदाहरण अनायास ही दृष्टि गोचर हो जाते हैं। इसके विपरीत लोभ विजयी एव असुर विजयी की भर्त्सना एव गर्हा भारतीय रणनीति की उदात्तता के द्योतक हैं।

समुचित कारण विना आक्रमण कर देना राजाओं के लिए अनुचित माना जाता है। युद्ध के पूर्व सूचना देना अपेक्षित होता है। वाली ने राम से कहा कि अकारण ही किसी पर आक्रमण कर देना अशोभनीय हैं तथा तटस्थ के प्रति युद्ध आरम्भ करना भी अनैतिक है।[3]

---

१. रघुवश—१३, ७.   २. अर्थ शास्त्र—१२, १, ११ – १३.
३. रामायण—किष्किन्धा काण्ड, १७, १५, ४४.

युद्ध मे पीठ दिखाने वाले व्यक्ति की तीव्र भर्त्सना की जाती है। सैनिक अनुशासन के अनुसार उसका वध ही समुचित रीति है।[1]

युद्ध से पराङ्मुख होकर मानने वाले अथवा मूर्च्छित प्रतिपक्षी योद्धा पर आक्रमण करना अत्यन्त गर्हणीय माना जाता है। भूमि सात् योध्दा को स्वस्थ होने एवं युद्ध के लिए उपस्थित होने की प्रतीक्षा करना आदर्श योद्धा का धर्म है।[2]

युध्द से पराङ्मुख होकर भागने से वीर की कीर्ति का नाश और अपकीर्ति का प्रसार होता है। युध्द मे सक्रिय भाग न लेने वालो, स्त्रियो, सन्धि की याचना करने वालो तथा शरणागतो का मारना पाप माना जाता है। सोते हुए, शस्त्रास्त्रो से हीन, थके हुए, मद से विह्वल अथवा स्त्रियो से परिवृत शत्रु पर आक्रमण करना अनुचित माना गया है। मद्यपान से उन्मत्त पुरुष पर प्रहार करना नीति युक्त नही है।[3]

शत्रु के समक्ष युद्ध भूमि मे शस्त्र-त्याग को वीर का दूषण कहा गया है। शत्रु के द्वारा किये गये अपमान जन्य तिरस्कार को शस्त्र त्याग कर सहन करने वाला वीर अबलाओ की भाति भीरु कहा जाता है।[4]

सामरिक अभियानो के पूर्व आक्रमण कारी सेनापति के लिए शत्रु प्रदेश के दुर्गों, प्रवेश मार्गो, नगर द्वारो की स्थिति शत्रु सेना की सख्या एव गति विधि, शत्रु के प्रतिरक्षात्मक साधन आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना अत्यन्त आवश्यक माना गया है।

भारतीय नीति परम्परा के अनुसार युद्ध के लिए नियत नियमो का पालन करना नितान्त आवश्यक माना गया है। आहत शत्रु पर प्रहार करने की घोर निन्दा की जाती है। कटि के निचले भाग मे प्रहार करना नीति के विरुद्ध है। घायल शत्रुओ को अपने घर भेज देना चाहिये अथवा वही रखकर उसे स्वस्थ होने पर मुक्त कर देना चाहिये—

> "चिकित्स्यः स्यात्स्व विषये प्राप्यो वा स्व गृहे भवेत्।
> निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्म. सनातनः।"[5]

---

१. रामायण— युद्ध काण्ड, ७५, ४२ - ४३.

२, रघुवश—७, ४७ ३. रामायण-उत्तरकाण्ड, ३२, २८-९.

४. वेणी संहार—३, ३९ ५. महाभारत—शान्तिपर्व, ९५, १३-४.

अस्त्र शस्त्रों को अमोघ बनाने के लिए उन्हे मन्त्रो से अभिषिक्त करके छोडनें की भारतीय परम्परा रही है। सब को मोहित करने वाला गान्धर्व नामक सम्मोहनास्त्र अज को अजित पद पाने के लिए दिया गया था।[1]

दूत

युद्ध टालने के लिए दूतो का उपयोग किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की स्थापना मे, सन्धि विग्रह के निर्णय मे-ये दूत महत्व पूर्ण योग देते हैं। राजा का यह प्रमुख कर्तव्य है कि वह व्यवहार कुशल, राज-भक्त एव चतुर दूतो को यथास्थान नियुक्त करे।

दूत नीति कुशल, नीति निपुण तथा निर्भीक होता है। उसे राजा के आदेशो का अक्षरश: अनुपालन करना पडता है। जो दूत स्वामी की आज्ञा की अवहेलना करके उपद्रव आदि के द्वारा अशान्ति उत्पन्न करता है, वह दूत कहलाने के योग्य नही होता।[2]

दूत के कार्य का निर्देश करते हुए हनुमान् ने कहा कि जो अपने मुख्य कार्य को सम्पादित करता हुआ साथ साथ बहुत से अन्य कार्यों को भी सिद्ध करले वही उत्तम दूत है—

"कार्ये कर्मणि निर्दिष्टे यो बहून्यपि साधयेत्।
पूर्व कार्याविरोधेन सकार्यं कर्तुमर्हति।"[3]

सुग्रीव ने राम से आग्रह किया कि उनके दूत सीता का परिचय प्राप्त करने मे पूर्ण सक्षम हैं।[4]

दूत, जो स्वामी की आज्ञा का उल्लङ्घन कर स्वय अपना मत प्रगट करता है, उसके लिए वध का विधान है।[5]

दूत अपने स्वामी का सन्देश वाहक मात्र होने के कारण पराधीन होता है; अतएव उसे अवध्य माना गया है। दूत की अपेक्षा वे वध के पात्र होते हैं, जिन्होने उसे दूत रूप मे भेजा हैं।[6]

---

१. रघुवंश—५, ५७.   २. भट्टी काव्य—६, ११६.
३. रामायण—सुन्दरकाण्ड, ४१, ५, देखिये महाभारत-उद्योगपर्व—३७, २७.
४. रामायण-युद्धकाण्ड—२०, ७.
५. वही—२०, १८-९.   ६. वही—सुन्दरकाण्ड, ५२, २१.

हनुमान् के वध के लिए उद्यत रावण को विभिषण ने परामर्श दिया कि दूत सदव अवध्य होते हैं। जो राजा दूत का वध करते हैं वे राजशास्त्र के प्रतिकूल आचरण करते हैं।[1]

विरोधी आचरण करने पर भी दूत को अवध्य ही माना जाता है।[2] दूत वध अपयश को देने वाला है।[3]

अनुचित एव अशिष्ट आचरण करने पर दूत भी दण्ड्य होता है पर उसे अङ्ग भङ्ग कर, सिर मूँडकर, कशाघात आदि के द्वारा विरूप बनाकर दण्डित करने का विधान है।[4]

दूत की स्थिति के अवध्य होने के कारण कई बार गुप्तचर भी पकडे जाने पर स्वय को दूत रूप मे घोषित कर देते है। इस प्रकार दूत बनकर वे शत्रुओ के बन्धन एव दण्डो से मुक्ति प्राप्त कर लेते है।

चर

दूतो के समान ही राज्य की शासन व्यवस्था मे गुप्तचरो का विशेष महत्व पूर्ण स्थान है। चरो के द्वारा राजा आन्तरिक विप्लव एव पर राष्ट्र सम्बन्धी रहस्य पूर्ण तथ्यो का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

शुक्र नीति मे[5] गुप्तचरो के लिए गूढचार शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका कार्य छद्म वेश मे रहकर राजा की रक्षा करने से लेकर राज कर्मचारियो एव प्रजा के भेद का परिज्ञान करना है। अर्थ शास्त्र मे[6] इन्ही को गूढ पुरुष के नाम से बोधित किया गया है। छद्म वेश धारण कर शत्रु, मित्र, प्रजा, सभी के भेदो एव षड्यन्त्रो का पता चलाकर राजा को सूचित करना इनका प्रमुख कर्तव्य माना गया है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य[7] ने गुप्तचरो के सस्था एव सचार नाम से दो भेद बताये हैं। जो एक स्थान पर ही सन्यासी अथवा कापटिक वेश मे रहकर गुप्त रहस्यो का अन्वेषण किया करते है उन्हें सस्था कहा गया है तथा जो विभिन्न देशो मे घूमकर राजा के हेतु शत्रु मित्र, आदि के रहस्य पूर्ण तथ्यो का चयन करते हैं, उन्हे सचार के नाम से बोधित किया गया है।

---

१. रामायण—सुन्दर काण्ड ६८, १४७.
२. भट्टी काव्य—६, १००.
३. दूत घटोत्कच—१, ४८.
४. रामायण—सुन्दरकाण्ड, ५२, १५.
५. शुक्रनीति—१, ३६.
६. अर्थ शास्त्र—१, ११, १-४.
७. वही—१, ११, ८-६.

समस्त प्रारम्भ किये गये कृत्यो को सम्पन्न करता हुआ राजा विशुद्ध एवं विश्वास योग्य आचरण करने वाले गुप्तचरो से शत्रु का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानने मे सफल होता है—

> "महीभृतां सच्चरितैश्चरैः, क्रिया, स वेद नि शेषमशेषितक्रिय ।
> महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभि. प्रतीयते धातुरिवेहित फलैः । [1]

गुप्तचर राजाओ का नेत्र होता है। अन्य पुरुष तो नेत्रो से वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं, पर राजा चरो के द्वारा ही राज्य की अवस्था का ज्ञान कर सकते हैं—

> "गन्धेन गाव पश्यन्ति वेदैः. पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
> चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जना." [2]

कुशल तैराक जल मे प्रवेश करके जिस प्रकार उसकी अगाधता का परिचय प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार चर भी मन्त्र आदि अठारह तीर्थों मे अवस्थित होकर शत्रु मे अनुरक्त अथवा विरक्त व्यक्तियो का ज्ञान प्राप्त कर लेते है [3]

राजा को चाहिये कि वह ऐसे गुप्तचरो को नियुक्त करे जो, दूसरो के दोषो अथवा छिद्रो को जानने मे दक्ष हो पर उनके दोष कोई न जान सके तथा जो शत्रु पक्ष के भी कपट भृत्य बनकर वहाँ और यहाँ दोनो राज्यो से वेतन प्राप्त करते हो, तथा जो परस्पर विरुद्ध कपट लेख आदि प्रस्तुत करके षड्यन्त्र के द्वारा शत्रु पक्ष मे विप्लव कराने मे समर्थ हो—

> "अज्ञात दोषै र्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः ।
> भेद्या. शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिकाः ।" [4]

यथा समय सोते हुए भी राजाओ को शत्रु प्रदेशो मे तथा मन्त्री, सेनापति आदि अपनी प्रजाओ मे भेजे गये, आपस मे अपरिचित गुप्तचरो के द्वारा निरन्तर जागरूक रहना चाहिये।[5]

गुप्तचर दो प्रकार के माने गये हैं—नागरिक गुप्तचर और सैनिक गुप्तचर।

---

१ किरातार्जुनीय—१, २०
२. महाभारत-उद्योगपर्व, ३४, ३४. ३, शिशुपाल वध २, १११.
४, वही—२, ११२. ५. रामायण—बालकाण्ड, ७,६-१०

सुग्रीव ने हनुमान् को नागरिक गुप्तचर के रूप मे ही राम और लक्ष्मण के मनोभाव जानने के लिए भेजा था। सैनिक गुप्तचरो पर दायित्व अधिक कठिन होता है। शत्रु सेना का बला-बल जानने के लिए राजा और सेनापति उन्ही पर निर्भर रहते है।[1]

राम ने चित्रकूट पर भरत से पूछा था कि क्या तुम चरो के द्वारा अपने मन्त्रियो एव अधिकारियो की गतिविधि से सुपरिचित रहते हो ?[2]

भारत के प्राचीन राजनीतिकारो ने राजतन्त्र के लिए चरो को अनिवार्य बताया है। राजा का यह प्रमुख कर्तव्य माना जाता है कि वह गुप्तचरो की नियुक्ति एवं उनके प्रति व्यवहार मे अत्यन्त अवधानता से कार्य करे। गुप्तचर राज्य व्यवस्था की आधार शिला है।

उपाय

सार्वभौम सत्ता को स्थापित करने अथवा राज्यविस्तार की कामना से युद्ध करना क्षत्रिय के लिए आवश्यक हो जाता है। भारत मे युद्ध का आश्रय अन्तिम उपाय के रूप मे ही लिया जाता रहा है। उससे पहले साम, दान और भेद की युक्तियो से इष्ट सिद्धि की चेष्टा की जाती है। इनके असफल होने पर ही दण्ड का प्रयोग किया जाना अपेक्षित है। युद्ध के द्वारा प्राप्त होने वाली विजय अस्थिर होती है।[3]

विरोधी प्रवृत्तियो को दबाने एव शत्रुओ का दमन करने के लिए इन उपायो का प्रयोग किया जाता है। असत् पुरुष अथवा शत्रु को प्रिय एवं मधुर बातो से अपने अनुकूल बनाने को साम कहते है। धन द्वारा उन्हे अपने वश मे करने को दान कहते है। भारतीय नीतिशास्त्र के अनुसार नीति के दो भेद किये हैं—तन्त्र और अवाप। तन्त्र का सम्बन्ध देश की आन्तरिक स्थिति एव व्यवस्था से होता है तथा अवाप पर-राष्ट्र से सम्बन्वित होता है। साम और दान—ये दो उपाय तन्त्र की अपेक्षा अवाप से अधिक सम्बन्धित हैं।

साम

राजा की उपाय नीति का उल्लेख करते हुए महाकवि भारवि ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि साम का प्रयोग दान के बिना नही करना चाहिये, लोभी पुरुष को वशीकृत

---

१. रघुवश—१७, ५१.

२. रामायण-अयोध्याकाण्ड, १००, ३६. ३. वही-सुन्दरकाण्ड, ४६, १५.

करने के लिए दान की आवश्यकता है। उत्तम व्यक्तियो का ही सत्कार करना चाहिये तथा उन्हे ही दान भी देना चाहिये—

"निरत्यय साम न दान वर्जितं न भूरिदान विरहय्य सत्क्रियाम्।
प्रवर्तते तस्य विशेष शालिनी गुणानुरोधेन बिना न सत्क्रिया।"[1]

राजनीति के इन चारो उपायो का उचित उपयोग होने पर वे राज्य मे पूर्ण समृद्धि एव सुव्यवस्था की स्थापना करने मे सहयोग देते हैं। यथायोग्य पात्रो मे प्रयुक्त की गयी साम, दान, दण्ड, भेद आदि नीतियाँ समुचित नियोग से सत्कृत होकर परस्पर स्पर्धा करती हुई उत्तरोत्तर वृद्धि कारिणी ऐश्वर्य राशि का सर्वकाल प्रसव करती हैं।[2]

जो व्यक्ति अपनी समाज विरोधी प्रवृत्तियो के कारण असदाचरण करता हुआ साम के द्वारा अनुकूल नही बनाया जा सकता, उसके लिए शान्ति का व्यवहार करना हानिकारक माना जाता है। वहाँ तो साम का प्रयोग न करके दण्ड का ही प्रयोग करना हितकारक है—

"चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
स्वेद्यमामज्वर प्राज्ञ. कोऽम्भसा परिषिञ्चति।"[3]

शत्रु के साथ भी सदैव साम का व्यवहार करना चाहिये। प्रिय एव मधुर भाषण करता हुआ राजा उसके हृदय को अपने अधीन कर सकता है।[4]

भेद

राजनीति मे भेद नीति पर नीति कारो का विशेष अभिनिवेश है। शत्रु के मित्रो मे भेद डाल देना तथा अपने मन्त्र एव मन्त्रिवर्ग को भेद से दूर रखना ही कुशल राजा की नीति कुशलता है। कुशल एव नीति निपुण राजा के लिए यह नितान्त अपेक्षित है कि वह विविध प्रकार के व्यक्तियो से यथोचित भेद का व्यवहार करे। नीतिकारो की यह धारणा है कि भीरु व्यक्ति को भय दिखाकर, शूर वीर को अञ्जलि बाँध कर, लोभसवृत व्यक्ति को धन देकर तथा अपने समान अथवा बल मे कुछ न्यून व्यक्ति को अपनी ओजस्विता से भेद करा दे—

"भयेन भेदयेद्भीरुं शूरमाञ्जलि कर्मणा।
लुब्धमर्थप्रदानेन सम न्युन तथौजसा।

---

१. किरातार्जुनीय— १, १२ २. वही— १, १५.
३. शिशुपाल वध— २, ५४. ४. महाभारत— शान्ति पर्व, १०३, ६.
५. वही—आदिपर्व, १४०, ५०.

शत्रु प्रदेश मे चरो के माध्यम से उपजाह उत्पन्न कराके वहाँ विप्लव मचा देना तथा शत्रु राज्य के गुप्त मन्त्र का ज्ञान प्राप्त करना राज्य की आधार शिला को सुदृढ एव सुस्थिर करता है। कपट भृत्य के रूप मे शत्रु पक्ष से भी वेतन पाने वाले गुप्त-चरो के द्वारा कपट लेख आदि से राजा को शत्रु के अन्तरङ्ग वर्ग मे भेद करा देना चाहिये।[1]

विचार विनिमय के अनन्तर निश्चित किया गया मन्त्र शत्रुओ से भेद की आशङ्का के कारण अधिक समय तक स्थिर नही रह सकता। राजा का यही प्रमुख कर्तव्य है कि वह अपने मन्त्र की शत्रु के चरो से रक्षा करे।[2]

जिस तरह अन्तर्भेद से जर्जरित नदी का तट प्रवाह से नष्ट हो जाता हैं उसी तरह शत्रु के दुर्व्यवहार से मित्र आदि प्रजावर्ग और अन्तरङ्ग अमात्मवर्ग भी भेद को प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था मे पार्श्ववर्ती राजा उस पर आक्रमण करके उसे विजित करने मे समर्थ होता है।[3]

जिसकी गुप्त मन्त्रणा बहिरङ्ग एव अन्तरङ्ग व्यक्ति नही जान सकते, वह सर्वतोमुखी दृष्टिवाला राजा स्थायी ऐश्वर्य का भोग करता है।[4]

दण्ड

दण्ड विधान, विशेषत· तन्त्र की दृष्टि से राजा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। यह धर्म का स्वरूप है और इसी के द्वारा लोक मर्यादा को भङ्ग करने वाले दुरा चारियो को दण्ड देकर धर्म की रक्षा की जाती है। जिस राजा मे दण्ड देने की शक्ति नही है, वह ससार मे शोभित नही होता तथा वह पृथिवी का उपभोग नही कर सकता। दण्ड हीन राजा की प्रजाओ को भी कदापि सुख की उपलब्धि नही हो सकती।—

"नादण्ड. क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञ. सुख विन्दन्ति भारत।"[5]

साम आदि सभी उपायो के असफल होने पर ही दण्ड का प्रयोग करना चाहिये।[6]

---

१. शिशुपाल वध--२,११३.
२. वही-२,२९,
३. किरातार्जुनीय-२,५३.
४. महाभारत—उद्योग पर्व, ३८,१५
५. वही—शान्तिपव, १४, १४,
६ रामायण-युद्धकाण्ड, ९, ८

दण्ड विधान से ही समस्त लोक की मर्यादा प्रतिष्ठत होती है। दण्ड के ही भय से लोग एक दूसरे को खा नही जाते। यदि दण्ड के द्वारा रक्षा न हो तो सब लोग घोर अंधकार मे विलीन हो जायें। दण्ड समस्त प्रजा की रक्षा का विधान करता है। सब के सो जाने पर दण्ड जागरण शील रहता है।[1]

चातुर्वर्ण्य के हित एव सुख के लिए पृथिवी पर धर्म और अर्थ की रक्षा के लिए विधाता ने दण्ड विधान की रचना की है—

"चातुर्वर्ण्य प्रमोदाय सुनीतिनयनाय च।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम्।"[2]

दण्ड पर ही सारी प्रजा अवलम्बित है, दण्ड से ही भय की सृष्टि होती है ऐसी विद्वानो की मान्यता हैं। मनुष्यो का इहलोक एव परलोक दण्ड पर ही प्रतिष्ठित है।[3]

निग्रह एव अनुग्रह को लक्ष्य मे रखकर जब राजा शासन करता है तभी लोक की मर्यादा स्थिर एव सुप्रतिष्ठित होती है।[4]

दण्ड विधान के हेतु राजा को धर्म शास्त्र का आश्रय लेना चाहिये। प्राचीन नीतिकारो के द्वारा प्रतिपादित नियमो के आधार पर वह शत्रु और मित्र मे समभाव रखता हुआ धर्म मे बाधा उपस्थित करने वाले व्यक्ति को दण्डित करे धन के लोभ से अथवा क्रोध के कारण नही प्रत्युत उसे अपना धर्म मानकर राजा को दण्ड विधान करना चाहिये।[5]

अपराधी को दण्ड न देने तथा निरपराध को दण्ड देने से राजा अपयश का भागी होता है। समुचित दण्ड की व्यवस्था के द्वारा राजा अपनी प्रजा के हृदय को वशीभूत करने मे आनायास ही सफल हो जाता है।[6]

साम आदि उपाय पूर्वक इष्ट सिद्धि मे निरत राजा प्रमादवश असफल हो जाते हैं। शयालु शिकारी अपनी लक्ष्य सिद्धि मे सफल नहीं होता।[7] इसी प्रकार यह भी सत्य है कि उत्साह रहित व्यक्ति के द्वारा आरम्भ किये हुए समस्त कार्य नष्ट हो जाते हैं तथा वह दु ख का भागी होता है।[8]

---

१. महाभारत-शान्तिपर्व, १५, २-४.
२. वही—१५, ३५.
३. वही—१५, ४३.
४. वही—वनपर्व, १५०, ४६.
५. किरातार्जुनीय—१, १३.
६. रघुवंश—४, ८.
७. शिशुपाल वध—२, ८०.
८. रामायण-युद्धकाण्ड, २, ६.

वीर क्षत्रिय के लिए धनुष, शर, शस्त्र, पराक्रम, भूमि एवं यश प्राप्त करने के अतिरिक्त और क्या अभीप्सित हो सकता है ।[1] पराक्रम शीलता मे ही राजा के समस्त गुण गण समाहित रहते है—

"सर्वैरेव गुणैर्युक्तो निर्वीर्यं किं करिष्यति ।
गुणीभूता गुणा· सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ।"

मल्ल युद्ध

मल्ल युद्ध प्राचीन भारत की सर्वाधिक प्रचलित युद्ध प्रणाली मानी गयी है जिसका बाहु-युद्ध, द्वन्द्व-युद्ध, गदायुद्ध मुष्टि युद्ध आदि अनेक नामो से उल्लेख प्राप्त होता है । रावण और सुग्रीव के बीच होने वाले सब से रोमाचकारी मल्ल युद्ध से कौन परिचित नही है ? सुवेल पर्वत के शिखर मे उछल कर सुग्रीव नगर के गोपुर की छत पर रावण के मुकुट को भूमि पर गिरा देते हैं । परस्पर घूँसे, लात के प्रहार, पञ्जो की मार आदि से होने वाला घोर युद्ध इसका सुन्दर निदर्शन है ।"[3]

भारत मे अन्तिम उपाय के रूप मे ही युद्ध का आश्रय लिया जाता रहा है । जैसा पहले कहा जा चुका है कि पहले साम, दाम और भेद युक्तियो से ही इष्ट सिद्धि की चेष्टा की जाती है तथा उनके असफल होने पर ही दण्ड का विधान किया गया है ।

प्राचीन भारत की उल्लेखनीय विशेषता है-- उस समय का सैनिक शिष्टाचार एव युद्ध विषयक नैतिकता । सैनिक वर्ग मे प्रचलित सौभ्रातृ मिलन की प्रथा के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध के समाप्त होने पर दोनो पक्ष के सैनिक पूर्व वैर भुलाकर पुन मित्रता स्थापित कर एकता, सौहार्द और आत्मीयता की स्वस्थ भावनाओ का सचार करना अपना कर्तव्य समझते थे ।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय नीति के अनुसार प्रजा का सर्वतो भावेन रञ्जन कर सभी आधि-व्याधियो से उसकी रक्षा करना राजा का सर्वोपरि धर्म है । इसके साथ ही साथ प्रजा भी राजा के प्रति पूर्ण भक्ति, आस्था एव विश्वास को अपने हृदय मे पूर्णतया प्रतिष्ठित कर राष्ट्र एव राजा के हित लिए प्राण पण से चेष्टा करती है । राजा और प्रजा का यह अन्योन्याश्रित व्यवहार देश की सुख समृध्दिका कारण होता है ।

---

१. महाभारत--सभापर्व, १६, ७ २. वही—१६, ११.

३. रामायण—युद्धकाण्ड, ४० अध्याय।

धर्म प्रधान भारत देश के समस्त कार्य कला एवं धारणाएँ पूर्णतया धर्म भावना मे ओत प्रोत एव आप्लावित है। यही कारण है कि राजा एव प्रजा के व्यवहार मे एव युद्ध नीति मे धार्मिकता को सर्वोपरि स्थान दिया गया है।

शत्रु के विषय मे विविध मान्यताओ एव यदा कदा विरोधी नीतियो का कारण परिस्थितियों की विविधता है। एक ओर जहाँ शत्रु के समूलघात करने का विधान है तो दूसरी ओर शरणागत की रक्षा करना प्रशस्य माना गया हैं। नीति की विविधता का आधार है–व्यक्तिगत विचारो की विविधता। इसके अतिरिक्त देश, काल, पात्र आदि के भेद से भी नीति की मान्यताओ में अन्तर आना नितान्त स्वाभाविक है।

राजनीति के क्षेत्र मे भारतीय नीति-शास्त्रो ने सर्वत्र मार्ग दर्शन किया है तथा वह अपनी विशिष्टता की दृष्टि से सर्वथा अनुपेक्षणीय है।

धर्म और दर्शन

उत्कृष्ट मानवीय पक्ष के साथ साथ उदात्त आदर्शों की रक्षा तथा आत्मरक्षा के लिए वीरोचित सघर्ष एव यद्ध की समीचीनता से भी भारत के प्राचीन मनीषी अपरिचित नही है।

भारत मे धर्म को सदैव महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे भौतिक वैभव, समृद्धि और कला एव विलास की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर भी उसमे पद-पद पर धर्म की सत्ता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। भारतीय जनता के आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा धार्मिक क्रिया कलापो का दिक्दर्शन सस्कृत काव्यों में स्थल-स्थल पर हो जाता है, जिनसे व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति के चरमोत्कर्ष पर पहुँच सकता है। भारतीय परम्परा मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण का मुख्य परिणाम "वसुधैव कुटुम्बकम्" की पूर्ण प्रतिष्ठा है। इसी के आधार पर भारतीय मनीषियो ने विश्व-बन्धुत्व की भावना को पल्लवित एव कुसुमित किया है। यही कारण है कि भारतीय धर्म भावना मे व्यापकता, शाश्वता एव एकरूपता पूर्ण रूप से ओत प्रोत है। वह राग द्वेष से नितान्त दूर है तथा समस्त विश्व प्रपञ्च की हित कामना को लेकर "सर्वे भवन्तु सुखिन·— मा कश्चिद् दुःखं भाग्भवेत् के आदर्श को प्रतिष्ठापित करती है। धर्म का मगल कारी स्वरूप, आर्ष ग्रन्थो में निहित धर्म भावना, तथा भारतीय ऋषि-कल्प मानव समाज का आदर्श जीवन—ये सभी भारतीय जनता के आध्यात्मिक, बौद्धिक, भौतिक एव चारित्रिक चरमोन्नति के परिचायक हैं।

यह भावना समन्वय की दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर व्यक्ति और समाज दोनो को ही समान रूप से विकसित करने वाली है। वैसे तो व्यष्टि और समष्टि मे कोई तात्त्विक अन्तर स्पष्टत. आभासित नही होता, जो वस्तु व्यक्ति की हित साधिका हो,

वह तत्त्वतः जन समुदाय के हित का भी साधन अवश्य करेगी। मूलत: इन दोनो मे कोई तात्त्विक भेद नही है।

भारत मे "धर्म" शब्द नितान्त व्यापक, महनीय एव सारगर्भित है। मानव जीवन की ऐसी कोई भी दिशा नही, ऐसा कोई भी क्षेत्र नही, जिस पर धर्म का प्रभाव साक्षात् अथवा परम्परा रूप से नही पडा हो। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि तो जिस रूप तथा मात्रा मे पशुओ मे पाये जाते है, मनुष्यो मे भी वे उसी तरह व्यापक रूप मे उपलब्ध होते हैं। मनुष्यो की विशिष्टता दिखलाने वाली यदि कोई वस्तु है तो वह धर्म है। धर्म प्राण भारतीयो का जीवन धर्ममय है। इसीलिये कालिदास ने धर्म को ही त्रिवर्ग का सार बतलाया है।[1]

"यतोऽभ्युदय नि श्रेयस सिद्धि स धर्म."[2] के अनुसार धर्म वही है, जिससे मानव मात्र का अभ्युदय हो तथा जो मगलमय होने के साथ ही साथ निरापद भी हो। वैदिक वाड्मय मे किसी वस्तु अथवा व्यक्ति मे चिरस्थायिनी वृत्ति को धर्म की सज्ञा दी गयी है। स्वभाव अथवा नित्य नियम ही धर्म का प्राचीन तम अर्थ है, व्यापक दृष्टि से यह अर्थ ही वैज्ञानिक एव पूर्णतया उपयुक्त है।

प्रस्तुत अध्ययन मे धम का यह अर्थ हमे अभीष्ट नही है। आर्ष ग्रन्थ, स्मृति ग्रन्थ एव प्राचीन मनीषियो के द्वारा निर्दिष्ट विधि विधान, जिनका चरम लक्ष्य पार--लौकिक आनन्द अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो, वे धर्म के अन्तर्गत आते है। जीवन के ऐहिक एव पारलौकिक दोनो स्वरूपो को धर्म के विस्तृत क्षेत्र मे समन्वित किया गया है। धर्म उन सिद्धान्तो, तत्त्वो तथा जीवन प्रणाली का कह सकते है, जिससे मानव जाति ईश्वर प्रदत्त शक्तियो के पूर्ण विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी एवं सुसम्पन्न बना सके, साथ ही मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जन्म मरण के प्रपञ्च से मुक्त होकर अखण्ड आनन्द का अनुभव कर सके। धर्म की यह सर्वाधिक उदार परिभाषा हो सकती है।

मीमासा के अनुसार वेद विहित यज्ञ यागादि धार्मिक कृत्यो के अनुष्ठान को ही धर्म माना जाता है। स्मृतियो मे आचार को ही परम धर्म स्वीकार किया है एव वर्ण और आश्रम के अनुसार उसकी व्यवस्था का निर्देश किया गया है। इसके अतिरिक्त मानव मात्र के आचरण के लिए सामान्य धर्म का विवेचन भी स्मृति ग्रन्थो की अमूल्य निधि है।

१-कुमारसम्भव-५,३८. २-वैशेषिक सूत्र-१,१,२.

धर्म का शाब्दिक अर्थ

धर्म के शाब्दिक अर्थ पर विचार कर लेना यहाँ समीचीन प्रतीत होता है। 'धर्म' शब्द "धृ धारणे" धातु के मप् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ धारण करने वाला होता है। प्रजा को एक सूत्र मे धारण करने के कारण ही धर्म की धर्मता है। इस प्रकार धर्म के अन्तर्गत उन शाश्वत सिद्धान्तो के समुदाय को लिया जाता है, जिनके द्वारा मानव समाज सन्मार्ग पर प्रवृत होकर एव उन्नतिशील बनकर अपने अस्तित्व को सार्थक करता है। 'सनातन धर्म' शब्द इसी अर्थ का द्योतक है।

यह अस्तित्व इस तथ्य का परिचायक है कि मानव एक जीव सम्पन्न प्राणी ही नही है। मनुष्य जीवन की उपयोगिता के वृत्त के बाहर ऐसे यथार्थो से सम्बन्ध स्थापित करता है, जिनका उसके जीवन की आवश्यकताओ से कोई विशेष सम्बन्ध नही है। वह केवल उसी परिवेश का ही ज्ञान प्राप्त करना नही चाहता, जो उसे चारों ओर से आवृत किये हुए है, प्रत्युत उसकी जिज्ञासा समस्त ब्रह्माण्ड को आच्छादित करने के लिए उत्सुक रहती है।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति मूलत एक रहस्यपूर्ण परिणति, लक्ष्य अथवा सत्ता की प्रतीति है, जो जीवन के समस्त मूल्यों का मूल आधार समझी जाती है। धार्मिक-आध्यात्मिक चेतना ईश्वरत्व तथा पूर्णत्व की विभिन्न कल्पनाओ और मानव जीवन के लक्ष्य सम्बन्धी विभिन्न धारणाओ के चिन्तन के आधार पर प्रतिष्ठित है। दर्शन प्राय. मनुष्य तथा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, कारण आदि विषयो पर विवेचन प्रस्तुत करता रहा है। मानव किसी कार्य को किस प्रयोजन से करता है अथवा उसे किन मूल्यो की प्राप्ति के लिए व्यापृत होना चाहिये आदि दर्शन की परिधि एवं परिवेश की वस्तु है। फलतः दर्शन का विषय वे क्रियाएँ, हैं जो उसके अस्तित्व का साधन न होते हुए उसके आत्मिक जीवन को विस्तार देती है। इस प्रकार दर्शन मानवीय आत्मा का वर्णनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के कारण आत्म-ज्ञान है।

'दृश्' धातु से करण मे 'ल्युट्' प्रत्यय लगाकर सम्पन्न होने वाला 'दर्शन' शब्द भी अर्थपूर्ण है। इसमे आत्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म साक्षात्कार का भाव निहित है। जीव को माया के बन्धन से मुक्त कराकर ब्रह्म के दर्शन कराना, फलत उसे परम सुख एव शान्ति की उपलब्धि कराना ही भारतीय दर्शन का मूल आधार है।

भारतीय दर्शन चिन्तन एव ज्ञान की दृष्टि से अपूर्व निधि है। अनादि काल से ज्ञानियो के द्वारा निरन्तर अन्वेषण के स्वरूप समय-समय पर प्रगट होने वाले सुन्दर एवं

बहुमूल्य रत्नो का यह विशाल सागर है। ज्ञान के तथा बाह्य जगत् के क्रमिक विकास के साथ साथ दर्शन शास्त्र भी विकसित हुआ है। दुःख की चरम निवृत्ति अथवा परमानन्द की प्राप्ति ही भारतीय दर्शन का मूल आधार है। प्रत्येक दर्शन मे इसी उद्देश्य को पूर्ण करने हेतु स्वतन्त्र रूप से परम तत्त्व का गवेषण किया है। अतएव दृष्टिकोण के भेद होने से उनमे परस्पर भेद होना नितान्त स्वाभाविक है परन्तु उनमे कोई वैमनस्य नही, परस्पर कोई विरोध नही। स्थूल दृष्टि से चाहे भेद की प्रतीति होती हो परन्तु मूलत सभी दर्शन एक सूत्र मे आवद्ध हैं, उनके पारस्परिक समन्वय एव सामञ्जस्य से सभी विद्वान् परिचित है।

जीवन की विभिन्न समस्याओ से मुक्त होकर सत्य एव असत्य, श्रेयस् एव प्रेयस्, निःश्रेयस् एव अभ्युदय, जड और चेतन, सुख और दुःख आदि तत्त्वो के रहस्यो को समझने के लिए सृष्टि के आरम्भ से ही भारतीय मनीषी अपन जीवन की समस्त शक्तियो को आत्म तत्त्व के अन्वेषण मे लगाते रहे हैं, वेद से लेकर आज तक का समस्त सस्कृत वाङ्मय जिसका साक्षी है।

यह सर्वतो भावेन माना जाता है कि जीव सुख एव दुःख के भोगने के लिए ससार मे जन्म ग्रहण करता है। इसी के साथ साथ यह भी सत्य है कि दुःख किसी को प्रिय नही है तथा इस दुःख से मुक्त होने के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। जिस क्षण जीव को दुःख से सर्वदा एव सदा के लिए मुक्ति मिल जाती है उसी क्षण वह सदा के लिए जन्म एव मरण से मुक्त हो जाता है। यही जीव का चरम लक्ष्य है तथा यही दर्शन शास्त्र का परम तत्त्व है, जिसकी साक्षात् अनुभूति क लिए दशनो का प्रतिपादन हुआ है।

धर्म एव दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध

धर्म एव दर्शन मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'अज्ञात को ज्ञात करना'—यही दोनो का चरम उद्देश्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म जन साधारण को अज्ञात तक ले जाने के लिए एक जीवन क्रम प्रस्तुत करता है तथा वह विद्वानो के द्वारा निर्दिष्ट इह लोक एव परलोक को परस्पर आबद्ध करने वाला एक मार्ग है, जिस पर चलकर जन साधारण परम शान्ति का अनुभव करते है। दर्शन ब्रह्म, जीवात्मा आदि के साक्षात्कार के प्रयत्नो का समन्वित रूप है। वैसे तो इसका सम्बन्ध गिने चुने विचार शील एव बुद्धि प्रधान मनीषियो से रहता है, तथापि इसका प्रभाव जन साधारण पर पडे बिना नही रह सकता। यही कारण हैं कि प्राचीन भारत मे धर्म एव दर्शन को एक दूसरे से सर्वथा सम्बद्ध एव ऐकमत्य से समवेत माना हैं

वेद भारतीय धर्म एवं दर्शन के प्राण हैं। भारतीय धर्म मे जो जीवन शक्ति दृष्टिगोचर होती है, उसका मूल आधार वेद है। वेद अक्षय विचारो का मान सरोवर है, जहाँ से विचार धारा प्रवृत होकर भारत भूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर प्रवाह शील रहती है, तथा अपनी सत्ता के लिए उसी उद्गम भूमि पर अवलम्बित रहती है। भारतीय धर्म तथा तत्त्व ज्ञान के आकार, प्रकार, उद्गम तथा विकास के समुचित अनुसन्धान के लिए इन ग्रन्थ-रत्नो का पर्यालोचन नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतीय धर्म, भारतीय जीवन एवं भारतीय दर्शन मे परस्पर घनिष्ठ एवं अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवन एवं दर्शन भी एक ही लक्ष्य को सामने रखकर एक हो मार्ग पर साथ साथ चलने वाले पथिक हैं। उस चरम तत्त्व का सैद्धान्तिक रूप जब दर्शन शास्त्रो की निधि है तो उसके व्यावहारिक रूप की उपलब्धि जीवन मे ही मिल सकती है। दुःख का आत्यन्तिक नाश अथवा जन्म एवं मरण से सदा के लिए मुक्त होना ही सभी का चरम लक्ष्य हैं। इस प्रकार चरम दुःख की निवृत्ति अथवा परमानन्द की प्राप्ति को ही मोक्ष को सज्ञा दी जाती हैं। इसी को परमात्मा, परब्रह्म, आत्मा या ब्रह्म कहा जाता है। यही है 'देखने का विषय'। अतएव 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' का श्रुति में प्रतिपादन किया गया है।

धार्मिक या आध्यात्मिक अनुभूति की विषय भूत सत्ता मे कारण शक्ति निहित रहती है तथा धार्मिक जीवन में उस चरम लक्ष्य के प्रति एक मनोभाव विद्यमान रहता है। यह सर्व विदित सत्य है कि भारत के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो मे मोक्ष की विभिन्न धारणाएँ दृष्टि गोचर होती हैं। जीवन का धार्मिक एवं आध्यात्मिक लक्ष्य मानव जीवन की उच्चतम सम्भावना है। संसार के प्रायः सभी दार्शनिको ने इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया है कि परम ब्रह्म अथवा ईश्वर अवर्णनीय है, अर्थात् उसकी भावात्मक विशेषताओ का सकेत नहीं पाया जा सकता। इस प्रकार का उल्लेख उपनिषद् ग्रन्थो मे स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है। नेति—नेति के द्वारा उसकी अनिर्वचनीयता एवं सर्व व्यापकता का परिचय प्राप्त होता है।

आरम्भ से ही, धर्म प्राण होने के कारण, भारत मे सभी ज्ञान विज्ञानो का जन्म धर्म की गोद मे हुआ है। नीति भी इसका अपवाद नही है। लोक व्यवहार के साथ ही साथ जब नीति आत्मा परमात्मा के क्षेत्र मे पदार्पण करती है तभी उसकी 'धर्म' सज्ञा हो जाती है।

उक्त विवेचन धर्म एवं नीति के सम्बन्ध पर पूर्ण प्रकाश डालता है। यही

कारण है कि समाज के आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं धार्मिक क्रिया कलापो का अकन सस्कृत वाङ्मय मे स्थान-स्थान पर मिलता है ।

धर्म

धर्म भावना मानव मे चिर स्थायिनी वृत्ति है । धर्म के अनुपालन पर भारतीय नीतिकारो का अत्यधिक अभिनिवेश है । धम ही प्रजा को सुप्रतिष्ठित एव सुव्यवस्थित रखता है । मर्यादा हीन व्यक्ति समाज मे कलक के समान होता है । भारतीय सस्कृति, जीवन, कला, ज्ञान, विज्ञान आदि सभी धर्म पर ही आधारित हैं । धर्म के सम्बन्ध मे सीता की उक्ति धर्म के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती है। इस विश्व प्रपञ्च का सार धर्म ही है ! धर्म से अर्थ, काम, सुख तथा अन्य सभी आकाक्षाओ की पूर्ति होती है ।[1]

धर्म को सतत प्रवाहशील स्रोतस्विनी कहा गया है, जो ससार के समस्त पिपासु जनो को अमृतमय जल का पान कराती है ।[2] प्रवृत्ति धर्म एव निवृत्ति धर्म के भेद से धर्म दो प्रकार का माना गया है । प्रवृत्ति धर्म के द्वारा मानव सुख और आनन्द प्राप्ति की अभिलाषा करता है पर निवृति धर्म मानव को मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर करता है। निवृत्ति धर्म को प्रवृत्ति धर्म से अधिक श्रेयस्कर माना जाता है ।[3]

'मुण्डे - मुण्डे मतिर्भिन्ना' के अनुसार धर्म के नानाविध स्वरूपो मे से तत्त्व की उपलब्धि सहज कार्य नही है । अत मनुष्य को चाहिये कि वह स्वय मनन, चिन्तन, शम एव तप आदि के द्वारा धर्म के तत्त्व के अन्वेषण का प्रयास करे ।[4] धर्माचरण के हेतु जीवन दान को भी श्रेयस्कर कहा जाता है। ससार का वियोग अवश्यम्भावी है अत. ससार से विमुक्त होकर धर्म तत्त्व का स्वयं ही खोजना ही हितकर है।[5] धर्म के सम्बन्ध मे प्राचीन मनीषियो को यह धारणा है कि धर्म की रक्षा करने से वह रक्षा करता है तथा उसके विरुद्ध आचरण करने से वह नाश करता है ।[6] सामान्य रूप से प्राय यह कहा जाता है कि धर्म के कारण मृत्यु प्राप्ति भी पाप के द्वारा विजय लाभ की अपेक्षा महनीय है ।[7] धर्म के विरुद्ध आचरण करके युद्ध मे विजय लाभ करना अकीर्ति एवं अपयश की अभिवृद्धि करता है। वह विजय अस्थिर एव स्वर्ग का बाधक है तथा वह

---

१. रामायण—अरण्य काण्ड, ६, ३०.
२. बुद्ध चरित—१, ७१.
३. वही — ७, ४८.
४. वही — ६, ७३.
५. वही—५, ३८.
६. महाभारत—वनपर्व, ३१३, १२८.
७. वही—शान्तिपर्व, ९५, १७.

राजा और प्रजा को अत्यन्त दु ख एव अशान्ति के गर्त मे गिरा देने वाला है।[1]

श्रद्धा को धर्म वृद्धि का कारण कहा गया है। इसके बढने से धर्म वैसे ही वृद्धिङ्गत होता है जैसे मूल के बढने से वृक्ष।[2]

अश्वघोष की यह धारणा है कि परिश्रम आदि करने पर भी मानव के लिए अभीष्ट सिद्धि सन्दिग्ध ही रहती है परन्तु धर्मानुकूल आचरण करने पर वह यथा काम वस्तु को सरलता से प्राप्त कर सकता है।[3]

रक्षा करना रक्षक का शाश्वत धर्म है। रक्षक ही यदि भक्षक के समान आचरण करता है तो वह महान् अधम का सृजन करता है। अश्वमेधीय अश्व की रक्षा करने वाले रघु ने इन्द्र के यज्ञ बाधक कार्य की निन्दा की और कहा कि यदि धर्म रक्षक स्वय ही धर्माचरण मे विघ्न उपस्थित करे तो लोक से सत्कर्म की कथा ही लुप्त हो जाती है।[4]

प्राचीन ऋषि मुनियो ने धर्माचरण करने का समय निश्चित कर दिया है। यौवन काल मे बुद्धि अस्थिर रहती है, अत धर्माचरण मे अनेक दोषो की सम्भावना बनी रहती है। वार्धक्य ही धर्माचरण का समुचित समय है।[5]

गृहस्थ जीवन का आश्रय लेकर यौवन के नानाविध सुखो एवं आनन्दों के उपभोग करने के अनन्तर ही धर्म के लिए तपोवन मे प्रवेश करना श्रेयस्कर माना जाता है।[6]

ज्ञान के अभाव में युवा पुरुष अनेक सकटो एव विपत्तियो से अभिभूत होकर धर्माचरण रूप कार्य से पतित हो सकता है। यौवन मे मनुष्य की प्रवृत्ति विषय सुख की ओर रहती है। चित्त की चञ्चलता, एकान्त प्रदेश की अनभिज्ञता तथा व्रत आदि क्लेशों की असहिष्णुता के कारण उसका चञ्चल चित्त चलायमान हो जाता है।[7]

अधर्माचरण करने के कारण ही हनुमान् रावण को इन्द्र के सिंहासन के योग्य नही मानते।[8]

---

१. सौन्दरनन्द— ६६, २.
२. वही— १२, ४१.
३. वही— १०, ६२.
४. रघुवश—३, ४५.
५. बुद्ध चरित— ५, ३०
६. वही— ५, ३३.
७. बुद्ध चरित— ५, ३१.
८. रामायण-सुन्दरकाण्ड, ४६, १८.

धर्म के विरुद्ध आचरण कर लोक मर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले पुरुष का वध ही समीचीन है। जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन, अथवा अनुज वधू के साथ काम बुद्धि से अभिगमन करता है उसका उचित दण्ड वध ही है। सुग्रीव की पत्नी रुमा के साथ उपभोग करते रहने के कारण बालि वध को नीति सङ्गत कहा गया है—

"औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य ।
प्रचरेत नर. कामात्तस्य दण्डो वध· स्मृत. ।"[1]

बल एव साहस पूर्वक परस्त्री-हरण एवं परदाराभिगमन राक्षसो का धर्म कहा गया है।[2] हनुमान् रावण से धर्म संगत आचरण करने के लिए आग्रह करते हुए कहते है कि धर्म विरोधी कार्य सर्वथा अनर्थों के मूल कारण है तथा उनका परिणाम सर्वनाश है।[3] राम का यह आग्रह कि वह धर्म के प्रतिकूल आचरण करके इन्द्र पदवी की भी अपेक्षा नही करते – मानव के चरम आदर्श को प्रतिष्ठापित करता है—

"नेय मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।
नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ।[4]

महर्षि व्यास ने इस धारणा को व्यक्त किया है कि धर्म का नियमन लोक यात्रा के लिये किया गया है। धर्म के कारण इहलोक एव परलोक—दोनो स्थानो पर सुख और आनन्द की उपलब्धि होती है।[5] दान, प्राणि-दया, ब्रह्मचर्य, सत्य अहिंसा, धर्य, तथा क्षमा का अनुपालन करना सार्वभौम धर्म का सनातन मूल है।[6] सुख का वर्धक होने के कारण धर्म को वृष कहा है।[7] मृत्यु अवसर को प्रतीक्षा नही करती। मनुष्य मृत्यु के मुख मे सदैव रहता है अत धर्माचरण करना सदा ही शोभनीय है।[8] धर्म नित्य है इसका त्याग अपेक्षित नही। काम वासना से, भय से, लोभ से तथा जीवन के लिए भी धर्म का त्याग नही करना चाहिये। धर्म नित्य है, सुख दु ख अनित्य, जीव नित्य है शरीर धारण करने का हेतु अनित्य।[9]

आशय यह है कि धर्म से व्यक्ति एव समाज की रक्षा होती है। अतएव उसका अनुसरण कष्ट सह कर भी करना चाहिये।

---

१. रामायण-किष्किन्धा काण्ड, १८,२२—२३.
२. वही-सुन्दर काण्ड, २०,५.
३. वही-५१,१८.
४. रामायण—अयोध्याकाण्ड,९७,७.
५. महाभारत—
६. वही—आश्वमेधिक पर्व, ९१,३३-३४
७ वही—शान्ति पर्व,३४२, १८,
८. वही—शान्तिपर्व, २९८,१७.
९. वही—स्वर्गारोहण पर्व ५,६३.

यो तो धर्म मुख्यत. आत्मिक उन्नति का साधन माना जाता है पर उसके आदेश-निर्देश दैहिक अथवा भौतिक कल्याण के भी विरोधी नही होते। राम का कथन है कि शरीर और आत्मा इन दोनो के कल्याण साधनों मे कोई विरोध नही है, जिस प्रकार एक ही भार्या पति के वश मे होकर धर्म का, प्रियतमा बनकर काम का और पुत्रवती बनकर अर्थ का सम्पादन करती है उसी प्रकार एक धर्म के फल की प्राप्ति होने पर धर्म, अर्थ और काम तीनो की सिद्धि हो जाती है।[1]

यज्ञ-याग, दान-दक्षिणा, तप-त्याग, व्रत-नियम, पूजा-स्वाध्याय आदि निसन्देह धर्मिष्ठ जीवन के मुख्य लक्षण हैं तथा उनका अनुष्ठान मानव व्यक्तित्व के लिए सर्वाङ्गीण उत्कर्षकारी है।

प्रह्लाद की तरह विभीषण में धर्म का उज्ज्वल एव असामान्य पक्ष परिलक्षित होता है। जन्म गत कुसस्कारो, राजा, सम्बन्धियो तथा स्वदेश प्रेम की नैसर्गिक किन्तु सकुचित सीमाओ से उनका आदर्श नियन्त्रित नही रहा तथा उन्होने न्याय, औचित्य एवं सत्य का पक्ष ग्रहण किया। धर्म का समुज्ज्वल रूप, भरत और लक्ष्मण मे, राम के प्रति निश्छल ममत्व, भक्ति और भ्रातृ प्रेम के रूप मे प्रगट हुआ है। एक ओर जब लक्ष्मण रात - रात भर जागकर वनवास मे राम के रक्षक एव सेवक बनकर उन्ही के कल्याण साधन को अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष का सर्वश्रेष्ठ मार्ग मानते रहे, तो दूसरी ओर भरत ने भी ऐसे ही भावो से प्रेरित होकर अपनी माता की कडी भर्त्सना की, स्वेच्छा से तपस्वी का वेश धारण किया और राम की पादुकाओ को उनका प्रतिनिधि उन्हीं के आदेश से मानकर अनासक्ति पूर्वक राज्य के शासन का सञ्चालन किया।

राम के सम्बन्ध मे यह तथ्य बडे ज्वलन्त एव विशद रूप से प्रस्तुत किया गया है कि राम धर्म के विविध रूपो के मूर्तिमान् विग्रह थे।[2]

धर्म के हेतु सर्वस्व त्याग करने की क्षमता मे राम की श्रेष्ठता निहित है। आदर्श की सेवा के लिए किस प्रकार समस्त स्नेह और ममता, भक्ति और वात्सल्य, सुख और सौभाग्य और समस्त प्रियजनो को भी त्याग देना होता है। यह आदर्श प्रतिष्ठित करने के हेतु राम का जीवन चिरकाल के लिए इसका दीप स्तम्भ बना हुआ है। मानव होते हुए भी राम ने मानवीय दुर्वलताओ से ऊपर उठकर मानव मे अन्तर्निहित ईश्वरीयता एव अलौकिकता का उद्घाटन किया। धर्म अथवा आदर्श की इस कठोर परिभाषा को स्पष्ट करने में ही राम की अलौकिकता निहित है।

---

१. रामायण—अयोध्याकाण्ड, २१, ५७. २. वही—अरण्य काण्ड, ३७, १३.

ईश्वर

सस्कृत काव्यो मे ईश्वर विषयक अनेक सकेत दृष्टिगत होते हैं। वह प्राणिमात्र का जन्म दायक, पालन पोषण करने वाला तथा अन्त मे सहार कर्ता भी है। ब्रह्म अथवा कर्तृत्व शक्ति के ये तीन प्रतिमूर्ति माने गये हैं। समष्टि और व्यष्टि दोनो रूपो मे उन्हें अज अनादि, सर्व व्यापक, सर्व भूतात्मा आदि विशेषणो से बोधित किया गया है। वे ही समस्त विश्व प्रपच के उन्नति अथवा अवनति के कारण हैं तथा विश्व का क्रम उन्ही के इङ्गित के आधार पर चलता है।

ईश्वर के तात्त्विक स्वरूप का सम्यक् ज्ञान तो बुद्धि के अतीत' अस्ति नास्ति' मे निहित है परन्तु जो दृश्यमान स्वरूप है उसमे भी निश्चय करना सहज नही। ईश्वर की विविधता एव विचित्रता के कारण उसका ज्ञान साधारण प्राणी के लिए अगोचर है। वह पितरो का पितर है, देवताओ का अधिदेव है पर से भी परतर[3] तथा दक्ष आदि प्रजापतियो का स्रष्टा है। वह हव्य है वह ही हवन करने वाला है, वह भोक्ता है और वही भोज्य पदार्थ है, वह ज्ञान है और वही ज्ञाता है तथा वही ध्यान है और वही ध्यान करने वाला।[4]

ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता के कारण उसके आचरण मे साधारण व्यक्ति को परस्पर विरोध सा प्रतीत होता है। वह अजन्मा होते हुए भी जन्म ग्रहण करने वाला है, निश्चेष्ट होने पर भी शत्रु का सहार-कर्त्ता है, जागरूक होने पर भी योग निद्रा मे शयन करने वाला है।[5]

वह अनादि एव अनन्त है तथा समस्त ससार मे मगलमय रूप को लेकर उदित होता है। प्राणिमात्र का कल्याण करना उसका चरम लक्ष्य है। नानाविध पापो का सहार करके प्रचुर मगल के लिए वह कल्याण राशि का वितरण करता है।[6]

देवता वाद

मानव जाति के इतिहास मे देवता का सदा से विशिष्ट स्थान रहा है। मूल मे देवता वाद मनुष्य के आदर्शवाद का ही नामान्तर है। बलवती प्राकृतिक शक्तियो और

---

१. कुमार सम्भव—६, २३.
२. रघुवश—१०, २०.
३. कठोपनिषद्—१, ३, १०—११.
४. कुमार सम्भव—२, १४—१५,
५. रघुवंश—१०,२४.
६. मालती माधव—१, ५.

घटनाओ के समक्ष अपने को दुर्बल एव असमर्थ पाकर क्षण भगुर जीवन वाला मानव अपने समक्ष ऐसे आदर्शों को प्रस्तुत करता है, जिनसे वह समय पर अपने जीवन मे सान्त्वना, प्रेरणा तथा शान्ति प्राप्त कर सके। यही कारण है कि प्रत्येक जाति के देवताओ के स्वरूप मे उस जाति के अपने आदर्शों की अनुरूपता स्पष्टतया प्रतिबिम्बित होती है।

यास्क ने निरुक्त के दैवत काण्ड मे देवता के स्वरूप का विवेचन अत्यन्त स्पष्ट शब्दो मे किया है। इस जगत् के मूल मे एक ही महत्त्व शालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्य शालिनी होने से देवता कहलाती है वह एक अद्वितीय है, उसी एक देवता की नाना रूपो में स्तुति की जाती है।[1]

सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है। प्रकृति की कार्य परम्परा के मूल मे एक ही सत्ता है, एक ही देवता है, अन्य सकल देवता इसी मूल भूत सत्ता के अङ्ग मात्र हैं। वे उसी को नाना शक्तियो के प्रतीक हैं।

"द्योतनात् देवता" के अनुसार कान्तिमान् ऐश्वर्य शक्ति से परिपूर्ण शक्ति को ही देवता कहा गया है। अभीष्ट फल देकर मानव समाज का हित सम्पादन करना उनका परम लक्ष्य है।

विधाता ने देवताओ की इच्छा पूर्ति के लिए कामधेनु एव मनुष्यो की अभीष्ट सिद्धि के लिए देवताओ के परितोष की सर्जना की। मानव मात्र अपनी अभीप्सित प्राप्ति के लिए देवताओ के परितोष प्राप्त करने की अपेक्षा करता है।[2] कल्प वृक्ष के समान देवताओ को इच्छा पूर्ति का साधन माना जाता है। देवता कल्प वृक्ष का वन है, चारो ओर प्रदक्षिणा ही उनका थाँवला है, चन्दन आदि का लेप एव धूप आदि समर्पण ही जिसका जल सिञ्चन है तथा विविध फल ही नानाविध इष्ट सिद्धि के सम्पादक हैं।[3] आत्म प्रकाश से युक्त तथा तेजोमय शरीर को प्राप्त करने वाले देवगणो को सासारिक कर्म शुभाशुभ फल के वन्धन मे आवद्ध नही करते।[4] देवताओ का अद्वितीय एव अद्भुत प्रभाव माना जाता है। वह मानव क्षमता के परिवेश से वाहर है।

नन्दिनी पर आक्रमण करते हुए सिंह पर प्रहार करने के लिए इच्छा करने वाले दिलीप के जडीकृत होने का कारण देवादिदेव महादेव का प्रभाव ही वताया गया

१-निरुक्त—दैवतकाण्ड, ७,४, ८-९.
२--नैषध चरित- १४,१.
३--वही--१४,२.
४--वही--२२, ११८.

ईश्वर

संस्कृत काव्यो मे ईश्वर विषयक अनेक सकेत दृष्टिगत होते हैं। वह प्राणिमात्र का जन्म दायक, पालन पोषण करने वाला तथा अन्त मे सहार कर्ता भी है। ब्रह्म अथवा कर्तृत्व शक्ति के ये तीन प्रतिमूर्ति माने गये हैं। समष्टि और व्यष्टि दोनो रूपो मे उन्हें अज अनादि, सर्व व्यापक, सर्व भूतात्मा आदि विशेषणो से बोधित किया गया है। वे ही समस्त विश्व प्रपच के उन्नति अथवा अवनति के कारण हैं तथा विश्व का क्रम उन्ही के इङ्गित के आधार पर चलता है।

ईश्वर के तात्त्विक स्वरूप का सम्यक् ज्ञान तो बुद्धि के अतीत' अस्ति नास्ति' मे निहित है परन्तु जो दृश्यमान स्वरूप है उसमे भी निश्चय करना सहज नही। ईश्वर की विविधता एव विचित्रता के कारण उसका ज्ञान साधारण प्राणी के लिए अगोचर है। वह पितरो का पितर है, देवताओ का अधिदेव है पर से भी परतर[3] तथा दक्ष आदि प्रजापतियो का स्रष्टा है। वह हव्य है वह ही हवन करने वाला है, वह भोक्ता है और वही भोज्य पदार्थ है, वह ज्ञान है और वही ज्ञाता है तथा वही ध्यान है और वही ध्यान करने वाला।[4]

ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता के कारण उसके आचरण मे साधारण व्यक्ति को परस्पर विरोध सा प्रतीत होता है। वह अजन्मा होते हुए भी जन्म ग्रहण करने वाला है, निश्चेष्ट होने पर भी शत्रु का सहार-कर्त्ता है, जागरूक होने पर भी योग निद्रा मे शयन करने वाला है।[5]

वह अनादि एव अनन्त है तथा समस्त ससार मे मगलमय रूप को लेकर उदित होता है। प्राणिमात्र का कल्याण करना उसका चरम लक्ष्य है। नानाविध पापो का सहार करके प्रचुर मगल के लिए वह कल्याण राशि का वितरण करता है।[6]

देवता वाद

मानव जाति के इतिहास मे देवता का सदा से विशिष्ट स्थान रहा है। मूल मे देवता वाद मनुष्य के आदर्शवाद का ही नामान्तर है। बलवती प्राकृतिक शक्तियो और

---

१. कुमार सम्भव—६, २३,
२. रघुवश—१०, २०.
३. कठोपनिषद्—१, ३, १०—११.
४. कुमार सम्भव—२, १४—१५,
५. रघुवंश—१०,२४.
६. मालती माधव—१, ५.

है।[1] देवताओं का अन्य समाधि भीरुत्व अति विख्यात है। किसी की तपश्चर्या एव साधना से भयभीत होकर अप्सरा रूपी अमोघ अस्त्र का प्रहार उनका प्रमुख जीवन क्रम है।[2] वैदिक देवतावाद प्राकृतिक शक्तियो के साथ मनुष्य जीवन के सामीप्य का ही नही अपितु तादात्म्य का भी प्रतिपादन करता है। वे परस्पर पूर्ण सामजस्य से काम करते हुए समस्त चराचर जगत् की न केवल प्राकृतिक व्यवस्था 'ऋत", अपितु नैतिक व्यवस्था "सत्य" के भी पोषक एव सरक्षक हैं। उनकी समस्त प्रवृत्तियां जगत् के भद्र और कल्याण के लिए हैं।

विश्व मे सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा एव नियमन का कारण भूत तत्त्व यही 'ऋत" ही है। 'ऋत' का अर्थ है 'सत्य अविनाशी सत्ता'। अपरिमित रूप से 'कृत' को प्रदान करने वाला गुरु कहा जाता है। जो विद्वान् व्यक्ति परमादरणीय, ऋत रूप अमृत का दान करने वाले एव निधियो के भी निधिरूप गुरु की अर्चना एव आदर सम्मान नही करने, वे नरक के भागी होते हैं।

गुरु

गुरु शब्द से 'महान्' अर्थ का बोध होता है। जो शिक्षा दीक्षा प्रदान करके मनुष्य को लोक व्यवहार एव शिष्ट आचरण के योग्य बनाता है, वह गुरु शब्द के द्वारा बोधित होता है। वह एक प्रकाश पुञ्ज के समान है जहाँ से अनेक व्यक्ति प्रकाश ग्रहण करते हुए विश्व को आलोकित करते है।

गुरु का दर्शन भी समस्त अभीष्ट फलो का प्रदाता है। वह श्री की वृद्धि करता है, पापो को निर्मूल करता है, कल्याण की वर्षा करता है तथा कीर्ति का विस्तार करता है।[3] गुरु जनो के द्वारा प्रदर्शित मार्ग मे सतत प्रवतमान मानव सदैव नानाविध कष्टो एव विपत्तियो से मुक्त रहता है। आशय यह है कि जो पहले औषध के समान कटु होने पर भी गुरु के हित वचनो को नित्य सुनता रहता है और उसके लिए उनकी सेवा करता है वह कदापि दुःख का भागी नही होता।[4]

नीति विज्ञो की धारणा है कि गुरु की कृपा से मन का अज्ञान दूर हो जाता है। जिसके कारण स्वरुप तमोगुण से रहित होकर मनुष्य' सत्व' आचरण करता हुआ अखण्ड

---

१. रघुवश—२, ३४. २. वही—१३, ३६.
३. किरातार्जुनीय—३, ७. ४. भट्टी काव्य—१८, ७.

आनन्द का अनुभव करता है। 'देखने की इच्छा वाले व्यक्ति को ज्योति, यात्रा करने की इच्छा वाले को मार्ग दर्शक, तथा तैरने की इच्छा वाले व्यक्ति को नाव के समान गुरु के दर्शन अत्यन्त रुचिकर एव हित कारक है।[2]गुरु की अनुकम्पा से अभिलषित कार्य सिद्धि अनायास ही हो जाती है। जब गुरु स्वय ही हित चिन्तन मे सदैव निरत रहते हैं तो सम्पत्ति निरापद होकर अविच्छिन्न रहती है। अनिष्ट की आशका तो कदापि नही रहती।[3] ऐसे गुरु के घर पर आने पर मानव स्वय को कृतकृत्य समझता हुआ उनकी सेवा के हेतु उपस्थित हो जाता है। भक्ति से ओत प्रोत होकर शिष्य उनकी अभ्यर्थना मे सर्वस्व को प्रस्तुत कर देता है।[4]

उपर्युक्त अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि गुरु का भारतीय समाज मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। गुरु भक्ति के आदर्श से भारतीय साहित्य पूर्णतया आप्लावित हैं।

ऋषि

गुरु के समान ही भारतीय परम्परा मे ऋषि का स्थान है। 'ऋषि' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है- द्रष्टा' अर्थात् मन्त्रो का दर्शन करने वाला। मन्त्रो में निहित अर्थ अथवा तत्व को अपनी अध्यात्म दृष्टि से पूर्णतया विवेचन कर जनता के समक्ष उसे प्रस्तुत करने वाले मनीषियो को 'ऋषि' कहा जाता है। यास्क ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है कि ऋषियो ने मन्त्रो का दर्शन किया।

ऋषियो का कोमल स्वभाव होना एक शाश्वत सत्य माना जाता हैं। इसके अपवाद भी कुछ दृष्टिगत हो जाते हैं परन्तु वे मुनिवृति को दूषित करने वाले गर्हणीय कहे जाते हैं। तपोवन मे निवास करने वाले पितृ तुल्य ऋषियों की शरणागतवत्सलता एक नितान्त स्वाभाविक गुण है। ध्यान से, सीता को मिथ्या लोकापवाद के कारण पति द्वारा परित्यक्ता समझ कर महर्षि वाल्मीकि ने अपनी पुत्री के समान मानकर उसे सर्वविध विपतियो से आश्वस्त कर दिया था।[5]

अश्वघोष ने, कही भी वृक्ष के नीचे, एकान्त में, मन्दिर मे, पर्वत पर अथवा वन मे निस्पृहता पूर्वक निवास करते हुए जो भिक्षा मिले उससे जीवन निर्वाह कर परमार्थ के लिए विचरण करना मुनि का कर्तव्य बताया है।[6]

---

१. कुमार सम्भव—६, ६०.
२. बुद्ध चरित—१२, १३.
३. रघुवश—१, ६४.
४ बुद्ध चरित—१, ५३
५. रघुवश—१४, ७२.
६. बुद्ध चरित—५, १६.

ऋषि एवं मुनि कठोर तपश्चर्या मे निरत होकर अपार एवं अतिशयित सिद्धि को प्राप्त करते हैं। तपोवन के फल मूल उनके भोजन होते हैं तथा वृक्ष की छाया ही उनका आश्रय है। उन्हे किसी अन्य वस्तु की स्पृहा नही रहती, यदि रहती है तो वह है- ससार की सुख और शान्ति की तथा लोक कल्याण की।[1]

केवल मृगचर्म अथवा वल्कल वस्त्र धारण करने का तपस्वियो के लिए विधान है।

तपस्वी

तपोनिष्ठ ऋषि गण आचरण से अत्यन्त धीर, आश्रम मे सुलभ फलो को पाकर सन्तुष्ट रहने वाले और वल्कल वस्त्र का परिधान करने वाले अतिशयित मान सम्मान के योग्य होते हैं। धर्मानुकूल व्यवहार करने वाले व्यक्ति उनके धर्म कार्य मे कदापि बाधा उपस्थित नही करते।[2] सासारिक बाधाओ एव सकटो से मुक्त होने के लिये तपस्विगण तपोवन मे आकर निवास करते हैं। तपोवन मे इन पर बन्धन लगाना अथवा किसी अन्य प्रकार से इनके तप मे बाधा उपस्थित करना निन्दनीय कर्म माना जाता है।[4] धर्म निष्ठ राजा गण तपस्वियो को दान देकर स्वयं को अनुगृहीत करना चाहते थे। अभीप्सित वस्तु को देकर वे स्वय को कृत कृत्य मानते थे।[5] परन्तु तपस्वियो की निस्पृहता एवं निर्लिप्तता एक शाश्वत सत्य है। वन मे अनायास प्राप्त होने वाले जीवन यापन के साधनो को प्राप्त कर ही वे सन्तोष का अनुभव कर लेते थे ?[6]

शास्त्रो के अनुसार वन अथवा जल मे उत्पन्न हुआ मुनिधान्य, वृक्ष के पत्र, फल, कन्द, मूल आदि मुनियो के जीवन यापन के साधन कहे जाते है।[7] तपस्वी गण मुक्ति की प्राप्ति के लिये सदैव सचेष्ट रहते हुये परम पद को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अपने एव पराये व्यक्तियो मे सम भाव से आचरण करते हुये वे विषय वासनाओ से राग द्वेष रहित होकर मगलमय अक्षय पद की अन्वेषणा मे निरत रहते हैं।[8]

यज्ञ विधान तपस्वियो की तपश्चर्या का एक अंग माना जाता है। सौ अश्वमेध यज्ञो के अनुष्ठान कर लेने पर कोई भी व्यक्ति इन्द्र पदवी के प्राप्त करने का अधिकारी

१-उत्तररामचरित-१, २५.
२-किरातार्जुनीय-११, १५.
३-स्वप्नवासवदत्त-१,३.
४-स्वप्न वासव दत्त, १,५.
५-द्रष्टव्य--स्वप्नवासवदत्ता-१,८.
६-स्वप्न वासव दत्त-१, ६६
७-बुद्ध चरित--७,१४.
८-वही-५, १८.

बन जाता था। यही कारण है कि इन्द्र को 'शतक्रतु' के नाम से बोधित किया जाता है।[1] निरन्तर तपोनिरत तपस्विगण जितेन्द्रिय होकर विविध प्रकार के कष्टों के द्वारा तपः साधना करते थे। नानाविध कष्टों का भोग कर तपः साधना करना उनके तप को उज्ज्वल एवं दीप्ति युक्त बनाता था।

हृदय से अत्यन्त कोमल, पर नाम से सुतीक्ष्ण की तपश्चर्या का निरूपण करते हुये राम ने उनके पञ्चाग्नि सेवन की ओर इंगित किया है।[2]

अश्व घोष की यह धारणा है कि राग से भय एवं वैराग्य से परम कल्याण जानकर तपस्वी को इन्द्रियों एवं मन को वश में करने का प्रयास करना चाहिये।[3] उत्कृष्ट तप के आचरण से मनुष्य स्वर्ग-लाभ करता है, पर कुछ न्यून तप के द्वारा वह मृत्यु लोक में आनन्द प्राप्ति करता है। दुःख के द्वारा सुख की प्राप्ति होती है तथा सुख ही धर्म का कारण है।[4] तप के फल के द्वारा असम्भाव्य वस्तु के प्राप्त करने का उल्लेख भी संस्कृत काव्यों में उपलब्ध होता है।[5] तपश्चरण की महिमा का दिक् दर्शन संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि हैं। तप के द्वारा विश्वामित्र ने दिव्यास्त्र प्राप्त किये थे। अर्जुन ने पाशुपतास्त्र, कर्ण ने शक्ति आदि-ये तप की महिमा का ही प्रतिपादन करते हैं।

तपोवन

तपस्या एवं तपस्वियों का आश्रय स्थान होने के कारण तपस्वियों के द्वारा अधिष्ठित अरण्य प्रदेश को तपोवन के नाम से व्यवहृत किया जाता है। तपोवन में भय कारण न होने से वहां के पशु पक्षी आदि विश्वास से आश्वस्त होकर सानन्द विचरण करते हैं। वृक्ष की शाखाएँ दयालु ऋषि मुनियों से दया पाकर पुष्प और फलों से ओत प्रोत रहती हैं। गायें स्वेच्छा पूर्वक चरती हुई दृष्टि गोचर होती है; दिशाओं में कहीं भी खेत दृष्टि पथ में नहीं आते तथा यथावसर विविध स्थानों से अग्नि होत्र का धूआँ निकलता हुआ दिखाई पड जाता है।[6]

तपोवन का विशिष्ट प्रभाव महाभारत में अनायास ही दृष्टि गोचर हो जाता है। वहाँ कोई वृक्ष पुष्प हीन नहीं है, न फल रहित है और न कण्टकों से आवृत तथा उस

---

१. रघुवंश-३, ४९. २. वही—१३,४१.
३. बुद्ध चरित—१२, ४८. ४. वही—७, १८.
५. कुमारसम्भव—६, १६. ४. स्वप्नवासवदत्त—१, १२.

तपोवन मे कोई भी वृक्ष भ्रमरो से रहित भी नहीं है।[1] तपोवन मे बिना किसी अभ्यर्थना के जीवन निर्वाह की समस्त सामग्रिया अनायास ही उपलब्ध हो जाती हैं। घास की जहाँ शय्या है, शीतल शिला जहाँ आसन है, पीने के लिए जहाँ निर्झर का शीतल जल है; भोजन के लिए जहाँ मूल और फल है, तथा मृग जहाँ मित्र गण हैं।[2]

श्री हर्ष ने तपोवनो का वर्णन करके तपस्वियो की जीवनचर्या पर प्रकाश डाला है। दया के कारण तपस्वियो ने परिधान के योग्य थोडे ही वल्कल ग्रहण किये है, आकाश के समान निर्मल निर्झर के जल मे फैंके गये टूटे हुए पुराने कमण्डलु दृष्टिगोचर हो रहे हैं, यत्र तत्र मूँज की बनी हुई मेखलाए भी दिखाई दे रही है, जिन्हे ब्रह्मचारियो ने टूट जाने के कारण फेंक दिया है इसके अतिरिक्त निरन्तर अध्ययन अध्यापन के क्रम मे प्रतिदिन सुनने के कारण वहाँ शुग सारिकाएँ वेद की ऋचाओ की आवृत्ति कर रहे है।[3]

एकान्त स्थान पर होने के कारण तपोवन नागरिक जीवन से भिन्न एव शान्त वातावरण मय होता है। मृग आदि पशुगण जहाँ विश्रब्ध होकर विश्राम करते हैं तथा पक्षिगण स्वस्थ होकर स्वेच्छापूर्वक विचरण करते है[4]

शम प्रधान होते हुए भी तपोवनो मे भस्ममात् कर देने वाला एक प्रकार का तेज तिरोहित रहता है। वह अन्य तेज के द्वारा अभिभूत होकर सूर्य से सूर्यकान्त मणि के समान अग्नि को उगलने लगता है।[5] तपोवन की पावनता एव तपोमय जीवन का आदर्श भारतीय जीवन का प्रमुख अङ्ग रहा है। तप के आधार पर महान् से महान् कार्य भी अनायास ही सम्पन्न हो जाते हैं। आध्यात्मिक जीवन के सस्कार के लिए तपोवन, आदर्श केन्द्र माने जाते है।

आत्मा

आत्मा के स्वरूप का विवेचन उपनिषद् ग्रन्थो की अपनी विशेषता है। आत्मा के सम्बन्ध मे कठोपनिषद् मे पर्याप्त विवेचन उपलब्ध होता है। आत्मा एक नित्य वस्तु है, वह न कभी मरता है और न कभी अवस्था कृत दोषो से विकार ग्रस्त होता है। वह विषय ग्रहण करने वाली हमारी समस्त इन्द्रियो से, सकल्प विकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक

---

१. महाभारत-आदिपर्व, ७०, ७.
२. नागानन्द—४, २.
३. वही—१, ११.
४. बुद्ध चरित—६, २
५. अभिज्ञान शाकुन्तल—२, ७.
६. कठोपनिषद्—३, ३-४.

बुद्धि से तथा सत्ता के कारण-भूत इन प्राणो से पृथक है। एक रमणीय रूपक[1] के द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है। यह शरीर रथ है; बुद्धि सारथि है; मन प्रग्रह हैं, इन्द्रियाँ घोडे हैं, जो विषय रूपी माग पर चला करते हैं तथा आत्मा इस रथ के स्वामी हैं। आत्मा को रथ का अधिपति बताकर यमराज ने आत्मा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

आत्मन् शब्द की व्युत्पत्ति

'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने से नाम करण की सार्थकता का स्पष्ट परिचय प्राप्त हा जाता है। शकराचार्य ने समस्त व्युत्पत्तियो को एक साथ प्रदर्शित कर आत्मा के स्वरूप का यथार्थ चित्रण किया है। कठोपनिषद् मे वर्णित आत्म-निरूपण के सम्यक् अध्ययन से आत्मा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों मे व्याप्त रहता है—'आप्नोति' समस्त वस्तुओ को अपने स्वरूप मे आदान कर लेता है—आदत्ते, स्थिति काल मे वह विषयो का भक्षण करता है—'अत्ति' तथा इस की सत्ता निरन्तर रहती है—'सन्ततो भाव.'।[2] जिस प्रकार कल्पित वस्तु की सत्ता की सिद्धि के लिए उसके अधिष्ठान की सत्ता को स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार कल्पित जगत् की सत्ता मानने के लिए आत्मा का सन्तत भाव एव नित्यता को स्वीकृत किया गया है। इसकी सत्ता के कारण ही प्राणिमात्र जीवन धारण उसकी करता हैं।

आत्मा की अवस्थाएँ

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—ये आत्मा की विभिन्न अवस्थाएँ मानी गयी हैं। जाग्रत दशा में आत्मा वाह्य वस्तुओ का अनुभव करता हैं; स्वप्न दशा मे आभ्यन्तर मानस-जगत् का अनुभव होता है; सुषुप्ति अवस्था मे वह अपने केवल आनन्द स्वरूप का अनुभव करता हैं। इन अवस्थाओ मे आत्मा के अंश मात्र का परिचय प्राप्त होता है परन्तु पूर्ण आत्मा मे इन सब गुणो का अभाव दृष्टिगोचर होता हैं। उस समय न तो बाह्य चेतना रहती हैं, न अन्तश्चेतना और न दोनो का सम्मिश्रण; न प्रज्ञा रहती हैं और न अप्रज्ञा। अदृश्य, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण, अचिन्तनीय, अव्यपदेश्य, केवल आत्म प्रत्यय सार, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव, अद्वैत-यही आत्मा हैं। जाग्रत आदि अवस्थात्रय से पृथक् होने के कारण इसी को तुरीय अवस्था कहा गया हैं। इस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।[3]

---

१. कठोपनिषद्—३, ३-४
२. वही—२, १, १
३. माण्डूक्योपनिषद्—७.

परमात्मा नित्य निर्गुण हैं। वह जल सम्पर्क रहित कमल पत्र के समान कर्म फलो के सम्पर्क से मुक्त रहता है। इसके विपरीत जीव कर्म परायण है तथा वह मोक्ष एव बन्धनो से युक्त होता है।[1]

छब्बीसवें पदार्थ अजन्मा, विभु, निःसङ्गात्मा ईश्वर को प्राप्त कर जीव अव्यक्त प्रकृति को छोड देता है।[2] इसको जान कर बुद्धिमान् जीव शुद्ध, बुद्ध, मुक्त विमल रूप परमात्मा से समागम करके विशुद्ध धर्मी, एव विमुक्त धर्मी विमल रूप हो जाता हैं।[3] शरीर समस्त अङ्गो मे व्याप्त अन्तरात्मा को समस्त सुख-दु खो का परिज्ञान होता हे, देहनाश के पर जीव का नाश नही होता। जीव दूसरे देह मे चला जाता है एव देह का पाँच तत्त्वो मे विभाग हो जाता है।[4] श्रीमद् भगवद्गीता मे आत्म तत्त्व का विवेचन पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होता हैं। न यह आत्मा कभी उत्पन्न होता है और न मरता है, न यह एक बार हो कर पुन नही होगा, यह अजन्मा है, नित्य हैं, अपरिवर्तन शील हैं एव प्राचीन तम हैं, शरीर के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नही होता—

"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नाय भूत्वा भविता वान भूय.।
अजो नित्थ शाश्वतोऽय पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।"[5]

इस आत्मा को न शस्त्र ही काट सकते है, न इमे अग्नि ही जलाने मे समर्थ होता हैं; न जल ही इसे भिगो सकता हैं और न पवन ही इसे शुष्क कर सकता हैं। अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोच्य, नित्य, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी आदि आत्मा के नानाविध रूप कहे जाते हैं—

नैन छिन्दन्ति शस्त्राणि नैन दहति पावक।
न चैन क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत:।[6]

स्वय आत्मा ही अपना बन्धु है तथा वही अपना शत्रु हैं। अपने द्वारा किये गये पुण्य एव पाप कर्म का वही साक्षी है।[2] मन, बुद्धि तथा इन्द्रियो को अपने वश मे करने की चेष्टा करनी चाहिये। आत्मा ही अपना मित्र अथवा शत्रु होता है।[3] यह कूटस्थ अविकारी है और इसी कूटस्थ आत्मा की एकता निर्गुण ब्रह्म से सर्वतो भावेन सिद्ध मानी जाती है।

---

१. महाभारत—शान्ति पर्व ३५१, १४-१५.
२ वही—३०८, २०.
३. वही— ३०८, २७.
४. वही—१८८,२०.
५. वही— १८८, २७.
६. वही—भीष्म पर्व २६, २०.

ब्रह्म

अध्यात्म वेत्ता ऋषियो ने आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यामिक पद्धतियो के द्वारा इस नानात्मक, सतत परिवर्तन शील अनित्य जगत् के मूल मे विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का तात्त्विक अन्वेषण किया है । आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एव विनाश के कारणो पर विचार करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन मे समर्थ होती है । आधिदैविक पद्धति नाना रूप तथा स्वरूप धारी विविध देवताओ मे शक्ति सचार करने वाले उस परमात्म तत्त्व का अन्वेषण करती है । आध्यात्मिक पद्धति मे मानसिक प्रक्रियाओ तथा शारीरिक क्रिया कलापो के अवलोकन करने से उनके मूल भूत आत्म तत्त्व का निरूपण किया जाता है । इन पद्धतियो के द्वारा जिस परमतत्व का विवेचन किया गया है-वही 'ब्रह्म' है ।

निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म

उपनिषद् ग्रन्थो मे ब्रह्म के दो स्वरूपो सविशेष अथवा सगुण रूप, निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप का सम्यक् विवेचन किया गया है । इन दोनो का भेद स्पष्ट करने के लिए निर्विशेष को कही पर ब्रह्म तथा सविशेष को अपर ब्रह्म तथा कही शब्द ब्रह्म कहा गया है । निर्विशेष भाव को निर्गुण, निरुपाधि, तथा निर्विकल्प आदि सज्ञाओ से अभिहित किया जाता है । सविशेष भाव मे गुण, चिह्न, लक्षण एव विशेषणो की सत्ता विद्यमान रहती है, जिनके द्वारा उसका स्वरूप हृदयङ्गम किया जा सकता है ।

परब्रह्म की प्राप्ति ही मानव मात्र का लक्ष्य है । जो सब प्राणियो मे अपनी आत्मा को तथा अपनी आत्मा मे सब प्राणियो का अवलोकन करता है, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है ।[4] जब यह जीव किसी से भयभीत नही होता तथा यह भी भय का कारण नही होता, न किसी से कुछ आकाक्षा करता है और न किसी से द्वेष करता है और जब वह मन, वचन एव कर्म से अन्य प्राणियो के साथ पाप की भावना से मुक्त हो जाता है तब वह ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है । जगत् मे कामना ही एक मात्र बन्धन है । जो कामना के बन्धन से मुक्त हो जाता है, वह ब्रह्मभाव प्राप्त करने मे समर्थ हो जाता है—

यदा चाय न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।[5]

---

१. महाभारत—भीष्मपर्व-२६, २३–२५. २. वही—स्त्रीपर्व, २, ३५.
३. वही—उद्योगपर्व, ३४, ६४.
४. वही—शान्तिपर्व, २३९, २१. ५. वही—२५१, ५–७.

जब वह सुनने और देखने के पदार्थों मे तथा समस्त प्राणियो मे समान भाव को धारण करता है एव सुख दु ख आदि द्वन्द्वो से रहित हो जाता है तथा जब वह निन्दा और स्तुति को समान भाव से देखता हैं, सोना-लोहा, सुख-दु ख, 'शैत्य-उष्णता, अर्थ-अनर्थ, प्रिय अप्रिय तथा जीवन-मरण मे भी उसकी समान दृष्टि हो जाती है, उस अवस्था मे वह ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है—

> शीतमुष्ण तथैवार्थमनर्थं प्रियमप्रियम् ।
> जीवित मरण चैव ब्रह्म सम्पद्यते तदा । [1]

जगत्

ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान एव निमित्त कारण है । परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु,वायु से अग्नि,अग्नि से जल,जल से पृथिवी एव पृथिवी से समस्त जीव जन्तुमय जगत् उत्पन्न हुआ । जिस प्रकार मकडा अपने शरीर से जाल बुनता है तथा उसे अपने शरीर मे पुन समाविष्ट कर लेता है और जिस प्रकार पृथिवी पर औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार उस नित्य अक्षर ब्रह्म से समस्त विश्व प्रपञ्च की सृष्टि होती है । [2]

जिस प्रकार आकाश मे सूर्य का उदय एव अस्त पुन पुन: होता है उसी प्रकार यह जगत् कल्प आदि उत्पत्ति स्थिति कल्पो मे बार बार होता रहता है । [3]

सब सचय क्षय होने वाले हैं, ऊँचे उठे हुए अन्त मे गिरते है, सयोग वियोगान्त हैं एव जीवन का अन्त मरण है । समस्त कार्य जात विनाशान्त हैं, उत्पन्न हुए प्राणि का मरना निश्चित है । परिणामत. स्थावर, जङ्गमात्मक जगत् सर्वदा नित्य नही है, अस्थिर है । [4]

जिस प्रकार रात्रि मे तारो का अस्तित्व है पर दिन मे वह दृष्टिगोचर नही होता उसी प्रकार ससार भ्रम के कारण सत्य प्रतीत होता है । [5] जीव अमर होता हुआ भी नये शरीर धारण करता है । काल प्रेरित हो देह को पुन पुनः त्याग कर जीव एक शरीर से दूसरे शरीर को प्राप्त होता हुआ बार बार जन्म ग्रहण करता है । भारतीय शास्त्रो का यह दृढ विश्वास है कि वर्तमान जीवन ही प्रथम एवं अन्तिम जीवन नही है ।

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व ३३६, ३६, ३८,
२. मुण्डकोपनिषद्—१, १, ७. ३. महाभारत—शान्तिपर्व, ३३९, ७५
४. वही—आश्वमेधिक पर्व, ४४, १९-२०. ५. नैषध चरितम्—२२, २३.

जीवन मरण की अनादि एव अनन्त शृ खला मे वर्तमान जीवन एक साधारण कडी मात्र है । मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियो मे जन्म लेता है और वर्तमान जीवन का अन्त हो जाने पर वह पुनर्जन्म ग्रहण करता है । गीता मे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए श्री कृष्ण ने कहा है कि जो मनुष्य उत्पन्न हुआ है । उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मर चुका है उसका जन्म लेना आवश्यक है तथा यह ध्रुव सत्य है ।[1] मनुष्य जिस प्रकार पुराने वस्त्रो को त्याग कर नवीन वस्त्रो को ग्रहण करता है उसी प्रकार वह जीर्ण शीर्ण शरीर का परित्याग कर नवीन शरीर का आश्रय लेता है—

वासासि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ।[2]

पुनर्जन्म

अपने कर्तव्य एव पुण्य कर्म के आधार पर मनुष्य को विविध योनियो मे जन्म ग्रहण करना पडता है । मरण और जन्म बार बार देखा जाता है, आहार भोजन आदि नाना प्रकार के स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ आस्वादित किये जात हैं, अनेक माताओ का स्तन्य-पान किया जाता है तथा नाना प्रकार के माता पिता भी देखे जाते हैं ।[3]

अपने कर्म फलो के अनुसार जोव उत्तम एव अधम योनियो मे जन्म ग्रहण करता है । काम, क्रोध, लोभ, हिंसा आदि से समन्वित मनुष्य मनुष्यत्व से गिरकर तिर्यक् योनि मे उत्पन्न होता है, एव तिर्यक् योनि से मुक्त होकर वह मनुष्य योनि मे आता है । गायो एव घोडो से भी देवत्व प्राप्ति देखी जाती है ।[4] जिस प्रकार धागे से बँधा हुआ पक्षी दूर जाकर पुन लौट जाता है उसी प्रकार अज्ञान सूत्र मे सुतराम् आबद्ध मनुष्य पुन पुनः इसी शरीर मे लौट आता है ।[5] भली भाँति जोते गये एव जल से सींचे गये क्षेत्र मे जिस प्रकार अ कुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार कर्म रूप अ कुर पुनर्जन्म का कारण है ।[6] जीव कर्मानुसार रेतस्त्व भाव को प्राप्त कर एक शरीर से दूसरे के लिए स्त्रियो के पुष्प गर्भ मे पहुँचकर यथावसर उत्पन्न होता है । इस प्रकार वह एक शरीर छोडते ही तत्क्षण दूसरे शरीर मे प्रविष्ट हो जाता है ।[7]

---

१ महाभारत—भीष्मपर्व, २६, २७.
२ वही—२६, २२. ३. वही—आश्वमेधिक पर्व, १६, ३२, ३३.
४. वही-वनपर्व १८१, १२, १३. ५. सौनदर नन्द—११, ५६.
६. महाभारत—शान्ति पर्व, ३२०, ३२. ७. वही—अनुशासन पर्व, १११, ३५.

शरीर

शरीर को भारतीय साहित्य के विद्वान् मनीषियो ने चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति का साधन माना है। यह ही समस्त कृत्यो का मुख्य आधार है। वस्तुत शरीर मास, अस्थि, मज्जा आदि से निर्मित हुआ है। सब अपवित्रताओ के केन्द्र भूत, कृतघ्न एव नश्वर शरीर के लिए मन्द बुद्धि व्यक्ति पापो का आचरण करते हैं—

> सर्वाशुचि निधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिन ।
> शरीरकस्यापि कृते मूढा पापानि कुर्वते' । [1]

विषय रस मे लिप्त इन्द्रियाँ मनुष्य को उद्भ्रान्त करके सासारिक विषयो मे भ्रमण कराती रहती है। द्वेष करने वाले शत्रुओ से कोई कभी पीडित होता है या नही भी होता किन्तु इन्द्रियाँ सभी को सर्वत्र सदा ही पीडित करती रहती हैं। [2] मनुष्य की उत्पत्ति और विलय विधाता के अधीन है। प्राणि जिस दिन जन्म ग्रहण करता है उसी दिन उसके लिए मृत्यु आदि का निर्धारण हो जाता हैं। बालक के जन्म ग्रहण करते ही धात्री की तरह नश्वरता एव अनित्यता पहले उसे अपने अङ्क मे आरोपित कर लेती है। [3] मेदा, अस्थि, मास, मज्जा आदि का समूह मात्र शरीर त्वचा के आवरण से आवृत है। सौन्दर्य के आवरण मात्र मे लिपटा हुआ बीभत्स यह शरीर केवल घृणा का पात्र है। [4] तपश्चर्या आदि धार्मिक कृत्यो के आचरण मे शरीर का अवश्य ध्यान रखना चाहिये। धार्मिक क्रियाओ के करने मे शरीर को ही प्रमुख स्थान के रूप मे समादृत किया गया है। [5] जिस प्रकार वास वृक्ष पर समागम होने के अनन्तर पक्षि-गण भिन्न भिन्न दिशाओ की ओर चले जाते हैं, अवश्य ही उसी प्रकार प्राणियो के समागम का अन्त वियोग हैं। [6]

महर्षि वाल्मीकि ने भी ससार की अनित्यता एव शरीर की नश्वरता का प्रतिपादन करते हुए जगत् को मार्ग के आवास के समान कहा है। [7]

मृत्यु

शरीर का अवसान ही मृत्यु कहा जाता हैं। प्रतिदिन आयु क्षीण होती चली जाती है एव मनुष्य की अतृप्त वासनाएँ उसे किकर्त्तव्य विमूढ बनाकर मृत्यु मुख मे ढकेल देती हैं।

---

१. नागानन्द—४, ७–८. २. सौन्दर नन्द—१३,३२.
३. नागानन्द—४, ७-८. ४. वही—५, २६.
५. कुमार सम्भव—४, ३३. ६. बुद्ध चरित—६, ४६.
७. रामायण—अयोध्याकाण्ड, १०८, ५-६.

'रात्र्या रात्र्या व्यतीतायामायुरल्पतर भवेत् ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम्' [1]

जिस प्रकार घास चरती हुई भेडो को व्याघ्री अथवा जल में भ्रमण करते हुए अबोध मत्स्यो को मत्स्य जीवी पकड लेता हैं उसी प्रकार मृत्यु भी अबोध अवस्था में आकर घेर लेती हैं। [2]

कल किया जाने वाला काम आज करना चाहिये तथा सायकाल का काम प्रातः काल करना चाहिये । मृत्यु यह कभी भी प्रतीक्षा नही करती कि उसका कार्य समाप्त हुआ अथवा नही । [3] अमरता एव मृत्यु दोनो ही इसी शरीर में वर्तमान रहते हैं, मानव मोह के द्वारा मृत्यु को एव सत्य के द्वारा अमरता का प्राप्त कर सकता हैं । [4]

जीवन की अनित्यता का विचार कर मनुष्य को युवावस्था से ही धर्म शील होना चाहिये । धर्माचरण से मनुष्य इस लोक मे अपनी कीर्ति को अमरता प्रदान करता हैं तथा परलोक में सुख की उपलब्धि करता है । [5] मृत्यु की सेना से बचने का केवल एक ही उपाय है कि सत्य पालन का दृढ व्रत ग्रहण किया जाय । सत्य मे ही अमरता निहित है।[6] महाकवि कालिदास ने मरना शरीर धारियो का स्वभाव एव जीना उनका विकार माना है । उनके अनुसार यदि जीव क्षण मात्र भी श्वास लेता हुआ जीवित रहता है तो उसका जीवन सार्थक है । [7]

दिन जाते हैं, रातें व्यतीत होती हैं । ग्रीष्मकालीन सूर्य की प्रखर किरणो से जल के समान जीवन भी समाप्त हो जाता है । मृत्यु साथ ही साथ गतिशील रहती है तथा साथ ही निवास करती हैं। मनुष्य के अति दूर जाने पर भी मृत्यु उसका साथ नहीं छोडती । [8] मृत्यु के आवागमन की, शरीर की विभिन्न चेष्टाओ से, सूचना मिल जाती है । गात्र चेतना हीन होने लगता है; इन्द्रियो की ज्ञान शक्ति नष्ट होने लगती है, वाणी धीरे धीरे मन्द होती चली जाती है और क्रमश. विवश होकर प्राण भी शरीर का परित्याग कर निकल जाते हैं । [9] बल शालिता अथवा यौवन मृत्यु न आने के कारण नहीं हो सकते । मृत्यु सभी अवस्थाओ मे प्राणी का नाश करती है । [10] अपने स्नेही व्यक्ति का

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व, १७५, ११, १२. २, वही—१७५, १३.
३ वही—१७५, १५. ४ वही— १७५, ३०
५. वही—१७५, १६. ६. वही—१७५, २९.
७. रघुवश —८, ८७. ८. रामायण—अयोध्या काण्ड, २०५, २०,२२.
९. नागानन्द—५, ३०. १०. सौन्दर नन्द—१५-५४.

शोक त्याग कर मनुष्य को उसके उत्तरकृत्य मे सलग्न हो जाना चाहिये। निरन्तर बहने वाली अश्रु धारा मृतात्मा को दग्ध करती है तथा उसे मुक्ति प्राप्त नही हो पाती।[1] जब तक घातक काल नही आता तब तक शम मे बुद्धि को अधिष्ठित करके मुक्ति का उपाय करना चाहिये।[2]

काल

काल सतत गमन शील है। मनुष्य की अज्ञान अवस्था मे वह चुपचाप अनजाने ही चला जाता है। जो रात्रि चली जाती है वह पुन: नही लौटती, यमुना का सतत प्रवाह समुद्र की ओर ही गतिशील होता है। समय पुन प्रत्यावर्तित नही होता।[3]

वालि की पत्नी तारा को सान्त्वना देते हुए राम ने काल को ही सब से प्रबल माना है। काल गति के अनुसार विश्व का क्रम चलता है।[4]

काल का न कोई प्रिय हैं और न कोई शत्रु है। न वह किसी के प्रति उदासीन है तथा यथावसर वह सभी को अपने अधीन करता है। काल प्राणिमात्र को पकाता है तथा प्रजा का सहार करता है। प्राणि मात्र की सुप्तावस्था मे काल जागरण शील रहता है एव उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता।[5]

इसी कारण विदुर जी ने कहा है कि रूप, यौवन, जीवन एव धन-सम्पत्ति आरोग्य तथा प्रिय समागम—ये सभी अनित्य हैं बुद्धिमान् व्यक्ति के लिए यही उचित है कि वह उनकी प्राप्ति के लिए लालायित न रहे।[6]

काम

यौवन एव रूप की अनित्यता का परिज्ञान रहते हुए भी काम भावना मानव को, धर्म की दृष्टि से, चरमोन्नति मे बाधक होती है। काम भावना उसको अपने धार्मिक उच्च धरातल से पतित कर देती है। धर्म चर्या मे सयम एव इन्द्रिय-निग्रह का विशेष स्थान है। काम रूपी गज सयम को सर्व प्रथम नष्ट करता हैं।

---

१. रघुवश—८, ८६. तुलनीय—याज्ञवल्क्य स्मृति-प्रायश्चित्ताध्याय ११.
२. सौन्दर नन्द—५, २२ ३. रामायण-अयोध्याकाण्ड, १०५, १९.
४. रामायण—किष्किन्धा काण्ड, २५,६-७.
५. महाभारत—स्त्रीपर्व, २, २३-२४. ६. वही—२, २५.

अश्व घोष के अनुसार यौवन धर्म और अर्थ का शत्रु होता हैं। काम के वशीभूत होने पर वह यत्न करने पर भी वशीकृत नही किया जा सकता।[1]

काम से अभिभूत पुरुष को स्वर्ग अथवा मृत्यु लोक में शान्ति प्राप्त नही होती। जिस प्रकार वायु प्रेरित इन्धन से अग्नि की तृप्ति नही होती, उसी प्रकार कामी की कभी तृप्ति नहीं होती।[2] काम को विष के समान हेय एवं सर्वथा परित्याज्य कहा गया है। विषयो मे अल्प आस्वाद एव अतृप्ति को जानकर भी सत्पुरुषो से गर्हणीय एव पाप कारक इस काम नाम के विष को कौन ग्रहण करने की अभिलाषा कर सकता है।[3]

काम सुखो की ओर प्रवृत्ति के साथ विषय भोगो की इच्छा परिवर्धित होती रहती है। प्रज्ज्वलित अग्नि को, आहुतियो के समान, मनुष्य को काम भोगो से कदापि सतुष्टि नही होती।

जब कामाविष्ट महापुरुष की दशा भी कुछ भिन्न सी हो जाती है तो साधारण व्यक्ति का तो कहना ही क्या? पार्वती के समागम की उत्कण्ठा ने शिव को भी विचलित कर दिया तो सामान्य व्यक्ति का क्या कहना; उसको यह काम भावना अपने वश में करने मे पूर्णतया समर्थ हो जाती है।[4]

काम राग के कारण मानव सुख को खोजता है, सुख के लिये अकार्य करता है तथा अकृत्यो के कारण वह नरक का भागी होता है। काम से इच्छा उत्पन्न होती है, इच्छा से कामशक्ति एव कामशक्ति उसे दु.ख का भोग कराती है। विषयो की प्राप्ति कष्ट प्रद होती है, उनकी प्राप्ति होने पर भी तृप्ति नही होती तथा उनके वियोग होने पर शोक निश्चित है।[5]

यदि काम वासना से तृप्ति नहीं होती तो मनुष्य उससे प्रसन्न नही होता; तृप्ति न होने पर शान्ति नही, शान्ति के अभाव में सुख नही, सुख रहित जीवन में प्रीति नहीं एव प्रीति के बिना आनन्दानुभूति नहीं होती।

"अतृप्तौ च कुतः शान्तिरशान्तौ च कुतः सुखम्।
असुखे च कुतः प्रीतिरप्रीतौ च कुतो रतिः।"[6]

---

१. बुद्ध चरित—१०, ३५. २. वही - ११, १०.
३. सौन्दर नन्द, ६,४३; द्रष्टव्य-वही-५,२३, तथा बुद्ध चरित-११, १६
४-कुमार सम्भव—६, ६५. ५—सौन्दरनन्द--११,३८ ६. वही—११, ३३

यही कारण है कि संस्कृत काव्य कारो ने काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मात्सर्य आदि शत्रुओ पर विजय पाने के लिये आग्रह किया है। बाह्य शत्रु अनित्य हैं तथा दूर रहते है अतएव सर्व प्रथम अपने आन्तरिक शत्रुओ पर विजय पाने का यत्न अपेक्षित है।[1]

भक्ति

"भज् सेवायाम्" धातु से निष्पन्न होने वाले 'भक्ति' शब्द का अर्थ होता है— सेवा, परिचर्या आदि। भक्ति का आरम्भ श्रीमद् भगवद्गीता मे स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भक्ति मार्ग अवतार वाद पर आश्रित रहता है अत भक्ति मार्ग एव अवतारवाद के कुछ तथ्य गीता मे चित्रित हुये है।

कृष्ण के आधार पर जो पत्र, पुष्प, फल एव जल भक्ति भाव से अर्पण करता है उसे ईश्वर प्रीति पूर्वक स्वीकार करता है।[2] अधर्म का परित्याग कर धर्म पूर्वक भक्ति का आश्रय लेना मनुष्य के लिये हितकर एव कल्याणकारी है। जो ईश्वर को मन मे रखता है, उसी की भक्ति करता है, उसके लिये यज्ञ यागादि का अनुष्ठान करता है, उसे ही नमस्कार करता है–वही उसका प्रिय है तथा वह उसे प्राप्त कर सकता है। सब धर्मों को छोड कर उसी की शरण मे जाना चाहिये। वह मनुष्य को सब पापो से मुक्त कर स्वय मे लीन कर देता है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अहन्त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।[3]

वेदो के अध्ययनाध्यापन से, तप से, दान से एव यज्ञ से जो देखा नही जा सकता वह अनन्य भक्ति के द्वारा यथार्थ ज्ञान, दर्शन एव प्राप्त करने का विषय है।[4]

गो सेवा मे भक्ति भाव का सुन्दर चित्र कालिदास ने सुदक्षिणा से नन्दिनी की पूजा कराकर प्रस्तुत किया है। अक्षतों से युक्त पात्र को हाथ मे लेकर रानी सुदक्षिणा ने उत्तम दूध वाली नन्दिनी की प्रदक्षिणा एव वन्दना करके पुत्र प्राप्ति रूप अर्थ सिद्धि के द्वार की तरह उसके विशाल मस्तक की पूजा की।[5]

शिव

जाने वाले के लिए मङ्गल कामना तथा पुन शीघ्र समागम की अभिलाषा का प्रादु-

---

१. रघुवश—१७, ४५.
२. महाभारत—भीष्मपर्व, ३३, २६,
३. वही ४२, ६५-६६.
४. वही— ३५, ५३-५४.
५ रघुवश— २, ७१.

भाँत शिव-तत्व का आधार है। अपनी कार्य सिद्धि के लिए प्रयाण हो, अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति हो एव पुनः दर्शन हो।[1]

सभी मनुष्य मङ्गलमय जीवन को प्राप्त करने के लिए अपने विशुद्ध आचरण के द्वारा बडे बडे कार्य करते रहते हैं। मुनि के पाप एव अरिष्ट नाशक दर्शन ही अत्यन्त कल्याणकारी हैं, वचन भी पूर्णतया मङ्गल के केन्द्र हैं। माङ्गलिक विषयो मे किसी को तृप्ति प्राप्त नही होती—

"विलोकनेनैव तवामुना मुने कृत. कृतार्थोऽस्मि निर्वाहितांहसा।
तथापि शुश्रूषुरह गरीयसी गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते।"[2]

पति गृह की ओर प्रयाण करते समय शकुन्तला के प्रति की गयी कण्व की मङ्गल कामना शिव तत्व का उत्कृष्ट उदाहरण है। कमलिनी के वनो से व्याप्त सरोवरो, सूय की प्रखर किरणो को अवरुद्ध करने वाले छाया के वृक्षो, कमल के पराग के समान मृदु रेणुओ तथा अतिशय, सुखद शान्त एव अनुकूल पवन से अभिव्याप्त मार्ग मङ्गलकारी हो।[3]

अशिव

क्रोध के आवेश मे मुनियो के मुख से निकला हुआ शाप अभिशाप बनकर दूसरे मनुष्य के लिए घातक एव अमङ्गलकारी हो जाता है। वृद्धावस्था में पुत्र शोक से मरने का शाप देन वाले पादाक्रान्त एव विषमविष को उगलने वाले सर्प के समान मुनि के उन अमङ्गलकारी वचनो के कारण राम के वियोग से मे दशरथ के प्राण विसर्जित हुए।[4]

भारतीय मनीषियो ने अशिव अथवा अरिष्ट कारक विघ्न आदि का निवारण करने के लिए माङ्गलिक कृत्यो का विधान किया है। कार्यारम्भ मे मङ्गलाचरण की विधि अशिव को दूर करने एव शिव को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से की जाती है।

सत्य

शिव-तत्व का सत्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन, वचन एव कर्म से सत्य का पालन करना मानव मात्र का प्रमुख कर्तव्य है। भारतीय सस्कृति मे सत्य पालन पर विशेष अभिनिवेश रहा है। धर्मज्ञ पुरुष सत्य को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म के रूप मे स्वीकार करते हैं। सत्य का यथावत् अनुशीलन करना ही राजाओ का दया प्रधान धर्म है एव सनातन

---

१ नैषध चरित— २, ६२.
२. शिशुपाल वध—१ २९.
३. अभिज्ञान शाकुन्तल—४,११.
४. रघुवश—९. ७९,

आचार है। सारा राज्य सत्यात्मक हैं एव सत्य मे ही समस्त ससार प्रतिष्ठित है।[1] सत्य को एकाक्षर ब्रह्म माना गया है। सत्य मे ही धर्म प्रतिष्ठित है। सत्य अक्षय वेद स्वरूप है तथा सत्य से ही परम पद की प्राप्ति होती है।[2] सत्य ससार मे ईश्वर स्वरूप है; सत्य मे लक्ष्मी प्रतिष्ठित है, समस्त वस्तुओ का मूल सत्य है सत्य से कोई अन्य उत्कृष्ट स्थान नही होता।[3] सत्य भाषण सुख का मूल है तथा असत्याचरण पाप का निधान है। 'सत्य' ये दो अक्षर ही सत्य हैं अत सत्य को असत्य से नही छिपाना चाहिये।[4] सत्पुरुषो मे सत्य सनातन धर्म है। सत्य ही धर्म है, तप है, योग है, सनातन ब्रह्म है, उत्कृष्ट यज्ञ है एव सत्य मे समस्त विश्व प्रपञ्च प्रतिष्ठित है। सत्य ही उत्कृष्ट गति है अत. सत्य का ही सर्वदा समादर करना चाहिये।[5]

राजाओ के लिये सत्य से अतिरिक्त कोई अन्य सिद्धि कारक वस्तु नही मानी जाती। सत्य का सर्वथा पालन करने वाला इह लोक एव परलोक मे सुख एव आनन्द की प्राप्ति करता है। ऋषियो के लिए भी सत्य ही उत्कृष्ट धन है।[6]

अनेक अश्वमेध यज्ञो की अपेक्षा सत्य को ही प्रमुखता दी गई है। सहस्र अश्वमेध यज्ञो एव सत्य को एक साथ तुला पर आरोपित करने पर सत्य ही श्रेष्ठ माना जाता हैं।[7] सत्य के आधार पर सूर्य अधिष्ठित होकर प्रकाशमान होता है; सत्य से अग्नि प्रदीप्त होती है, सत्य से वायु प्रवहनशील होती है। सत्य से देव गण, पितृ गण एव ब्राह्मण प्रसन्न होते हैं एव सत्य को ही उत्कृष्ट धर्म कहा गया है अत. सत्य का उल्लघन कदापि नही करना चाहिए।[8]

असत्य

जहाँ सत्य के समान कोई उत्कृष्ट धर्म नही है तथा सत्य ही सर्वोत्तम कर्त्तव्य है, वहाँ असत्य भाषण से अधिक कोई पाप नही है। असत्याचरण से मनुष्य का विश्वास नष्ट हो जाता है तथा उसकी समाज मे कोई प्रतिष्ठा नही रहती—

"नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम्।
नहि तीव्रतर किंचिदनृतादिह विद्यते।[9]

१. रामायण—अयोध्याकाण्ड, १०९, १०. २. वही—१४, ७.
३. वही—१०९, १३. ४. मृच्छकटिक—६, ३५.
५. महाभारत—शान्ति पर्व, १६२, ४-५, ६. वही—५६, १७-१८.
७. वही—अनुशासन पर्व, ७५, २९.
८. वही—७५, ३०-३१. ९. वही—आदि पर्व, ७४, १०५.

जो व्यक्ति कुछ अन्य होते हुए स्वय को कुछ भिन्न रूप मे प्रगट करता है उस आत्मापहार करने वाले चोर ने कौनसा पाप नही किया ?[1]

असत्य को, चरित्र को दूषित करने वाले महान् अकार्य के रूप मे, माना जाता है। भिक्षार्जन के द्वारा भी न्यास का प्रत्यावर्तन अभीष्ट है परन्तु असत्य भाषण कर चरित्र को कलङ्कित करना अभीप्सित नही होता।[2]

अहिंसा

हिंसा के अभाव को अहिंसा के नाम से घोषित किया जाता है। सत्याचरण के समान ही भारतीय सस्कृति मे अहिंसा का बडा महत्त्व रहा है। फल प्राप्ति की इच्छा से दूसरे विवश जीव की हत्या करना अपराध है। यद्यपि यज्ञ का शाश्वत फल है तथापि हिंसात्मक यज्ञ का आचरण नितान्त अवाञ्छनीय समझा जाता है।[3]

अहिंसा को सर्वोत्कृष्ट धर्म के रूप मे समादृत किया गया है। समस्त प्राणियो के साथ दयालुता का व्यवहार करते हुए अहिंसा का पालन करना श्रेष्ठ एव सर्वोपरि कर्त्तव्य माना गया है।[4] अहिंसा से दीर्घायु प्राप्त होती है।[5]

दूसरे के द्वारा कहे हुए अपशब्द से अपमानित होकर उत्तर मे जो रूखा अथवा अप्रिय वचन नही कहता, दूसरे से आहत होकर भी जो धैर्य से प्रतिघात नही करता एव उस घातक का अहित चिन्तन नही करता वह व्यक्ति देवता के समान श्लाघनीय होता है।[6]

स्वयम्भू-पुत्र मनु के अनुसार, जो मनुष्य मास न खाता हो तथा न किसी की हिंसा करे और न उसे घात पहुँचाये-वह सब प्राणियो का मित्र है।[7]

मनुष्य को अपने जैसा दूसरो का जीवन समझ कर उस पर आघात नही करना चाहिये। जो मनुष्य स्वय जीना चाहता है वह दूसरे प्राणी के मारने का अधिकारी नही है। जो जो वस्तु मनुष्य अपने लिए चाहता है उनकी दूसरे के लिए भी कामना करनी चाहिये।[8] इसलिए सज्जनो ने दयालुता को उत्तम धर्म का चिह्न माना है। दया सत्पुरुषो के लिए सदा प्रीति प्रदान करती है।[9] जैसे अपने प्राण मनुष्य को अभीष्ट हैं

१. महाभारत—आदि पर्व, ७४, २७.
२. मृच्छकटिक—३, २६.
३. बुद्ध चरित—११, ६५.
४. महाभारत—आदिपर्व ११, १३-१४.
५. वही-अनुशासन पर्व, १६३, १२
६. वही—शान्ति पर्व, २६६ १७.
७. वही-अनुशासन पर्व ११५, १२
८. वही—शान्तिपर्व,-२५९, २२.
९. वही—५, २४.

वैसे अन्य प्राणियो को भी अपने प्राण अभीष्ट हैं। अहिंसा परम धर्म है तथा वह परम तप एवं परम सत्य है। अहिंसा से ही धर्म मे प्रवृत्ति होती है।[1] मास विक्रय करनेवाले व्याध के लिए भी निन्दनीय हिंसा-कर्म अत्यन्त गर्हित एव घृणा का विषय माना जाता है।[2]

अद्रोह

हिंसा के समान ही द्रोह की भी भूरि भूरि निन्दा की गयी है। मनुष्य, जब किसी भी प्राणी से द्रोह नही करता अथवा कुछ भी आकाक्षा नही करता तब वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है—

> "यदाऽसौ सर्व भूताना न द्रुह्यति न काङ्क्षति।
> कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा।"[3]

प्राणि मात्र के साथ द्रोह न करना ही उत्तम धर्म कहा जाता है। अद्रोह सत्य-भाषण, दया, दम, औरस सन्तति, मृदुता, लज्जा एव अचञ्चलता आदि धर्म के विविध रूप कहे गये हैं।[4]

अद्वेष

अद्रोह के समान ही अद्वेष का भी कम महत्त्व नही है। जो व्यक्ति न कभी प्रसन्न होता है और न किसी से द्वेष ही करता है, जो न शोक करता है और न अभिलाषा करता है तथा जो शुभ एव अशुभ से परे है वह व्यक्ति सब का प्रिय होता है—

> "यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
> शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रिय।"[5]

शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, आदि मे आसक्ति रहित, सम भाव से व्यवहार करने वाला, मौन धारण करने वाला, सन्तोषी एव भक्ति सम्पन्न व्यक्ति सदा श्लाघ्य माना जाता है।[6]

---

१. महाभारत–शान्ति पर्व—११५, २१, २५.
२. भट्टी काव्य— ६, १२६.
३. महाभारत—शान्तिपर्व, २१, ५.   ४. वही— २१, ११-१२.
५. वही—भीष्म पर्व, ३६, १७,   ६. वही— ३६, १८-१६.

बुद्धि जीवी के साथ बुद्धि हीन व्यक्ति को कदापि वैर नही करना चाहिये। तृणो मे अग्नि के समान बुद्धिमान् की बुद्धि सर्वत्र प्रसरण शील होती है।[1]

तृष्णा

द्वेष के समान ही तृष्णा को भी निन्दनीय एव त्याज्य माना जाता है। सासारिक विषय वासनाग्रो से बार बार प्रभावित होने के कारण मनुष्य मे तृष्णा का प्रादुर्भाव होता है। जीर्ण होते होते क्रमश. मनुष्य के केश जीर्ण हो जाते हैं, आँख, कान भी क्षीण हो जाते हैं परन्तु एक तृष्णा ही सदा नित नूतन नित नयी-नयी रहती है।

"जीर्यन्ति जीर्यत. केशा, दन्ता जीर्यन्ति जीर्यत ।
चक्षु श्रोत्रे च जीर्यते तृष्णका तरुणायते।"[2]

तृष्णा सब पापो मे अधिक पाप रूपा है एव नित्य व्याकुलता उत्पन्न करने वाली समझी गयी है। अधर्म से ओत प्रोत एव भयकर पाप से अभिव्याप्त यह दुष्टमति वालो से छूटने वाली नहो। वह जीर्ण होते हुए भी जीर्ण नही होती। यह प्राणो के अन्त तक रहने वाला रोग है। तृष्णा का परित्याग करने वाले को ही सुख प्राप्त होता है।[3]

मोह

अज्ञान अथवा भ्रम के वशीभूत होकर ईश्वर के चिन्तन एव ध्यान का परित्याग करते हुए शारीरिक एव सासारिक पदार्थों को ही अपना सर्वस्व समझना मोह कहलाता है। मोह, माया, ममता आदि सभी प्रवृत्तियाँ समान रूप से धर्म के कार्यो मे विघ्न उत्पन्न करने वाली मानी जाती हैं—

'तथालस्य तमो विद्धि मोह मृत्युञ्च जन्म च।
महा मोहस्त्वममोह काम इत्येव गम्यताम्।"[4]

जन्म एव मृत्यु को मोह की श्रेणी मे स्थापित किया जाता है।

अहङ्कार

मानव में 'मैं' की प्रवृत्ति अथवा 'अहम्' की भावना को अहङ्कार कहते हैं।

---

१. महाभारत—शान्ति पर्व १७५, ११. २. वही—अनुशासन पर्व, ७, २४.
३. वही—वनपर्व, २,३५-३६ द्रष्टव्य-वही-शान्तिपर्व, २७६, १२.
४. बुद्ध चरित— १२, ३४.

मैं बोलता हूँ, मै जानता हूँ, मै जाता हूँ, मै खडा हूँ आदि सभी भावनाओ का नाम ही अहङ्कार है—

"ब्रवीम्यहमह वेद्मि गच्छाम्यहमह स्थित. ।
इतीहैवमहङ्कारस्तवनहङ्कार उच्यते ।" [1]

अपना हित चाहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा यह अपेक्षित है कि वह अहकार रूप महादोष से पूर्णतया निर्मुक्त हो ।

दैव

पूर्व जन्म मे किया हुआ कर्म दैव के नाम से बोधित किया जाता है । कर्मों के सुख, दु:ख आदि रूप फल के प्राप्त होने पर ही भाग्य का परिज्ञान प्राप्त होता है तथा कर्म के अतिरिक्त कही भी उसके दर्शन नही होते ऐसे दैव से कौन पुरुष युद्ध करने मे समर्थ हो सकता है—

"कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान् ।
यस्य नु ग्रहण किञ्चित् कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते " [2]

दैव अत्यन्त प्रबल है । उसका विधान किसी प्रकार भी टाला नही जा सकता । सुख दुःख, भय क्रोध, लाभ हानि, जय पराजय, उत्पत्ति विनाश एव बिना सोचे जाने वाले विधि विलसित उस दैव का ही विधान है । [3] कर्म फल देने के लिए तत्पर भाग्य के द्वारो को कोई भी व्यक्ति अवरुद्ध नही करने मे समर्थ नही हो सकता । [4]

सर्व प्रथम मित्र के समान सुख देने वाली केवल प्रेम युक्त अनुकूलता को प्रकाशित करता हुआ पुन बिना अवसर परिवर्तन किये वह भाग्य कठोर होता हुआ मानस की पीडा को परिवर्धित करता है । [5]

चक्र के आरे के समान समय चक्र के साथ भाग्य-चक्र भी निरन्तर भ्रमण शील रहता है । समस्त ससार का यही अपरिवर्तनीय क्रम है—

---

१. बुद्ध चरित—१२,२६.
२. रामायण—अयोध्या कण्ड, २२. २१.
३. वही—२२, २२.
४. मालती माधव, १०, १३.
५. उत्तर रामचरित—४, १५.

"काल क्रमेण जगत: परिवर्तमाना।
चक्रार पक्ति रिव गच्छति भाग्य पक्ति' ।" [1]

भाग्य के सतत परिवर्तनशील होने के कारण कभी किसी मनुष्य का उदय होता है और कभी वह पतन के गर्त मे पतित हो जाता है। यह नियति किशोरी दिन रात गमनागमनशील रहती है।[2] यह दैव किसी को रिक्त करता है तो किसी को सम्पन्न बनाता है, किसी को उन्नति प्रदान करता है तो किसी का अध पतन करता है, किसी को आकुल बनाता है, ससार को विरुद्ध दशा का ज्ञान कराता हुआ यह कूए मे ऊपर और नीचे आने जाने वाले रेंहट को तरह उत्थान और पतन को यह निरन्तर दिखाता रहता है।[3] विधाता ने प्राणी के भाग्य मे जो कुछ लिख दिया वह अवश्यमभावी है। भाग्य के प्रभाव मे अति महान् व्यक्ति भी सकटापन्न हो जाते हैं।[4]

मोक्ष

भाग्य एव पुरुषार्थ के सहारे मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त कर सकता है। ससार के विविध पदार्थों एव आवागमन से मुक्त होने का मोक्ष कहा जाता है। ज्ञान से ही मोक्ष होता है अज्ञान से नही। जन्म मरण से अपनी आत्मा को मुक्त करने के हेतु वास्तविक रूप ज्ञान मे प्राप्त करना चाहिये—

"ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह नास्त्यज्ञानादेवमाहु नंरेन्द्र।
तस्मात् ज्ञान तत्त्वतोऽन्वेषितव्य येनात्मान मोक्षयेज्जन्म मृत्यो." ।[5]

अश्वघोष के अनुसार मूंज से निकली सीक के समान एव पिंजरे से निकले पक्षी के समान शरीर से निकला हुआ क्षेत्रज्ञ मुक्त कहा जाता है।[6]

भारतीय नदियो मे स्नान करने पर बिना ज्ञान प्राप्त के भी मोक्ष होने का उल्लेख मिलता है। गगा और यमुना के सगम मे स्नान करने से पवित्र आत्मा वाले पुरुषो को ज्ञान प्राप्ति के बिना भी मृत्यु के अनन्तर पुन. शरीर धारण नही करना पडता।[7]

---

१. उत्तर रामचरित—४, १५.
२. स्वप्न वासवदत्त—१, ४.
३. मृच्छकटिक—१०, १६.
४. वही—१०, ५६,
५. नैषध चरित—१३, ५०.
६. महाभारत—शान्तिपर्व, ३१८, ८७.
७. बुद्ध चरित—१२, ६४.
८. रघुवश—१३, ५८,

जीवन-मरण, सुख-दु'ख, लाभ-हानि, तथा प्रिय-अप्रिय इन युग्मो मे जो समभाव रखता है, न किसी की प्रशसा करता है और न किसी का निरादर करता है, वह निर्द्वन्द्व वीतराग मनुष्य सर्वथा मुक्त है ।[1]

सब सस्कारो से मुक्त, द्वन्द्व रहित, एव कुछ न ग्रहण करने वाला, तपस्या से इन्द्रियो को वश मे रखने वाला व्यक्ति मुक्त हो जाता है ।[2]

ज्ञान और तपश्चर्या से द्वन्द्व रहित, निर्गुण, नित्य, अचिन्त्य गुण एव उत्तम ब्रह्म का दर्शन किया जा सकता है ।[3]

जिसका मन स्वस्थ एवं प्रसाद युक्त है, उसे समाधि सिद्ध होती है । समाधियुक्त चित्त वाला व्यक्ति ध्यान योग के प्राप्त को प्राप्त करता है । ध्यान योग होने से धर्म प्राप्त होता है, जिससे वह दुर्लभ, शान्त, अजर एव अमर परम पद को प्राप्त करता है ।[4]

विषय वासनाओ से विरक्त हो कर एव प्रबल प्रयत्नो से परम तत्त्व को प्राप्त कर ज्ञानमय सूर्य मोह रूपी तम को दूर करने के लिए ससार मे प्रज्ज्वलित होता है ।[5]

सासारिक दशा मे तो जीव और ब्रह्म दोनो ही है, किन्तु मोक्ष दशा मे केवल ब्रह्म ही रह जाता है ।नैष्ठिक पद की प्राप्ति के अनन्तर प्राणि के जनन-मरण का नाश होता है । परम पद के प्राप्त करने पर न जन्म होता है और न मृत्यु, न बुढापा, न व्याधि, न अप्रिय सयोग, न इच्छा विघात और न प्रिय वियोग । यह कल्याणकारी पद नैष्ठिक एवं अक्षय है । इस अवस्था मे अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है--

"यस्मिन्न जाति र्न जरा न मृत्यु र्न व्याधयो नाप्रिय सप्रयोग. ।
नेच्छा विपन्न प्रिय विप्रयोग. क्षेम पद नैष्ठिकमच्युत तत् ।"[6]

जरा, भय, रोग, जन्म, मृत्यु एव आधि व्याधियो से रहित पद को उतम पुरुपार्थ भी कहा जाता है । इस अवस्थिति मे बार बार कम नही करना पडता ।[7]

---

१ महाभारत—आश्वमेधिकपर्व, १६, ४-५.

२. वही—१६, १३.

३. वही—४७, १३.

४ बुद्ध चरित—१२, १०५-६.

५. वही—१, ६६.

६. सौन्दर नन्द— १६, २७.

७. बुद्ध चरित—११. ५६.

योग

स्वात्मा मे रमण करने वाले बुद्धिमान्, जागरूक एव पवित्र कर्म करने वाले व्यक्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह पाँच दोषो को मूलत उन्मूलित कर शान्ति ले। क्रोध को शम से, काम भाव को सकल्प त्याग से, शिश्नोदर को अथवा लोभ को धैर्य से वश मे करना चाहिये। हाथ पात्रो की नेत्रो से कानो और नेत्रो की मन से एव मन की रक्षा कर्म मे करनी चाहिये।[1] सहस्रो अश्वमेध यज्ञो एव शतश वाजपेय यज्ञो का फल योग की कला मात्र के भी तुल्य नही होता।[2] आहार विहार मे समुचित आसक्ति वाल, कर्मों मे समुचित रूप से सचेष्ट, स्वप्न एव जागरण मे उचित नियम वाले व्यक्ति के लिये योग दु ख-नाश का कारण होता है—

"युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नाव बाधस्य योगो भवति दु खहा।"[3]

सब प्राणियो मे आत्मा को तथा आत्मा मे सब प्राणियो को जो देखता है तथा सर्वत्र समभाव से व्यवहार करता है, वह योगी है। जो सवत्र ईश्वर का दर्शन करता है तथा उसमे समस्त विश्व प्रपञ्च को देखता है वह सर्व श्रेष्ठ पुरुष माना जाता है। वह ब्रह्ममय हो जाता है।[4]

मगरमच्छ जिस प्रकार जाल को काटकर जल मे प्रवेश कर जाते हैं, बलवान सिंह आदि हिंसक पशु पाश बन्धनो को तोडकर भाग निकलते है, उसी प्रकार बलवान् आत्म बल सम्पन्न योगी-जन लाभयुक्त बन्धनो को विच्छिन्न कर विमल एव ऊँचे उस अत्यन्त कल्याणकारी परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।[5] योग वियुक्त पुरुष की बुद्धि विमल नही होती और न बिना योग के सुख प्राप्त होता है। धृति, स्थिर बुद्धि एव दु ख-त्याग आदि योग के द्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं।[6] तेल से परिपूर्ण पात्र को लेकर निश्चल मन से सीढी पर चढने वाले व्यक्ति के समान योगयुक्त मनुष्य मन को अवस्थित कर योग की भूमि पर भ्रमण करता है। योगयुक्त मन वाला वह योगी अपनी आत्मा को निश्चल करता है। एवं उसे सूर्य के समान तेजस्वी बनाता है।[7]

---

१ महाभारत—शान्ति पर्व २४०, ४–६.
२. वही— २२३ ६
३. वही— भीष्म पर्व, ३०, १७.
४. वही—३०, २९–३०
५ वही— शान्ति पर्व, ३००, १३ - १४ तथा २० - २५.
६. वही-२८६, १६
७. वही—३००, ३१–३३.

योगयुक्त मन वाले व्यक्ति को स्थित प्रज्ञ कहा जाता है । जब मनुष्य मनोगत समस्त भावनाओ को छोड़कर अपनी आत्मा मे ही स्वात्मा से सन्तुष्ट रहता है, तब वह स्थित-प्रज्ञ कहलाता है । दु खो से जो उद्विग्न न हो, सुखो मे जो स्पृहारहित हो, राग, भय, क्रोध से जो मुक्त हो, वह स्थिरप्रज्ञ कहा जाता है । जो सर्वत्र स्नेह रहित होकर शुभ-अशुभ, प्रिय-अप्रिय को प्राप्त कर न हर्ष का अनुभव करता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित होती है ।[1]

समाधि लगाकर कल्पनातीत आत्मा रूपी उपवन मे पूर्णतया अनुरक्त, ज्ञान के आधिक्य से तमोगुण की ग्रन्थियो को विच्छिन्न करने वालेयोगीजन सत्वगुण का अवलम्बन कर अन्धकार से परे अथवा प्रकाश से परे जिसे दृष्टि पथ मे लाते हैं, उस पुराण पुरुष को मोह एव अज्ञान से अन्ध व्यक्ति कैसे देख सकता है ।[2] प्रकृति-विकार, जन्म, जरा एव मृत्यु को ही सत्त्व कहा गया है । ससार के कारण स्वरूप अज्ञान कर्म एव तृष्णा आदि मे विद्यमान व्यक्ति उस सत्त्व के पार नही जा सकता ।[3] पञ्च महाभूत, अहकार, बुद्धि एव अव्यक्त को प्रकृति कहा जाता है ।[4] जो जन्म ग्रहण करता है, वृद्ध होता है, पीडित होता है एव मरता है, उसे व्यक्त कहते हैं तथा जो इसके विपरीत है वह अव्यक्त है ।

"जायते जीर्यते चैव बाध्यते म्रियते च यद् ।
तद् व्यक्तमिति विज्ञेयमव्यक्तं तु विपर्ययम् ।"[5]

जरा

जन्म ग्रहण करने वाले के लिए जीर्ण होने पर जरा का आगमन नितान्त स्वाभाविक है । यह मनुष्य को धीरे धीरे अज्ञान अवस्था मे ग्रसती रहती है । जब इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती है, सौन्दर्य लुप्त होने लगता है तथा शरीर भी क्षण-क्षण प्रतिक्षण क्षीण होने लगता है तभी जरा के आगमन का आभास मिलता है ।

यह वार्धक्य स्मरण शक्ति का हरण करने वाला है, आनन्द का विनाशक है एव आँख कान और वाणी का ग्रहण करने वाला है । श्रम उत्पन्न कर बल एव वीर्य का नाश करने वाला यह वार्धक्य शरीर धारियो का महान् तम शत्रु है ।[6] यह रूप को

---

१. महाभारत—भीष्म पर्व, २६, ५५ - ५७.
२. वेणी सहार—१, २३.
३. बुद्ध चरित — १२, १७, २३.
४. वही—१२, १८.
५. वही—१२, २२.
६. सौन्दर नन्द—९, ३३.

हत्या करने वाली है, बल की विपत्ति, शोक की भूमि, आनन्द की मृत्यु एव स्मृति का नाश करने वाली इन्द्रियो की शत्रु है।[1] स्मरण शक्ति, सौन्दर्य एव पराक्रम की बिना भेदभाव के हत्या करने वाली इस जरा को प्रत्यक्ष रूप से देखते हुए भी लोग भीति ग्रस्त होकर सदाचरण मे तत्पर नही होते।[2] जीवन दु ख की निधि है, जीवन ही विषम ज्वर है। जीवित व्यक्ति के लिए दु.खो का आवागमन अवश्यम्भावी होता है।[3] जीवन मे कर्म के अनुसार सुख और दु ख की प्राप्ति होती है। कर्म को ही समस्त कारणो एव सुख दु ख के साधनो का मूल प्रयोजन के रूप मे समादृत किया गया है।

कर्म

जगत् मे सर्वत्र जो विषमता दृष्टिगोचर होती है, इसकी दार्शनिक समीक्षा करने पर भारतीय ऋषियो ने कर्म सिद्धान्त को ही इसका एक मात्र कारण माना है। आत्मा अज, नित्य पुरातन तथा सत्य वस्तु है। इसके लिए न तो जन्म है, न मृत्यु, न उत्पत्ति और न विनाश। तथापि पुन पुनः शरीर से उसका सयोग एव वियोग होता है। पूर्वजन्म मे उसने जिस प्रकार के कर्म किये है उसी के फल से उसके वर्तमान जन्म की प्रकृति और भोग नियमित हुए है। सुकृत कर्मो के फल से वह सुखी होता है और बुरे कर्मो का फल उसे दुःख देता है।

इसी कारण महर्षि व्यास ने महाभारत मे प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार हजारो गायो मे बछडा अपनी माता को ढूँढ लेता है उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्त्ता का अनुसरण करते है।[4]

राम के अनुसार यह ससार शुभाशुभ कार्य करने एव उसका फलाफल भोगने की कर्म भूमि है। कोई भी व्यक्ति अपने अपने कर्मों के परिणाम से मुक्त नही हो सकता।[5] कर्म-सिद्धान्त कार्य-कारण-सिद्धान्त का ही अनुगमन करता है। जो जैसा कर्म करेगा वैसा ही उसे फल मिलेगा।[6] कर्म करने वाले को अधर्म के फल का भागी भी वैसे ही बनना पडता है, जैसे धर्म के फल का। धर्माचरण अधर्माचरण को निष्फल नही कर सकता। दोनो का फल अवश्यम्भावी है।[7] कर्म सिद्धान्त[8] मनुष्यो के दु.ख सुख का, उनके भाग्य

---

१. बुद्ध चरित—३, ३०.
२. वही—३, ३६.
३. महाभारत—आदिपर्व, १५७, २१.
४. वही—शान्तिपर्व, १८१, १६.
५. रामायण—युद्धकाण्ड, ६४, ७.
६. वही— १५, २३.
७. वही—अयोध्याकाण्ड, ६३, ६.
८. वही—अरण्यकाण्ड, ६३, ४.

वैषम्य का एक तर्कसगत स्पष्टीकरण प्रस्तुत करता है। राम ने स्वीकार किया है कि स्वजनो से वियोग, पिता का मरण, पत्नी का अपहरण आदि आपत्तियो की परम्परा पूर्व जन्म के पापो का परिणाम ही है।

इसी प्रकार लङ्का मे वन्दिनी सीता ने अपने दारुण कष्ट को[1] एव कैकेयी के निर्मम वरदानो से होने वाले कष्ट को दशरथ ने[2] जन्मान्तर कृत अशुभ कर्म का ही परिणाम माना है।

यदि पाप कर्म कर्ता के लिए दु ख एव यातनाओ के कारण बनते हैं तो शुभ कर्म उसकी सुख एव समृद्धि के प्रदाता। अयोध्या की महिलाओ के अनुसार सीता का राम की हृदयेश्वरी बनने का रहस्य पूर्व जन्म मे किया हुआ उनका कोई महान् तप था।[3]

मनुष्य का कोई भी कर्म, चाहे अज्ञान वश ही क्यो न किया गया हो निष्फल नही जाता। कर्मो के आरम्भ मे जो मनुष्य उनके फल की गुरुता लघुता, अथवा दोष पूर्णता का मूल्याङ्कन नही कर पाता, वह सर्वथा मूर्ख कहलाता है।[4]

जो व्यक्ति कार्य कारण के सिद्धान्त को बिना सोचे समझे कर्म करने के लिए व्यग्र हो उठता है, वह फल प्राप्ति के समय वैसे ही दु खी होता है जैसे आम के वृक्षो को काटकर पलाश वृक्षो को सीचने वाला।[5]

कर्म-फल की प्राप्ति के लिए जन्म एव मरण की शृ खला अनिवार्य है अतः एव जीव के लिए पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकृत किया गया है। वाल्मीकि ने सर्वत्र पर-लोक के अस्तित्व को स्वीकार किया है तथा उसकी प्राप्ति सदाचारी जीवन से ही सम्भव मानी है। राम की श्रद्धा थी कि धर्म सनातन है और आत्मा शाश्वत है, अत धर्मात्मा राजा दशरथ अवश्य ही स्वर्ग मे पहुचेगे।[6]

किन्तु स्वर्ग मे निवास स्थायी नही होता। पुण्यसक्षय होने पर प्राणी स्वर्ग से च्युत होकर पुन· मर्त्यलोक मे आता है। क्षीण पुण्य ग्रहो के पृथ्वी पर गिरने के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[7]

---

१. रामायण--सुन्दर काण्ड, २५, १८
२ वही-अयोध्या काण्ड, १२,७६
३. वही-१७, ४१
४. वही-६३,७.
५. वही-६३,६
६. वही-१०५,३६
७ वही—उत्तर काण्ड १४, २२.

ऋषियो द्वारा प्रदत्त शाप भी कर्म-सिद्धान्त–'अपराधी को अपने किये का फल प्राप्त करने का ही दृष्टान्त उपस्थित करते हैं।

व्यास जी के अनुसार जो कोई व्यक्ति जिस जिस शरीर से जिस जिस कर्म को करता है उसी के द्वारा वह उसका फल भोगता है। आत्मा ही आत्मा का बन्धु एव शत्रु है, सुकृत अथवा दुष्कृत का आत्मा ही साक्षी है।[1]

कर्म-वाद मे लोगो की यह दृढ धारणा एव दैव-विधान मे उनको यह अटल आस्था जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण को निराशामय बनाने मे सहायक हुई। विद्वान् मनीषियो ने अपने लौकिक आदर्शो का मर्त्य जीवन की क्षण भगुरता को प्रगाढ अनुभूति पर आधारित किया। साथ ही जन साधारण के जीवन के सुखी, सन्तुष्ट एव समस्त सम्भव सुविधाओ से युक्त होने के कारण लोगो के दृष्टिकोणो का जीवन के प्रति उज्ज्वल एव आशामय होना स्वाभाविक है। यद्यपि ससार का त्याग और तपो-निरत जीवन भारतीयो के निराशामय दृष्टिकोण के ही परिणाम रहे हैं तथापि उद्योग शीलता, और जीवन को अधिकाधिक श्रेष्ठ बनाने की लालसा आर्यो का एक प्रमुख स्वर रही है। आध्यात्मवाद से प्रेरित होने पर भी वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम निर्वेद एव खेद से उद्-भूत नही थे। जीवन के समस्त अगो का पूर्ण ध्यान रखकर ही सुविचारित जीवन योजना के फलस्वरूप ही उनका सृजन हुआ था।

शकुन

शुभ अथवा अशुभ शकुन कार्य सिद्धि का पूर्व परिचायक होता है। ग्रहो के शुभाशुभ फल, स्वप्न, अपशकुन तथा उत्पात काक तालीय न्याय से फल प्रद होते हैं। ये शकुन अथवा अप शकुन कायरो के हृदय को विक्षुब्ध कर देते हैं परन्तु प्राज्ञ इससे भयभीत नही होते।[2]

कल्याण मूर्ति कामधेनु की पुत्री नन्दिनी को स्मरण करते ही आयी हुई जान-कर कार्य सिद्धि के निकट वर्तिनी होने का परिचय प्राप्त हुआ—

> "अदूरवर्तिनी सिद्धि राजन् विगणयात्मनः।
> उपस्थितेय कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत्।"[3]

---

१. महाभारत–स्त्री पर्व, २,३४-३६, तथा--वही--अनुशासनपर्व, १,७४-७५, तथा वही--शान्तिपर्व, ३२२, १०-१६

२. वेणी संहार—२, १४

३. रघुवश—१,८७

अपशकुन

घडे के समान ऊधवाली गायो का विवर्ण,नीरस एव थोडा दूध देने वाली होना तथा अग्नि मे पर्याप्त इन्धन होते हुए भी उचित प्रकार से प्रदीप्त न होना आदि भावी आपत्ति की सूचना देते हैं।[1]

प्रयाण करते समय गृध्र का मस्तक के पास निलीन होना, कौवे का क्रूरता पूर्वक शब्द करना, आकाश से रक्त के समान कुछ बहना,एव पृथिवी तल का कम्पन आदि महान् अनर्थ के द्योतक माने जाते है—

> "निलिल्ये मूर्ध्नि गृध्रोऽस्य क्रूरा ध्वाक्षा ववाशिरे ।
> शिशीके शोणित व्योम चचाल क्ष्मातल यथा ।"[2]

नकटे अथवा कनकटे अङ्ग भङ्ग व्यक्तियो को यात्रा के समय आगे रखना महान् अपशकुन का सूचक होता है।[3] किसी मुहूर्त मे यात्रा करना अमङ्गल कारी माना जाता है। विन्द नामक मुहूर्त मे यात्रा करने वाला व्यक्ति काँटे को पकडकर जाल मे फँसी हुई मछली की तरह नष्ट हो जाता है—

> विन्दो नाम मुहुर्तोऽसौ न च काकुत्स्थ सोऽबुधत् ।
> झषवत् बडिष गृह्य क्षिप्रमेव प्रणश्यति ।"[4]

इसीलिए दैनिक जीवन मे मुहूर्त शास्त्र अथवा ज्योतिष का बडा महत्व रहा है। स्वस्त्ययन के द्वारा मुहूर्त को मङ्गल मूलक बनाये जाने की प्राचीनकाल से भारतीय परम्परा रही है। जल से भरे घट, वृषभ-शृङ्ग समृद्धि और मगल के सूचक रहे है।

सुख

ससार मे जो भोग एव सुख है और जो परलोक का दिव्य महान् सुख है, ये दोनो सन्तोष रूप सुख की सोलहवी कला के समान भी नही है —

> "यच्च काम सुख लोके यच्च दिव्य महत्सुखम् ।
> सन्तोष सुखस्यैते नार्हत. षोडशी कलाम् ।"[5]

---

१. भट्टी काव्य—१२,७३
२. वही—१४, ७६
३. रघुवश—१२, ४३
४. रामायण—अरण्य काण्ड, ६८, १२—१३
५. महाभारत--शान्तिपर्व, २७६,६

असङ्ग अथवा निर्लिप्तता ही कल्याण का मूल है। —श्रेय सम्बन्धी अर्थात् क्रम सम्बन्धी ज्ञान ही उत्कृष्ट ज्ञान है, एव आचरण किया हुआ तप—ये तीनो वैसे ही नष्ट नही होते जैसे खेत मे डाला हुआ बीज नष्ट नही होता।[1] वस्तुओ का सग्रह, अथवा परिग्रह को वृद्धि दु,ख मे युक्त है, मर्यादित सग्रह सुख का कारण है। सग्रह परिग्रह तो दूसरो के काम आते हैं परन्तु त्याग अपना हित साधन करता है।[2] अपनी आत्मा मे रमण करने वाला, किसी की अपेक्षा न रखने वाला, मास भोजन न करने वाला, तथा अपने ही आश्रित रहने वाला व्यक्ति सदैव सुख का भोग करता है।[3] मन को शान्त रखने वाले, निन्दा न करने वाले एव सतत स्वाध्याय शील पुरुष दु खो के पार हो जाते हैं।[4]

पृथ्वी पर जिस प्रकार तृण अनायास ही उत्पन्न होते हैं एव धान्य प्रयत्न करने पर अकुरित होते हैं, इसी प्रकार दु ख विना यत्न के एव सुख यत्न करने पर प्राप्त होते है अथवा नही भी होते।[5] दु·ख का अभाव सुख नही कहा जाता। कुछ दार्शनिको की यह धारणा है कि विना दुःख का भोग किये सुख भोग नही किया जा सकता। सुख का आत्यन्तिक भोग करते करते एक दिग सुख से भी अरुचि हो सकती है इसमें सन्देह के लिए कोई अवकाश नही।

इन्द्रिय सुख निन्दा के विषय नही होते परन्तु शारीरिक सुखो मे अधिक अभिरुचि होना श्रेयस्कर नही। भौतिकता एव शरीरोपासना ने भारत के आध्यात्मिक जीवन को बडी भारी क्षति पहुचाने की दिशा मे कार्य किया है। उच्चतम धरातल मानव के लिए आध्यात्मिक धरातल है।

आध्यात्म की अनुभूति परिमाण मे अपरिमित होती है और वह स्वय को असख्य रूपो मे व्यक्त करती है।

भारत की परम्परागत यह धारणा रही है कि वेदो के समान ही धर्म भी अपौरुषेय है। यह किसी विशिष्ट काल में किसी विशिष्ट व्यक्ति के द्वारा प्रवर्तित नही किया गया, यह तो सनातन है जो अनादि काल से चला आ रहा है तथा संसार के सभी मनुष्यो को उस सन्मार्ग पर ले जाता है जिस पर चलने से उनके लोक एवं परलोक दोनो अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। यह सनातन धर्म विश्वजनीन, सार्वभौम एवं सार्वकालिक है।

---

१. महाभारत-शान्तिपर्व—२६८,३
२. वही—२९८, २०
३. वही—३३०, ३०
४. वही—अनुशासन पर्व, ३१,२९
५. सौन्दर नन्द—९ ३९

इसी धर्म की उपासना ने इस भारत भूमि को धर्म भूमि बनाया है, जिसमे जन्म ग्रहण करने के लिए देव गण भी लालायित रहते हैं।

ससार के दु.खमय जीवन से विरक्ति का प्रदर्शन करते हुए भविष्य के प्रकाश एव आनन्दमय अवस्था के मार्ग मे अग्रसर कर क्रमश ज्ञान के विकास के साथ ही साथ परमानन्द का आभास दिलाना ही धर्म एव दर्शन—दोनो का चरम लक्ष्य माना गया है। ऋषियो की ये अनुभूतियाँ व्यक्तिगत होने के कारण भिन्न भिन्न होती हैं। ये विभिन्न दृष्टिकोण से अनुभूत हैं। परन्तु है तो सभी एकमात्र परम तत्व के सम्बन्ध की, अतएव इनको समन्वय की दृष्टि से देखने मे इनमे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि एक दर्शन दूसरे दर्शन से भिन्न नही है और न ऐसा होना उचित ही है। दो दशन कभी भी एक मत का प्रतिपादन नही करत। स्थूल दृष्टि वालो को दर्शनो मे जो परस्पर विरोध प्रतीत होता है उसका पहला कारण है समझने वाले का अज्ञान और दूसरा है दृष्टिकोण का भेद। तत्वत. ये एक दूसरे के साथ सम्बन्वित एव सामञ्जस्य पूर्ण है।

ज्ञान की प्राप्ति के लिए कर्म की आवश्यकता है। बिना पवित्र कर्म के अन्तःकरण की शुद्धि नही हो सकती और ज्ञान की प्राप्त भी इसी कारण व्यवहित रह जाती है यही कारण है कि नैतिक आचरण एव कर्तव्य निष्ठ आदर्श जीवन पर भारतीयो का विशेष अभिनिवेश रहा है। संसार मे आज भी इसी बहुमूल्य विचार धारा के लिए भारत का मस्तक ऊँचा रहा हैं।

उपसंहार

नीति कविता मे युग दर्शन

नीति कविता तत्कालीन युग की भारतीय विचारधारा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व करती रही है। इसमे भारतीय धारणाओ, मान्यताओ उद्भावनाओ एव दर्शन के जिन उदात्त तत्वो का दिग्दर्शन कराया गया है तथा मनोविज्ञान के आधार पर मानवता के विकास का जो चित्र अ कित हुआ है, उसके अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के मार्ग दर्शक ऋषि महर्षि मानव के कल्याण के लिए जिन विचारो का प्रतिपादन करना चाहते थे उनका सवलित स्वरूप ही नीति के रूप मे आज उपलब्ध होता है। नीति कविता का निर्माण युग की विचारधारा एव प्रगतिशील भावनाओ को लक्ष्य मे रखकर किया गया है तथा उसमे प्राचीन विद्वानों ने अपने परिपक्व अनुभव एव आदर्शात्मकता के प्रौढ उपादानो का उपयोग किया है।

मानव जीवन के गहनतम विचारो का चरम विकास दिखाते हुए जीवन के शाश्वत सत्यो का उद्घाटन कर नीति कवियो ने भारतीय आदर्श के प्रेय एव श्रेय—दोनो रूपो मे प्रतिष्ठित किया है। यही कारण है कि इसमे युग की प्रवृत्ति एव प्रेरणाओ का सम्यक् निरूपण करते हुए भारतीय जीवन के बद्धमूल विचारो का चरम विकास पूर्णतया अ कित हुआ है।

धर्मशास्त्र के द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्त शाश्वत एव अपरिवर्तन शील होते हैं तथापि काल क्रम के अनुसार उनमे परिवर्तन का आना सहज सम्भाव्य होता है। परिवर्तन ही जीवन मे निसर्ग-सिद्ध सत्य है। परिवर्तन शील ससार मे नैतिक सिद्धान्तो का परीक्षण कर समयानुसार उनमे परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव न किया जाय, यह सर्वथा असम्भाव्य है। सनातन धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धा एव आस्था रखते हुए समाज की परिस्थितियो एव विचारधाराओ का अनुसरण कर भारतीय विद्वानो ने उनमे सामञ्जस्य स्थापित करने का पूर्ण प्रयास किया है। जब जब समाज मे नैतिक नियमो के परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव किया गया उसी के साथ ही साथ प्रज्ञाशील भारतीय मनीषियों के उनमे यथावसर परिवर्तन एव परिवर्धन के द्वारा युग की सामाजिक प्रवृत्तियों एव मान्यताओ के समन्वय को स्थापित कर अपनी प्रगतिशील एव उदार मनोवृत्ति का परिचय दिया है। यही कारण है कि नैतिक सिद्धान्तो के शाश्वत होते हुए भी विकास

क्रम मे उनमे यथोचित परिवर्तन होता रहा है। 'युगधर्म' एव 'आपद्धर्म' की समाज मे स्वीकृति इसी तथ्य को प्रमाणित करती है। वेद की विभिन्न शाखाओ के अध्ययन काल के क्रम मे जो अन्तर परिलक्षित होता है, वह देश अथवा काल की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर ही किया गया होगा।

इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि आर्थिक व्यवस्था का सामाजिक अथवा नैतिक जीवन पर प्रभाव पडे बिना नही रह सकता। सामाजिक अवस्थिति मे यथावसर जो अन्तर दृष्टिगोचर होते रहते है, वे सब इस तथ्य की ही पुष्टि करते है। वैदिक युग मे पूर्ण वयस्क होने पर ही विवाह को उचित एव हितकर माना गया है। परन्तु स्मृति-ग्रन्थ विवाह का समय वयस्कता-प्राप्ति से पूर्व ही निर्धारित करते हैं वैदिक युग के आह्निक यज्ञ यागादि धार्मिक कृत्यो को वर्तमान युग के लिए स्मृतिकारो ने अनुपयुक्त एव अव्यावहारिक मानकर उसका प्रतिषेध किया है।

पूर्ववर्ती स्मृतिकारो का जहा उदार एव स्वातन्त्र्य के अनुकूल दृष्टिकोण दृष्टिगोचर होता है वहा परवर्ती स्मृतिकारो ने स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास किया है। उदाहरण के लिए परवर्ती नीतिकारो ने मानव जाति के पतन एव वर्तमान युग के समाज की नैतिक अवनति का ढिढोरा पीटते हुए युग युगान्तरो से प्रचलित अन्तर्जातीय विवाह, प्रथा का विरोध किया है। महाभारत[1] मे युग धर्म का प्रतिपादन करते हुए महर्षि व्यास ने वर्तमान युग के नैतिक पतन की ओर सकेतकिया है, जो इस तथ्य को प्रमाणित करता है।

परिवार ही भारतीय समाज की आधार शिला है। अतएव सामाजिक जीवन मे प्राण रूप से प्रतिष्ठित नैतिक मान्यताओ एव उनके विकास क्रम मे आने वाले परिवर्तनो पर दृष्टिपात करना यहा समीचीन प्रतीत होता है।

मनु एव अन्य स्मृतिकारो ने आठ प्रकार के विवाहो का प्रतिपादन किया है, कुछ तो अति प्राचीन एव असभ्य समाज के निम्न नैतिक आदर्शो के परिचायक हैं। क्रमशः सभ्य समाज के द्वारा किये गये विरोध एव अवमान के कारण ब्राह्म एव आसुर के अतिरिक्त सभी विवाह विस्मृति के गर्त मे अन्तर्हित हो गये। आसुर विवाह को भी स्मृतिकारो ने अनैतिक एव सर्वथा हेय बताया है।

---

१. महाभारत—वन पर्व, १४६ अध्याय, तथा वही—शान्ति पर्व, ६६ अध्याय तथा वही—भीष्म पर्व, १० अध्याय।

बहुपत्नी प्रथा के धर्म शास्त्र के नियमानुकूल होने पर भी एक पत्नी व्रत का आदर्श सदा मे अक्षुण्ण एव सवथा श्लाघनीय माना जाता रहा है। पूर्ण वयस्कता प्राप्ति के अनन्तर ही कन्या के विवाह का उल्लेख वेद मन्त्रो मे स्थान स्थान पर मिलता है। अनुसूया के समक्ष सीता ने[1] भी अपनी विवाह योग्य अवस्था को जनक की चिन्ता का कारण बताया है। सीता तथा उसकी अन्य वहिनो का विवाह के अनन्तर ही अपने अपने पतियो के साथ रमण करना[2] उनकी युवावस्था को प्रमाणित करता है। क्रमश सूत्र एव स्मृति काल मे उनके विवाह की आयु मे पर्याप्त परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। स्मृतिकार प्राय॰ वयस्क होने से पूर्व ही कन्या के विवाह के पक्षपाती हैं। सम्भवतः नारी जाति के सामाजिक स्तर के क्रमिक ह्रास एव बढते हुए पुरुष के सर्वतोमुखी प्रभुत्व के कारण अथवा वश एव गोत्र की सीमाओ मे योग्य एव उपयुक्त वरो की दुर्लभता के फल स्वरूप कन्याओ के द्वारा स्वय वरण की स्वतन्त्रता के उपयोग से आशकित होकर ही बाल विवाह को प्रोत्साहित किया गया होगा।

सपिण्डा के साथ विवाह का विरोध करते हुए मनु एव अन्य स्मृतिकारो ने पिता एव माता से सात सात पीढियो मे विवाह का निषेध किया है। याज्ञवल्क्य ने पिता से सात एव माता से पाच पीढियो मे विवाह को प्रतिषिद्ध बताया है। पैठीनसी ने उसके साथ और उदारता को प्रदर्शित किया। उन्होने पिता से पाँच तथा माता से तीन पीढियो मे ही विवाह को निन्दनीय कहा है।

तपश्चर्या के आदर्श को प्रथम देते हुए विधवा विवाह को गर्हणीय कहा गया है। परन्तु कोटिल्य के अर्थशास्त्र मे विधवा विवाह को न केवल स्वीकार ही किया गया है अपितु उसकी सम्पत्ति के अधिकार की व्यवस्था का भी उसमे विवेचन किया गया हैं। एक ओर जहाँ मनु ने विधवा विवाह को अनुचित एव असगत माना है वहा दूसरी ओर नारद एव याज्ञवल्क्य ने विधवा के पुन विवाह करने के अधिकार को स्वीकार किया है।

नीति सम्बन्धी तथ्यो के सिंहावलोकन करने पर यह कहा जा सकता है कि भारत के निवासियो का जीवन एक सुदृढ सामाजिक व्यवस्था पर आधारित था, जिसमे जन सामान्य वर्णो एव आश्रमो मे विभक्त होते हुए भी, सहयोग एव सौहार्द के तन्तुओ से परस्पर आवद्ध था। इस समाज मे व्यक्ति अपने जीवन का प्रथम चरण अनुशासन पूर्वक शास्त्रीय एवं व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करने मे व्यतीत कर जीवन के दूसरे सोपान-

---

१. रामायण—अयोध्याकाण्ड, ११८, ३४. २. वही—बालकाण्ड, ७७,१३.
३. नारद स्मृति—१२, ६७. ४. याज्ञवल्क्य स्मृति—१, ६७.

वैवाहिक जीवन मे प्रविष्ट होता था । यौवन के सुखो एव दायित्वो का पूर्ण निर्वाह करते हुए भद्र नागरिक के समान जीवन व्यतीत कर वृद्धावस्था मे सासारिक प्रवृत्तियो से विरत हो वह एकमात्र अध्यात्म चिन्तन मे लीन हो जाता था ।

आर्यों की इस सामाजिक व्यवस्था मे अपनी बौद्धिक एव आध्यात्मिक योग्यता के कारण ब्राह्मणो, न्याय एव परम्परा के अनुसार राष्ट्र की रक्षा एव शासन सचालन करने वाले क्षत्रियो, वाणिज्य एव पशु पालन द्वारा राष्ट्र की समृद्धि मे योगदान करने वाले वैश्यो, तथा अन्य वर्णों की सर्वभाव से सेवा करने वाले शूद्रो का असाधारण सम्मान था। वर्ण परिवर्तन दुष्कर होते हुए भी उस काल मे असम्भव नही था ।

संयुक्त पारिवारिक व्यवस्था मे कुछ कठिनाइयो के होते हुए भी अपने स्नेह एव सहयोग के सहारे तथा अतीत की परम्पराओ का पालन करते हुए उनसे मुक्त होना सहज था । आत्म त्याग का अपूर्व आदर्श पारिवारिक जीवन को आधार शिला रहो है ।

वैवाहिक व्यवस्था मे उदारता एव अनुदारता, आदर्श वादिता एव व्यावहारिकता का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है । विवाह एक मात्र शारीरिक सुख के लिए न होकर वश प्रवर्तन का रुचिर आदर्श प्रस्तुत करता था । वैवाहि बन्धन इहलोक एव परलोक दोनो मे अटूट एव अभेद्य था ।

बहु विवाह प्रथा के कारण यदा कदा पारिवारिक संघर्ष के दर्शन होते हैं पर साथ ही एक पत्नी व्रत का महान् आदर्श भी अत्यन्त श्लाघनीय एव अनुपेक्षणीय रहा है। एक सयत एव शिष्ट दाम्पत्य जीवन, जिसमे वशवृद्धि की प्रबल भावना का समावेश हो तथा धर्म, समाज एव कर्तव्यो का ध्यान सदैव रहता हो,त्रिवर्ग प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन माना जाता है ।

अप्रतिम सौन्दर्य एवं एक निष्ठ पातिव्रत्य आदर्श पत्नी का मान दण्ड है। पत्नी के रूप मे उससे पति के प्रति अलौकिक निष्ठा, मन, वचन, कर्म एव शरीर से अव्यभिचारिता तथा उसी के प्रिय और हित मे सलग्न रहना आदि नितान्त अपेक्षित था। स्वभाव एव शरीर की दुर्बलता के कारण नारी को "अस्वतन्त्र" कहा गया है । कौमार्य मे पिता, यौवन मे पति, तथा वार्धक्य मे पुत्रो पर वे सदैव आश्रित रहती थी । पारलौकिक कल्याण के लिए पुरुष की सन्तान प्राप्ति की इच्छा ने दारोपग्रह को आध्यात्मिक एव धार्मिक दृष्टि से एक अनिवार्य आवश्यकता बना दिया । एक साध्वी, पति परायणा एव चरित्र धना नारी को, जो श्रद्धा एव स्नेह प्राप्त था, वह अलोक सामान्य था, जो नारी के सम्मान एव गौरव पूर्ण स्थान की ओर सकेत करता है ।

आर्यो के जीवन मे सदाचार एव नैतिकता की ओर विशेष आग्रह रहते हुए भी जीवन के भौतिक पक्ष के प्रति उपेक्षा एव अनादर का भाव दृष्टिगोचर नही होता। विविध पक्षो से समन्वित जीवन ही वास्तविक जीवन है, जिनमे से एक पक्ष की भी अवहेलना करना उसकी पूर्णता मे बाधा पहुँचाना है। प्राचीन भारतीयो ने दार्शनिक एव अती-न्द्रिय चिन्ताओ मे जितना उत्कर्ष प्राप्त किया था उतने ही वे लौकिक व्यवहारो मे एवं सुख भोगो की लालसा मे आगे बढे चढे थे। बहुमूल्य खानपान, सुरा, मास आदि से वञ्चित न रहते हुए भी वे आध्यात्मिक जीवन के हेतु सयम को उचित और आवश्यक महत्त्व प्रदान करते थे।

देश मे सुशासन जन्य आर्थिक सुव्यवस्था एव व्यापार आदि की समुन्नत स्थिति के फल स्वरूप जहाँ प्रजा के लिए जीवन की सुख सुविधाएँ प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध थी वहाँ नगर वासियो मे एक उदात्त नागरिकता के दर्शन भी अनायास ही हो जाते है।

प्राचीन भारत मे शिष्टाचार स्नेह पूर्ण आतिथ्य, सौहार्द पूर्ण व्यवहार, भद्र एव सज्जनोचित मधुर वार्तालाप, परोपकार, तत्परता, अपराधो के लिए क्षमा याचना आदि विशिष्टताओ से आप्लावित था।

आश्रम व्यवस्था प्राचीन भारतीय जीवन की आधार शिला थी। आश्रम ही गुरु के शिक्षणालय थे तथा गुरु का प्रचुर सम्मान था। श्रद्धापूर्वक उसकी आज्ञा के अनु-पालन को शिष्य के कर्तव्यो मे प्रमुखता दी जाती थी। शिक्षा की व्यवस्था मानव के व्यक्तित्व की बौद्धिक, नैतिक, भौतिक एव आध्यात्मिक आवश्यकताओ की परिपूर्ती करने मे सक्षम थी।

जीवन विषयक समस्त धारणाएँ धर्म एव नीति के उदात्त भावो से अनुप्राणित थी तथा सत्य और सदाचार के प्रति एकान्तिक निष्ठा एव विश्वास आर्यो के जीवन का उच्चतम आदर्श था।

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि भारतीय वाङ्मय मे सार्वकालिक महत्त्व एव शाश्वत आदर्शो के तत्त्व पूर्णतया विद्यमान है। भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच मे सन्तुलन रखने के कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे भारतीय निरन्तर विकास शील रहे, इससे प्राय: सभी परिचित है।

अनीति का दमन, नीति का उन्नयन पशुता का विरोध, मानवता का प्रवर्धन, सुखी गार्हस्थ्य जीवन एव सुव्यवस्थित समाज व्यवस्था आदि आदर्श भारतीय जीवन में

पूर्णतया सुप्रतिष्ठित रहे हैं। सदाचार, धर्म परायणता, निष्कपटता, न्याय प्रियता, वैभव, सुख एव सन्तोष के प्रति पूर्ण आस्था तथा वर्ग द्वेष, अशान्ति, कोलाहल, अपराध, शासक वर्ग के असन्तोष आदि का पूर्ण अभाव इस-वैज्ञानिक युग मे भी एक अनुकरणीय आदर्श के रूप मे प्रतिष्ठित किये जा सकते हैं।

नीति कविता में जीवन सन्देश

विश्व के प्राय. सभी वाङ्मय युग युग की सचित सम्पत्ति के भण्डार होते हैं। उनका निर्माण मानव जीवन का आधार होता है तथा उनका उद्देश्य दुर्बल, पतित एव आपत्तिग्रस्त मानवता को सशक्त, उन्नत एव आनन्दमय बनाना होना है। यही कारण है कि प्रत्येक काव्य मे मानव मात्र के लिये जीवन सन्देश अन्तर्निहित होता है और वे काव्य उस सन्देश के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का पथ प्रदर्शन करते हुये मानव जीवन को कल्याण मय बनाने का प्रयत्न करते हैं।

विश्व के अन्य काव्यो के समान भारतीय नीति कविता ने भी मानव मात्र के लिये जीवन सन्देश प्रस्तुत किये है। नीतिकारो की यह धारणा रही है कि दुखो से सत्रस्त होकर ससार से भागने की आवश्यकता नही। यह दुख तो ईश्वर का रहस्यमय वरदान हैं। दुख और सुख का तो रात और दिन की तरह आवागमन होता रहता है। अत दु.खो की चिन्ता न करते हुये अपने विकास के पथ पर प्रगतिशील होते रहना चाहिये, जो अनन्त सुखो का भण्डार है। भारतीय नैतिक आदर्श विश्व के मानव को कर्मण्यता एव कर्तव्यनिष्ठा का सन्देश देते हैं तथा यह भी प्रतिपादित करते हैं कि निरन्तर कर्मशील रह कर ही मानव मगलमय जीवन का विकास करता हुआ अखण्ड सुख एवं समृद्धि का स्वामी बन सकता है। वह दुर्बलता से मुक्ति पाकर शक्ति के समस्त बिखरे तत्त्वो को सचित कर मानवता की कीर्ति पताका को सर्वत्र प्रसरण शील कर सकता है। भौतिक सुखों की सकुचित भावना को त्याग कर आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के लिये परोपकार, सेवा परायणता, धर्म निष्ठता आदि के एव प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, आध्यात्मिकता एव भौतिकता आदि युग्मो के सतुलित समन्वय द्वारा जीवन यापन करना न केवल श्रेयस्कर ही है अपितु मानव के विकास की वह चरम परिणति है। वस्तुतः ससार के नाना प्रकार के सकटो, भौतिक बाधाओ एव दु:खो से पीडित विश्व को भारतीय मनीषियो ने आनन्द प्राप्ति का आशामय सन्देश दिया है।

निष्कर्ष

अन्त मे समग्र अध्ययन के आधार पर कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किते जा सकते हैं। नैतिक एव आध्यात्मिक क्षेत्र मे विश्व को भारत की जो मौलिक देन है उसे समस्त सभ्य

ससार ने मुक्त कण्ठ मे स्वीकृत एव समादृत किया है। भारतीय समाज मे नीति के प्रधान विषयो के सम्बन्ध मे प्राचीन काल से ही कुछ सुनिश्चित दृष्टिकोण चले आ रहे हैं तथा वे आज भी प्राय: उसी रूप एव मात्रा मे मान्य है। भारत की सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था के विकास के साथ ही साथ दृष्टिकोण मे कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होता हैं, परन्तु उनको बहुत कम उपलब्धियाँ इतनी निश्चित हो सकी हैं, जो व्यवहार, आचार एव धर्म अथवा अन्य विषयपरक नीतियो के रूप मे मानव जीवन को प्रभावित कर सकें।

नीति धारा के परम्परागत अनुभवो पर आधारित होने के कारण जीवन के लिये उसकी उपयोगिता किसी प्रकार कम नही। नैतिक आदर्श परस्पर विरोधी होते हुये भी अपने अपने स्थान मे सत्य प्रतीत होते हैं, अत प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह सर्वथा अपेक्षित है कि वह विवेक के साथ परिस्थिति, स्थान, देश, काल एव व्यक्ति के सन्दर्भ मे उन्हे समझ कर उनका अनुसरण करे। अन्धानुसरण करना कदापि लाभप्रद नहीं माना जा सकता। युग की आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्तन का स्वागत करते हुये ऐसे समाज के निर्माण की आवश्यकता है, जिसमे मनुष्य अपना पूर्ण विकास कर सुख और समृद्धि का जीवन यापन कर सके तथा महर्षि व्यास की यह उक्ति-"अन्य स्थानो पर कल्प को आयु पाने की अपेक्षा भारत मे क्षण भर भी जीना श्रेयस्कर है" पूर्णतया चरितार्थ हो सके।

कल्पायुषा स्थान जयात् पुनर्भवात्।
क्षणायुषा भारतभूजयो वरम्।